उपनिषदों की वाणी

आधुनिक चिन्तन और आवश्यकता की दृष्टि से
उपनिषदों की व्याख्या

स्वामी रंगनाथानन्द

मीनाक्षी प्रकाशन
मेरठ नयी दिल्ली

मीनाक्षी प्रकाशन
बेगम पुल, मेरठ ।

●

4-अन्सारी रोड, दरियागंज,
नयी दिल्ली ।

प्रथम संस्करण

मीनाक्षी मुद्रणालय मेरठ में मुद्रित ।

प्रकाशक की ओर से

स्वामी रंगनाथानन्द रामकृष्ण मिशन के जाने-माने विद्वान् संन्यासी हैं। 1926 में जब वह केवल 18 वर्ष के थे उन्होंने इस मिशन में प्रवेश किया और 1933 में वह संन्यासी हो गये। रंगून, कराची, दिल्ली और कलकत्ता जैसे स्थानों पर मिशन के कार्य को वर्षों तक प्रवाह देने के बाद आजकल वह हैदराबाद में मिशन का कार्य देख रहे हैं। भारत सरकार की ओर से कई बार विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रचारार्थ जा चुके हैं और प्रत्येक वर्ष नेशनल एकेडमी ऑव एडमिनिस्ट्रेशन मसूरी में हमारे भावी प्रशासकों को भारतीय संस्कृति में दीक्षित करने जाते रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक स्वामी जी के उन भाषणों और लेखों से उद्भूत हुई है जो उन्होंने समय-समय पर भारतीय संस्कृति और उपनिषदों पर दिये। उसी के बाद स्वामी जी ने 'द मैसेज ऑव द उपनिषद्' पुस्तक प्रकाशित करायी जिसके अंग्रेजी में दो संस्करण निकल चुके हैं। प्रस्तुत 'उपनिषदों की वाणी' का आधार वही पुस्तक है।

हमारी संस्कृति का आधार उपनिषद् हैं। उपनिषदों में वे तत्त्व विद्यमान हैं जिन्होंने आदिकाल के शुरू से आज तक हमारे इतिहास का निर्माण किया है। जब-जब हमारा राष्ट्र उस पथ को भूला, उपनिषदों की शिक्षा से विमुख हुआ, तब-तब ही हमने ठोकरें खायीं। जैसा स्वामी जी की पुस्तक से स्पष्ट होगा उपनिषदों के मूल वाक्यों को पढ़ लेना ही काफी नहीं है। यह तो मनन करने और अपने जीवन में उतारने की चीज़ है।

उपनिषदों को शुरू करने से पहले स्वामी जी ने उपनिषदों के ऋषियों के दृष्टि-कोण को समझाया है। स्वामी जी ने स्पष्ट किया है कि उपनिषदकारों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक तथा यथार्थवादी था। इसीलिए उपनिषदों ने कहा : यह सत् नहीं, वह सत् है; इन्द्रिय नहीं, मन, प्राण, आत्मा सत् है। उपनिषदों के इस दृष्टिकोण को काल्पनिक नहीं कहा जा सकता बल्कि कहना चाहिए कि इस यथार्थवादी दृष्टिकोण के सामने भौतिकवादी और अध्यात्मवादी दोनों विचारकों को सिर झुकाना पड़ता है।

स्वामी जी ने उपनिषदों की शोध को आज के विकसित विज्ञान की तराजू में तोला है। विज्ञान कहता है—जो नियम परमाणु में काम कर रहे हैं वही नियम सौर मण्डल में काम कर रहे हैं। उपनिषद् का ऋषि भी यही कहता है—जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वही कुछ पिण्ड में है। ब्रह्माण्ड और पिण्ड इन दोनों की एकात्मता को समझ लेना ही उपनिषद् को समझ लेना है। जिसने यह बात समझ ली उसके लिए उपनिषदों में फिर कुछ उलझन नहीं रहती। स्वामी जी ने उपनिषद् का सारा रहस्य इतनी

आसानी से ऐसे मनोहारी रूप में प्रस्तुत किया है और उसमें विज्ञान का आधार लेकर ऐसी नूतनता डाली है कि यह मालूम ही नहीं पड़ता कि उपनिषदों की विचारधारा इतनी पुरानी है।

इस पुस्तक की शुरुआत देहरादून निवासी डा० जगदीश प्रसाद शर्मा ने की थी। उन्होंने महीनों स्वामी जी के सान्निध्य में रहकर अपना कार्य पूरा किया। परन्तु जो कुछ उन्होंने इतने परिश्रम से तैयार किया उसमें परिष्करण की बहुत गुंजाइश रह गयी और जब डा० शर्मा की पाण्डुलिपि प्रकाशन के लिए हमारे पास आयी तो एक ऐसे व्यक्ति की खोज शुरू हुई जो हमारे पाठकों के लिए उस पाण्डुलिपि का परिष्कृत रूप प्रस्तुत कर सके। इस कार्य के लिए हमने श्रीमती सुषमा सर्राफ का सहारा लिया। वे हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं की विदुषी हैं और उन्होंने अपनी सारी विद्वत्ता को स्वामी जी के चरणों में रखकर इस दुस्साध्य कार्य को अपने हाथ में लिया। हमें सन्तोष है कि आज उसी के कारण हम अपने पाठकों के सन्मुख 'उपनिषदों की वाणी' रख पा रहे हैं। हम श्री जगदीश प्रसाद शर्मा तथा श्रीमती सुषमा सर्राफ दोनों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं। यह इन्हीं के परिश्रम का फल है कि स्वामी जी की वाणी 'उपनिषदों की वाणी' बनकर राष्ट्र की भाषा में मुखरित हो सकी।

विषय-सूची

उपनिषद् : आकर्षण और प्रभाव

उपनिषदों की वाणी, तीन मुख्य उपनिषदों अर्थात् ईश, केन, कठ, का श्लोकवार अध्ययन है। प्रथम में अठारह, द्वितीय में पैंतीस, और तृतीय में एक सौ उन्नीस श्लोक हैं। यद्यपि समग्र औपनिषदिक साहित्य का यह एक छोटा अंश है, तथापि, इन तीनों में इस अमर साहित्य के सारभूत विचारों की एक स्पष्ट व्याख्या है।

उपनिषदों के रचनाकाल पर विद्वान् एकमत नहीं हैं। किन्तु अधिकांश इस पर सहमत हैं कि मुख्य उपनिषदों में से अधिकतर की रचना भगवान बुद्ध के अवतरण से पूर्व, ई० पू० सातवीं शती में हुई। लगभग दो सौ से अधिक उपनिषद् हैं, जिनमें बहुत से साम्प्रदायिक और स्पष्टतया बुद्धोत्तर और शंकरोत्तर भी हैं।

मुख्य उपनिषद्

वे उपनिषद् मुख्य माने जाते हैं, जिनको श्री शंकराचार्य ने (788–820 ई०) भाष्य के लिए चुना था; इनकी संख्या दस है, और भारतीय परम्परा में उनकी गिनती इस प्रकार है—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक। कुछ विद्वानों के अनुसार श्री शंकराचार्य ने, एक ग्यारहवें उपनिषद् 'श्वेताश्वतर' का भी भाष्य किया था। ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में उन्होंने और चार उपनिषदों, अर्थात्, कौशीतकी, जाबाल, महानारायण और पैंगल, का उल्लेख किया है।

ईश उपनिषद्, अपने प्रथम श्लोक में ही समस्त उपनिषदों के केन्द्रीय विषय अर्थात् आध्यात्मिक एकता तथा समस्त विश्वैकता को समाविष्ट करता है।

समस्त बोधक्रियाओं के पीछे, नित्यज्ञाता की ओर संकेत करके, **केन उपनिषद्**, ज्ञान के स्वरूप का प्रकाश करता है। मनुष्य के सनातन आत्मा के रूप में, और विश्वात्मा के रूप में, परम तत्त्व को प्रकट करके, मनुष्य की परमतत्त्व

धारणा को स्थापित करता है। यह सब मनुष्य के ससीम और सापेक्ष परिप्रेक्ष्य के के संस्पर्श से ऊपर की बात है।

कठ उपनिषद्, उपनिषदों के समस्त अनुशीलनकर्त्ताओं के लिए, अपने मनोहर काव्य, गहन आध्यात्मिक अनुभव (मिस्टिसिज्म) और गम्भीर दर्शन के मधुर सम्मिश्रण के कारण, विशेष रूप से आकर्षक है। किसी भी एक उपनिषद् की तुलना में इस उपनिषद् में वेदान्त की अधिक एकीकृत व्याख्या मिलती है। इसके अन्तर्गत संवाद के दो व्यक्तियों अर्थात् गुरु वृद्ध यम, तथा शिष्य युवक नचिकेता के कारण इसकी मनोहारिता बढ़ गयी है।

प्रश्न उपनिषद्, जिसके नाम में ही अर्थ सन्निविष्ट है, प्रश्नों का एक उपनिषद् है; उसके 6 अध्यायों में प्रत्येक 6 जिज्ञासु शिष्यों द्वारा वेदान्त के विविध पहलुओं पर, एक-एक प्रश्न का तथा उनके गुरु ऋषि पिप्पलाद द्वारा दिये गये समाधानों का समावेश है।

मुण्डक उपनिषद् ने समस्त विद्या को, परा (उच्च) और अपरा (निम्न), दो वर्गों में बाँटा है। समस्त विज्ञान, कला, साहित्य, राजनीति और अर्थशास्त्र को वस्तुतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-ज्ञान की भावात्मक ज्ञानराशि (पॉजिटिव नॉलेज), विपरिणामी नानात्व के ज्ञान को—अपरा विद्या कहकर, यहाँ तक कि, पवित्र वेद और समस्त पवित्र ग्रन्थों को भी साहसपूर्वक इसी में सम्मिलित करके, यह उपनिषद् घोषणा करता है कि केवल वही विद्या परा है 'जिसके द्वारा उस अक्षर और कूटस्थ (अनेक के पीछे एक) तत्त्व का साक्षात्कार होता है।' इस प्रकार यह उपनिषद् आनन्द-विभोर होकर, अनेक में एक के भव्य दर्शन का गान करता है।

अपने संक्षिप्त विचार से भरे, बारह श्लोकों की छोटी परिधि में माण्डूक्य उपनिषद्, तीन अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—के अध्ययन द्वारा समग्र अनुभव का सर्वेक्षण करता है, तथा मनुष्य के वास्तविक स्वरूप, आत्मा को तुरीय या चतुर्थ कहकर, शुद्ध, नित्य, अद्वय चैतन्य भाव में प्रकाशित करता है। अपने दूसरे श्लोक की सारगर्भित उक्ति में—'अयं आत्मा ब्रह्म'—यह आत्मा ब्रह्म है, जो उक्ति उपनिषदों के चार महावाक्यों में से एक है—वह मनुष्य के अनन्त भाव की घोषणा करता है।

तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रतापशाली रूप से यह घोषणा करके कि 'ब्रह्मविद् आप्नोति परं'—ब्रह्मज्ञानी परमतत्त्व प्राप्त करता है, उन पाँच कोशों का वर्णन करता है, जो ब्रह्म को आवृत्त करके छिपाये हुए हैं, तथा अनुभव के सारभाग में अनन्त और शाश्वत वस्तु को प्राप्त करने के लिए सापेक्षता और ससीमता के इन कोशों की छेदनविधि या तकनीकी का निदर्शन करता है। ब्रह्म की वह एक वैज्ञानिक परिभाषा भी देता है : जहाँ से सब की उत्पत्ति है, जन्म के पश्चात् जिसके सहारे वे जीवित रहते हैं, तथा विनाश हो जाने पर जिसमें वे समा जाते हैं।

ऐतरेय उपनिषद्, मनुष्य के आत्मा के स्वरूप पर विचार-विमर्श द्वारा ब्रह्म का आध्यात्मिक स्वरूप स्थापित करता है तथा चार में से एक और महावाक्य

'प्रज्ञानं ब्रह्म'—ब्रह्म प्रज्ञा स्वरूप है (V. 3) के द्वारा इस सत्य को घोषित करता है।

छान्दोग्य उपनिषद्, सत्यकाम, श्वेतकेतु और नारद जैसे सत्यान्वेषकों का, तथा आरुणि, सनत्कुमार और प्रजापति जैसे उत्कृष्ट आध्यात्मिक गुरुओं का परिचय देता है। अनेक प्रबोधक गुरु-शिष्य संवादों द्वारा, यह उपनिषद् सत्ता की तात्त्विकता तथा संभवन की प्रतीति के विवेचन में हमारा सहायक है। गहरी आध्यात्मिक तथा दार्शनिक सारपूर्ण एक संक्षिप्त उक्ति में 'तत् त्वम् असि' (वह तू है) जो चार महावाक्यों में से एक मानी जाती है, यह उपनिषद्, मनुष्य की दिव्यता का टेक रूप में गायन करता है। मनुष्य की गहनतर व्याधियों का मात्र प्रतिकार वह बताता है, मनुष्य की सहज दिव्यता के इस ज्ञान को 'तरति शोकं आत्मवित्'—आत्मज्ञानी सब शोक के पार हो जाता है (VI.8.7) में समाहित करता है। प्रजापति के अधीन, इन्द्र के शिष्यत्व की एक गम्भीर मानवी घटना में हमें वह मनुष्य की आध्यात्मिक खोज के सच्चे स्वरूप और प्रविधि (तकनीकी) का तथा आध्यात्मिकता से प्रवाहित आशीर्वादों का उपदेश करता है। मनुष्य की आध्यात्मिक शिक्षा का, सांसारिकता से आध्यात्मिकता में उसके संवर्धन का, वह एक प्रभावोत्पादक विवरण देता है। जीवन-दर्शन के रूप में भौतिकवाद के परिसीमन और उससे प्राप्त दोषों का वह निर्देशन करता है।

उपनिषदों में बृहदारण्यक, जैसा उसके नाम में सन्निहित है, सबसे लम्बा उपनिषद् है। दार्शनिक विचार तथा आध्यात्मिक प्रेरणा का एक बृहद् (अर्थात् बड़ा) अरण्य (अर्थात् वन) है। इसमें चार उत्कृष्ट व्यक्ति विशेष हैं, जो इसको प्रदीप्त करते हैं—दो नर और दो नारियाँ—जनक, एक राजर्षि; याज्ञवल्क्य, एक तत्त्ववेत्ता ऋषि; मैत्रेयी, याज्ञवल्क्य की परम आध्यात्मिक पत्नी; तथा गार्गी, एक प्रतिभा-सम्पन्न वक्ता और तत्त्ववेत्ता महिला जो दार्शनिक वाद-विवाद में याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने वालों में अग्रणी है। इन उत्कृष्ट तथा अन्य साधारण व्यक्तियों द्वारा किये गये मनोहर संवादों के माध्यम से, यह उपनिषद्, समस्त उपनिषदों के केन्द्रीय विषय का, अर्थात् मनुष्य के देवतत्व, तथा समग्र विश्व की ब्रह्म में एकात्मता का रोचक प्रतिपादन करता है। पूर्व उल्लिखित माण्डूक्य के 'अयं आत्मा ब्रह्म' के अतिरिक्त, इसमें चार महावाक्यों में से एक और महावाक्य : 'अहम् ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ (I.4.10) है। वह 'अभय' को ब्रह्म की विशेषता बतलाता है तथा मनुष्य द्वारा उसके साक्षात्कार को, पूर्ण निर्भीकता और आनन्द की परिपूर्णता की अवस्था को, यहाँ और अभी, उसकी प्राप्ति की बात करता है।

अज्ञात से ख्याति की ओर

श्री शंकराचार्य को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने मुख्य उपनिषदों के

निपुण भाष्यों द्वारा, इस अमर साहित्य को, तथा भगवद्गीता को भी अज्ञात अवस्था से बाहर निकाला और विस्तीर्ण पाठकवृन्द के लिए सुलभ और बोधगम्य बना दिया। तब से इन पाठकों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। अनुवर्ती भाष्यकारों, चिन्तकों और ऋषियों के अवदानों की सहायता पाकर, यहाँ तक कि आधुनिक युग में, आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की प्रविधियों की कृपा से सारी दुनिया इसकी वर्तमान या सम्भाव्य पाठक बन चुकी है। पश्चिम के महान् प्राच्यविदों जिनके अनुवादों और व्याख्याओं ने भारतीय परम्परा के उपनिषदादि ग्रन्थों की ओर पूरब और पश्चिम के विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था, आधुनिक युग में, सबसे अधिकारपूर्ण वेदान्त की वाणी थी स्वामी विवेकानन्द की। दुनिया के दोनों गोलार्द्धों के नर-नारियों के विशाल समूह इस साहित्य की आध्यात्मिक मनोहारिता और युक्तिपूर्ण शक्ति की ओर तथा आधुनिक युग में मनुष्य के लिए उसकी प्रासंगिकता की मान्यता की ओर खिंच आये। 'वेदान्त और भारतीय जीवन में उसका प्रयोग' नामक भाषण में स्वामी विवेकानन्द ने कहा—

> शक्ति ! शक्ति की पुकार मुझे उपनिषद् के प्रत्येक पृष्ठ से सुनाई देती है। यह है एक महान् बात याद रखने की, यह है एक महान् शिक्षा जो मुझे अपने जीवन में मिली थी। वह कहता है शक्ति ! शक्ति ! हे मानव, दुर्बल मत बन। मनुष्य कहता है—क्या मानव में दुर्बलताएँ नहीं हैं ? उपनिषद् कहते हैं—'हैं', किन्तु अधिक दुर्बलता क्या उन्हें अच्छा कर देगी ? क्या तुम गन्दगी को गन्दगी से धोने का जतन करोगे ? पाप से पाप का इलाज हो सकेगा ? दुर्बलता से दुर्बलता का इलाज हो सकेगा ? .... हाँ, दुनिया में यही एक साहित्य है, जिसमें अभी 'निर्भीकता' शब्द का बराबर प्रयोग हुआ है; दुनिया के अन्य किसी धर्मग्रन्थ में, ईश्वर या मानव के लिए यह विशेषण प्रयुक्त नहीं हुआ।....उपनिषद्, शक्ति की महान् खान हैं। सारी दुनिया को अनुप्राणित करने की शक्ति उनमें है। सारी दुनिया उनके द्वारा संजीवित, तेजस्वी और ऊर्जित की जा सकती है। वे समस्त प्रजातियों के स्वीकृत मतों के (क्रीड्स) और सम्प्रदायों के निर्बलों से, दुःखितों से, तथा पद-दलितों से, अपने बूते खड़े होने के लिए और स्वतन्त्र होने के लिए तूर्यनाद से पुकारेंगे। स्वतन्त्रता—शारीरिक स्वतन्त्रता, मानसिक स्वतन्त्रता तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, ये हैं उपनिषदों के नारे।[1]

इन उपनिषदों पर श्री शंकराचार्य के भाष्य, विशेषतः उनके उन दार्शनिक और आध्यात्मिक सारगर्भित भागों के भाष्य, जो आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से प्रकाशित हैं, दार्शनिक विचार-विमर्श की निपुण कृतियाँ हैं। इन भाष्यों में, उनका संस्कृत भाषा

[1] कम्पलीट वर्क्स, III, 237–38।

का निपुण प्रयोग, हमें एक ऐसा गद्य साहित्य देता है जो संक्षिप्त, सरल, ओजस्वी होने के साथ-साथ काव्यरस में अपनी सानी नहीं रखता।

उपनिषदों में क्या है ?

हमें उपनिषदों में, पुराण कथाओं, अनुश्रुतियों तथा विश्व के स्वरूप और उत्पत्ति से सम्बन्धित ब्रह्माण्ड विषयक चिन्तनों से मिश्रित, जाँच की हुई और जाँच योग्य एक बोधगम्य आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि मिलती है। किसी भी साहित्य का सब भावात्मक ज्ञान, सामयिक वैज्ञानिक ज्ञान द्वारा सीमित और प्रतिबद्ध होता है। आमतौर से यह बात धार्मिक साहित्य के बारे में भी सही है। अनुवर्ती प्रगतियों के कारण मनुष्य की धार्मिक तथा दार्शनिक विरासत के बहुत कुछ अंशों की सत्यमान्यता पर असर पड़ता रहा है।

किन्तु उपनिषदों की आध्यात्मिक सूक्ष्म दृष्टि इस प्रकार के प्रभाव से अछूती रही। अनुवर्ती वैज्ञानिक उन्नति का, न केवल उसकी सत्यमान्यता पर कोई असर नहीं हुआ, उल्टे, उसकी सूक्ष्म दृष्टि के युक्तियुक्त आधार को प्रकट करने में, उसकी उसने सहायता की है, और उसके आध्यात्मिक आकर्षण को बढ़ा दिया है। यह कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि ये सूक्ष्म दृष्टियाँ, अनुभव के एक अन्य क्षेत्र (मनुष्य के भीतरी जीवन के जगत) में, समान वैज्ञानिक विधि से खोज करने का परिणाम हैं।

सत्यस्य सत्यम्

बाह्यजगत् के तथ्यों के अर्थों पर निरी परिकल्पना द्वारा वैदिक ऋषि, विश्व की ऐकिक धारणा पर, एक भौतिक एकतत्ववाद पर, अव्यक्त, अनिश्चित प्रकृति, या प्राण, ब्रह्माण्डीय ऊर्जा की अपनी कल्पना द्वारा पहले ही पहुँच गये थे। किन्तु उनकी खोज का चरम बिन्दु था उनकी समस्त अनुभूति का, आत्मा या ब्रह्म में आध्यात्मिक एकीकरण : 'ब्रह्मैवेदम् विश्वमिदम् वरिष्ठम्'—यह सब व्यक्त जगत् ब्रह्म ही है (मुण्डक, II. 2.12); 'इदं सर्वं यदयम् आत्मा'—यह सब जगत् आत्मा ही है (बृहदारण्यक, II.4.6); 'तत् एतत् ब्रह्म अपूर्वं अनपरं अनन्तरं अबाह्यम्, अयं आत्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'—इस ब्रह्म का आगा है न पीछा है, अन्तर है न बाह्य; यह आत्मा ही ब्रह्म है जो सब वस्तुओं का अनुभव-कर्त्ता है (बृहदारण्यक, II.5.19)।

यदि सब कुछ आत्मा या ब्रह्म ही है तो नाम रूप का जगत् भ्रम नहीं हो सकता। उपनिषद् इसे माया मानते हैं। किन्तु माया का अर्थ भ्रम नहीं है। माया शब्द केवल उस तथ्य का वर्णन करता है कि हम क्या हैं तथा अपने चारों ओर क्या देखते हैं ? वह उन अन्तर्विरोधों की ओर इशारा करता है जो जगत्-विषयक हमारे

अनुभवों तथा उसके ज्ञान के बीच होते रहते हैं। उपनिषद् कहते हैं, कि ये व्याघात उस समय तक रहते हैं जब तक कि हम इन्द्रियों के स्तर पर रहते हैं, जब तक हम अनात्म के परे आत्मा को, बहु के परे एक को, देखने में असमर्थ रहते हैं। तो भी माया के क्षेत्र में हमारे सब अनुभव और ज्ञान, आत्मा का ही अनुभव और ज्ञान है जो इन्द्रियों द्वारा आये हैं, इसलिए भ्रम नहीं, किन्तु सत्य है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि मनुष्य भूल से सत्य पर नहीं जाता, बल्कि सत्य से सत्य पर जाता है, निम्न सत्य से उच्च सत्य पर। इसलिए उपनिषद् अनात्म जगत् को 'सत्य' कहते हैं और आत्मा को 'सत्य का सत्य'। बृहदराण्यक (II. 1. 20) उपनिषद् के एक महत्त्वपूर्ण परिच्छेद में यह बात बतायी गयी है।

'तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति; प्राणा वै सत्यम्; तेषां एष सत्यम्'—उसका (आत्मा का) गूढ़ नाम 'सत्य का सत्य' है, प्राण सत्य है, और यह (आत्मा) उसका भी सत्य है। इस वेदान्तिक भाव का स्पष्टीकरण करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—

> प्रकृति, मन, और आत्मा के बीच कोई वास्तविक भेद नहीं है। उस एक की अनुभूति में, ये विभिन्न अवस्थाएँ मात्र हैं। पंच इन्द्रियों द्वारा देखने पर उसी संसार को प्रकृति कहते हैं, अति दुष्ट मानव इसी को नरक, सज्जन इसी को स्वर्ग, तथा सिद्ध-पुरुष इसी को ईश्वर कहता है।[1]

प्रकृति के 'अन्तस्' की खोज

खोज के क्षेत्र में, बाह्य से अन्तर का जो परिवर्तन प्राचीन भारत में हुआ, उसका कारण तथा मानव चिन्तन के लिए उसका महत्त्व दिखाते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा—

> जिस प्रकार ग्रीक मन, या आधुनिक यूरोपियन मन, जीवन का तथा सत्ता की सब पवित्र समस्याओं का समाधान बाह्य जगत् की खोज करके पाना चाहता है, वैसा ही हमारे पुरखों ने किया था; और ठीक जैसे यूरोपियन असफल हुए, वे भी असफल रहे। किन्तु पश्चिम के लोग आगे नहीं बढ़े, वहीं रह गये; वे बाह्य जगत् में जीवन और मृत्यु की महान् समस्याओं का समाधान खोज निकालने में असफल रहे और वहीं फँसे रह गये। हमारे पुरखों को भी यह सम्भव लगा, किन्तु समाधान पाने में इन्द्रियों की नितान्त लाचारी घोषित करने में, वे अधिक साहसी निकले। उपनिषदों से अधिक अच्छा उत्तर और कहीं भी नहीं मिलता : 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—पहुँच न सकने पर जहाँ से वाणी मन सहित लौट पड़ती है

1 वही, V, 272।

(तैत्तिरीय, II. 4); 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति'—न वहाँ दृष्टि जाती है, न वाणी पहुँचती है (केन, I. 3)। कई वाक्य हैं जो इन्द्रियों की नितान्त लाचारी घोषित करते हैं, किन्तु वे वहाँ नहीं रुके रहे; उन्होंने मनुष्य की अन्तर्प्रकृति का आसरा लिया, अपनी ही आत्मा से वे उत्तर माँगने लगे, वे अन्तर्मुखी बन गये, निरर्थक जानकर वाह्य प्रकृति की खोज उन्होंने छोड़ दी, क्योंकि वहाँ कुछ न हो सका, क्योंकि कोई आशा, कोई उत्तर न मिल सका; उन्होंने खोज निकाला कि अचेतन जड़ प्रकृति से उन्हें सत्य प्राप्त नहीं होगा, और उन्होंने मनुष्य की दिव्य आत्मा का आसरा लिया, और वहाँ समाधान मिला।[1]

प्रोफेसर मैक्समूलर ने इस प्रश्न को उठाया कि ग्रीक काल से अब तक पश्चिम, जो निस्सन्देह ज्ञान के अनेक क्षेत्रों की प्रगति में अग्रणी रहा है, इन हजारों वर्षों में, खोज के इस क्षेत्र में भारत से कैसे पिछड़ गया? वे स्वयं इसका उत्तर देते हैं—

> यदि आपको यह आश्चर्य होता हो, कि प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञ, ग्रीक, या मध्यकालीन, या हमारे आधुनिक दार्शनिकों से आत्मा के विषय में अधिक जानते थे, तो हमें यह याद रखना चाहिए कि आकाश की तारिकाओं के निरीक्षण के लिए, हमने दूरबीनों को कितना भी उन्नत कर लिया हो, आत्मा की वेधशाला किन्तु वैसी की वैसी ही बनी है।[2]

विज्ञान और धर्म

सब विज्ञान एकता की खोज हैं। इस ऐक्य को वेदान्त ने आत्मा में ढूँढ़ निकाला था। उसने खोज के इस क्षेत्र के प्रसंगानुकूल अपनी प्रक्रिया का अनुसरण किया। किन्तु उसने अपने परिणामों का चित्रण, उस समय उसके उपलब्ध भावात्मक ज्ञान से ही किया। गत शताब्दियों में आधुनिक विज्ञान द्वारा इस ज्ञान में आमूल और विशद् परिवर्तन हुआ, किन्तु वेदान्त पर इसका बहुत अनुकूल प्रभाव हुआ। वास्तव में वेदान्त आधुनिक विज्ञान में अधिक प्रगतियों के लिए आशा करता है और उसका अभिनन्दन करता है। इसके द्वारा उसकी अपनी, अनेक में एक, आध्यात्मिक गहरी दृष्टि को भावात्मक वैज्ञानिक ज्ञान से समर्थन मिल सके, जिससे विज्ञान की आध्यात्मिकता और धर्म की आध्यात्मिकता दोनों की संयुक्त धारा से मानव जीवन अधिक सम्पन्न हो सके। इस तथ्य और आशा का उल्लेख करते हुए 19 सितम्बर 1893 को सर्व-धर्म-महासम्मेलन, शिकागो, में 'हिन्दू धर्म पर निबन्ध' (पेपर ऑन

[1] वही, III, 330–31।

[2] मैक्समूलर, थ्री लैक्चर्स ऑन द वेदान्त फिलॉसफी, लन्दन, 1894, 7।

हिन्दुइज्म) में स्वामी विवेकानन्द ने कहा—

> अन्ततोगत्वा समस्त विज्ञान को इसी निर्णय पर आना पड़ेगा। विज्ञान का मुख्य शब्द आज 'अभिव्यक्ति' (मैनीफैस्टेशन) है, न कि 'रचना' (क्रिएशन); हिन्दू इसलिए प्रसन्न है कि जो कुछ वह युगों से अपने हृदय में संजोए बैठा है, विज्ञान के नए चरण उसी को सत्यापित करने की ओर बढ़ रहे हैं। विज्ञान उसकी बातों को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से दुनिया के सामने रख रहा है।[1]

इस प्रकार वेदान्त, धर्म और दर्शन, दोनों है। धर्म रूप में वह अन्तर्जगत के सत्यों का आविष्कार करता है तथा दूसरों को उसी आविष्कार के लिए उत्साहित करता है; और दर्शन रूप में, वह समग्र वास्तविकता की एकीकृत गहन दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिए, और मानव जीवन और चरित्र को, दृष्टिकोण तथा सहानुभूति की उदारता के साथ, श्रद्धा और गहन दृष्टि की गहरायी देने के लिए, अन्तर्जगत के विज्ञान को, बाह्य जगत के अन्य विज्ञानों के साथ संश्लिष्ट करता है।

वेदान्त के अनुसार, धर्म अतीन्द्रिय (सुपर सेन्सुअल) ज्ञान है; अतिप्राकृतिक (सुपर नेचुरल) नहीं। वेदान्त किसी अतिप्राकृतिक रहस्यज्ञान की बात नहीं करता। जो इन्द्रियों के क्षेत्र में है, धर्म का उससे कोई मतलब नहीं। वेदान्त कहता है कि भावात्मक विज्ञानों के क्षेत्र में इन्द्रिय ज्ञान से निर्णय होता है अतः धर्म की प्रस्थापनाएँ इस क्षेत्र में मान्यता प्राप्त न कर सकेंगी। श्री शंकराचार्य कहते हैं, 'श्रुति (अतीन्द्रिय ज्ञान-राशियाँ या धर्म-ग्रन्थ) की सौ उक्तियों से भी अग्नि ठण्डी नहीं हो सकती,' यह बात हम इन्द्रियों के अनुभव और भावात्मक ज्ञान दोनों से जाने हुए हैं। उधर भावात्मक ज्ञानों का अतीन्द्रिय अनुभवों के क्षेत्र में, कोई अधिकार नहीं है। जब वे आत्मा और ईश्वर जैसे विषयों पर अपना निर्णय देते हैं तो वे असफल रहते हैं। वे कभी-कभी संकेत और सुझाव दे सकते हैं और देते भी हैं, किन्तु यह खोज एक दूसरे विज्ञान का काम है, धर्म विज्ञान का। इन दो प्रकारों के विज्ञानों की स्थिति स्पष्ट करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—

> जिस प्रकार रसायनशास्त्र तथा अन्य भौतिक विज्ञान भौतिक जगत के सत्य पर विचार करते हैं, धर्म उसी प्रकार अतिभौतिक जगत के सत्य पर विचार करता है। रसायनशास्त्र सीखने के लिए जो पुस्तक पढ़नी है, वह है (बाह्य) प्रकृति की पुस्तक। जिस पुस्तक से धर्म सीखना है, वह है तुम्हारा अपना मन और हृदय। ऋषि बहुधा भौतिक विज्ञान से अनभिज्ञ होता है, क्योंकि वह केवल अन्तःज्ञान रूपी पुस्तक पढ़ता है। तथा वैज्ञानिक, बहुधा धर्म से अनभिज्ञ होता है क्योंकि वह केवल बाह्य ज्ञान की पुस्तक पढ़ता है।[2]

[1] कम्पलीट वर्क्स, 1, 15।
[2] वही, VI, 81।

श्रुति बनाम स्मृति

उपनिषद् इस 'अन्तस् की पुस्तक के अध्ययन' का प्रभावोत्पादक लेखा है। प्रत्येक धर्म के ग्रन्थ ऐसे ही लेखे हैं। उनमें अच्छी बड़ी मात्रा में, बाह्य विषय भी हैं, न केवल पुराण, कथा, और सृष्टि-विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त ही, जो उपनिषदों में भी हैं, बल्कि विधि-निषेध सहित नियम-अधिनियम भी अपने-अपने अनुयायियों के व्यक्तिगत और सामूहिक आचरण तथा व्यवहार का मार्ग-दर्शन करने के लिए दिये गये हैं। इन परवर्ती तत्त्वों का महत्त्व स्थानीय और अस्थायी होने से, उनका सार्वभौमिक प्रयोग नहीं हो सकता और न वे सब कालों में प्रासंगिक हैं। किन्तु, सब धर्मों के मौलिक सन्देश, सारभूत आध्यात्मिक सत्यों के मूल से निकलते हैं, जो सार्वभौमिक और सर्वकालीन हैं। केवल उपनिषद् ही ऐसे धार्मिक ग्रन्थ हैं, जिन्होंने इन सारभूत आध्यात्मिक सत्यों का, आविष्कार करने में तथा बाह्य मान्यताओं और पंथों से निरपेक्ष होकर, मनुष्य को, उसके जीवन-काल में उनका साक्षात् कराने में योग दिया। इसलिए भारतीय परम्परा उपनिषदों को श्रुति कहती है। इसके विपरीत, अन्य धर्मग्रन्थवर्ग को स्मृति कहती है, जिसमें धर्मशास्त्र भी आते हैं, जिनको प्राचीन युग में कुशलता-पूर्वक सामाजिक नियम अधिनियम बनाने का काम सौंप दिया गया था। वर्तमान काल में राजनीतिक संविधान तथा सामाजिक अन्तर्विवेक (कान्शेन्स) के लिए यह काम छोड़ा गया। स्मृति की कोटि में वे धर्म-पुस्तकें भी हैं, जो ऐतिहासिक धर्मों की हैं जिनका जन्म और प्रमाण किसी एक संस्थापक व्यक्ति से प्राप्त है। इसीलिए भारत की धर्म-पुस्तकें, गीता, महाभारत और रामायण तथा सब पुराण, मनुस्मृति याज्ञवल्क्य-स्मृति, तथा ऐसे ही अन्य हिन्दू विधिग्रन्थ, स्मृति माने जाते हैं। उपनिषदों को छोड़कर भारत या अन्य देशों के समस्त धर्म-ग्रन्थों में श्रुति तत्व और स्मृति तत्व का विभिन्न मात्राओं में सम्मिश्रण मिलता है। इसीलिए अकेले उपनिषदों को ही सर्वोत्कृष्ट श्रुति माना जाता है।

सनातन धर्म की अनुपमता

इस व्याख्या से भारतीय परम्परा में श्रुति की प्रामाणिकता और प्रतिष्ठा स्पष्ट है। तदनुसार आध्यात्मिक मामलों में स्मृति सदैव श्रुति के नीचे है। स्मृति बनती और बिगड़ती रहती है, युग-युग में बदलती है, किन्तु शंकराचार्य के मार्मिक विश्लेषण के अनुसार (ब्रह्मसूत्र भाष्य I.1.2) श्रुति में 'वस्तुतन्त्र ज्ञान' है अर्थात् 'वास्तविकता जैसी है उसका ज्ञान' और स्मृति में 'पुरुषतन्त्र ज्ञान' है, अर्थात् 'व्यक्ति आधारित ज्ञान' जो मानव प्रयास द्वारा सुधारा या बदला जा सकता है: 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं शक्यते।' जिस स्मृति ने समाज का किसी काल में पोषण किया दूसरे काल में वही उसका गला घोट सकती है। जैसे-जैसे सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियाँ बदलती हैं, विधि और

नियमों का भी पुनर्गठन और पुनर्व्याख्या होनी चाहिए। अन्यथा उसका परिणाम होता है सामाजिक जीव रचना (औरगैनिज्म) का गला घोटना। यदि वृक्ष के साथ उसकी रक्षक छाल बढ़ और फैल न सके तो वह वृक्ष का गला घोटने लगेगी और यदि वह जीवित वृक्ष है, तो उस छाल को वह उतार फेंकेगा। और अपने लिए एक नयी सजीव छाल बना डालेगा। सामान्यतया सब स्मृतियों के लिए श्री रामकृष्ण की एक संक्षिप्त उक्ति, इस भारतीय भाव पर प्रकाश डालती है : 'कम्पनी (ईस्ट इण्डिया) के राज में, मुगल सिक्के नहीं चलते।'

संसार की धार्मिक परम्पराओं की अधिकांश विसंगतियाँ आज पैदा हैं। श्रुतियों को, सारतत्त्व को, स्मृति या अप्रचलित विषय-वस्तु से सनातन आध्यात्मिक सत्यों को, इन परम्पराओं के ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक हठमतों (डॉग्मा) से अलग करने की योग्यता से, और बदली हुई परिस्थितियों में, जिनका अब कोई चलन मूल्य नहीं रहा है, उनको परित्याग करने की अनिच्छा और नवीन माँगों के अनुकूल नवीन स्मृति रचने की उनकी अक्षमता ही उसका कारण है। इसका उल्लेख करते हुए, गणितज्ञ-दार्शनिक श्री ए० एन० व्हाइटहेड कहते हैं—

> धर्म अपनी पुरानी शक्ति को तब तक पुनः प्राप्त नहीं कर सकेगा, जब तक परिवर्तन का वह उसी भाव से सामना नहीं कर करेगा जैसा कि विज्ञान करता है। उसके सिद्धान्त चाहे शाश्वत हों किन्तु उन सिद्धान्तों में निरन्तर अभिवृद्धि की आवश्यकता है।[1]

इतिहासकार आर्नोल्ड टॉयनबी भी इसी बात पर जोर देते हैं :

> इतिहास से धर्म की जो थाती समाज को मिली है वह शाश्वत तत्त्व और सामयिक आचरण का ऐसा सम्मिश्रण है कि इन दोनों को जब तक अलग-अलग न किया जायेगा तब तक धर्म का वास्तविक रूप हमारे सामने न आ सकेगा। आज के समय में समाज पर आध्यात्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का ऐसा दबाव है कि उसमें हमें धर्म के शाश्वत तत्त्व को उसके गौण कर्म-काण्ड से अलग करना ही पड़ेगा। प्रत्येक उच्च धर्म की परम्परा में दोनों प्रकार के तत्त्व होते हैं। उनमें से शाश्वत तत्त्व (जैसे सत्य) सब काल और देशों में मान्य होते हैं। मानव का लम्बा अनुभव शाश्वत तत्त्वों की निरन्तरता की पुष्टि ही करता जाता है। परन्तु शाश्वत तत्त्वों के स्थायी और व्यापक प्रसार के लिए एक ऐसे धर्मतन्त्र की स्थापना हो जाती है जिससे कोई समाज बच नहीं सकता। जैसे-जैसे धर्म का प्रसार होता है, प्रचारकों के सामने कुछ समसामयिक और स्थानीय समस्याएँ आती रहती हैं जिनको अस्थायी रूप से हल कर दिया जाता है। परन्तु, ऐसा करने में धर्मतन्त्र में ऐसी कुछ रूढ़ियाँ

[1] ए० एन० व्हाइटहेड, साइंस इन द माडर्न वर्ल्ड, 234।

शामिल हो जाती हैं जिनको प्रयत्नपूर्वक बराबर हटाया जाना चाहिए, ताकि ये रूढ़ियाँ धर्म के शाश्वत तत्त्व को ढक न लें।

इस धर्मतन्त्र का महत्त्व, धर्म के शाश्वत स्वरूप की रक्षा और उसका प्रसार करने में वैसा ही है जैसे धान की भूसी का महत्त्व अन्न को सुरक्षित रूप में समाज तक पहुँचाने में है। जैसे महत्त्वपूर्ण होते हुए भी धान की भूसी अन्न का स्थान नहीं ले सकती, उसी प्रकार कोई भी धर्मतन्त्र धर्म के शाश्वत तत्त्वों के बराबर महत्त्व का नहीं हो सकता। दाने तक पहुँचने के लिए जैसे हमें भूसी को अन्न से अलग करना पड़ता है उसी प्रकार धर्म के वास्तविक स्वरूप को देखने और परखने के लिए हमें उसे कर्म-काण्ड की रूढ़ि से अलग करके देखना पड़ेगा ताकि हमसे धर्म का शाश्वत रूप ओझल न हो जाय। और यह अलग करने का क्रम निरन्तर चलता रहना चाहिए।[1]

श्रुति में से, भारत ने जिस दर्शन और धर्म का विकास किया, उसका एक अर्थपूर्ण नाम है, सनातन-धर्म। सनातन-धर्म की मान्यता, उसके सत्य के प्रति आग्रह के कारण हुई है। चाहे कितने ही अवतारों और सन्तों ने इस (सनातन-धर्म) का प्रतिपादन किया, परन्तु इसकी शक्ति का स्रोत इसकी सत्यनिष्ठा ही है। सत्य की कसौटी यह है कि सब काल के लोग बिना किसी पूर्वाग्रह के उसे परख सकें। सन्तों और अवतारों का आचरण या यों कहें कि उनका सारा जीवन सत्याचरण की जीवन्त मिसाल होता है जिससे सारा समाज धर्म के शाश्वत तत्त्व की शिक्षाओं के लिए उनकी ओर देखता है। पुराने समय में इन सन्तों और अवतारों ने ही सामाजिक नियमों को बनाया यद्यपि अब इन सामाजिक नियमों का निर्माण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चुनी हुई राजनीतिक संस्थाएँ करती हैं।

उपनिषदों से व्युत्पन्न सनातन धर्म के अनुपम लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए 'भारत के ऋषि' शीर्षक भाषण में, स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

हमारे धर्म-ग्रन्थों में सत्य के दो आदर्श हैं : पहला, जिसे हम सनातन कहते हैं; तथा दूसरा, जो इतना अधिकारपूर्ण तो नहीं है, फिर भी विशेष परिस्थिति, काल और स्थान में, वह प्रभावी है। जिन्हें हम श्रुति या वेद कहते हैं उनमें आत्मा और परमात्मा के सनातन सम्बन्ध सन्निहित हैं। दूसरी श्रेणी वह है, जिसे हम स्मृति कहते हैं, जो कि मनु, याज्ञवल्क्य तथा अन्य लेखकों के और पुराणों से तन्त्रों तक के शब्दों में सन्निहित है।

दूसरी विशेषता यह है कि इन श्रुतियों के सत्यों को अंकित करने वाले बहुत से ऋषि थे, अधिकांश जिनमें पुरुष थे, कुछ महिलाएँ भी थीं। इनके व्यक्तित्व और जन्मतिथियों के सम्बन्ध में हमको बहुत कम ज्ञान है, किन्तु उनके श्रेष्ठतम विचार, मैं कहूँगा, उनके श्रेष्ठतम आविष्कार, हमारे देश के पवित्र

[1] आॅर्नोल्ड टॉयनबी, ऐन हिस्टोरियन्स अप्रोच टू रिलिजन, 262–64।

> साहित्य, वेदों में सन्निहित हैं। दूसरी ओर, स्मृतियों में व्यक्ति अधिक दिखाई देते हैं। चकित कर देने वाले, विराट व्यक्तित्व वाले, प्रभावशाली, दुनिया को हिला देने वाले व्यक्ति, मानो पहली बार हमारे सामने खड़े हैं; उनके व्यक्तित्व की गरिमा उनकी शिक्षा से भी अधिक महान् दिखाई देती है। एक और विशेषता भी हमें समझ लेनी होगी। हमारा धर्म एक निर्गुण-सगुण ईश्वर का प्रचार करता है। निर्गुण भाव या अपौरुषेय तत्त्वों के साथ, वह बहुत से सगुणभाव का भी उपदेश देता है। किन्तु, हमारे धर्म का मूल स्रोत श्रुतियों में, वेदों में है, जो पूर्णरूपेण अपौरुषेय हैं। महान् अवतार और पैगम्बरों के उपदेश स्मृतियों और पुराणों में आते हैं। और यह भी द्रष्टव्य है कि हमारे धर्म के अतिरिक्त संसार के सभी धर्मों का आधार, किसी एक या अनेक, संस्थापक या संस्थापकों का व्यक्तिगत जीवन है। ईसाई धर्म, जीसस क्राइस्ट के जीवन पर निर्मित हुआ; इस्लाम मुहम्मद के, बौद्ध धर्म बुद्ध के, जैन धर्म जिनों के, इत्यादि। इसका स्वाभाविक फल यह होता है कि इन सब धर्मों में, इन महापुरुषों के ऐतिहासिक प्रमाणों पर, परकाल में खूब वाद-विवाद हुए। यदि प्राचीन काल के इन पुरुषों के अस्तित्व के विषय में, ऐतिहासिक प्रमाण किसी समय शिथिल हो जायें, तो धर्म का सारा भवन टुकड़े-टुकड़े होकर गिर जाता है। हम इस दुर्भाग्य से बचे रहे हैं, क्योंकि हमारे धर्म का आधार कोई व्यक्ति नहीं, वरन् तत्त्व हैं। अपने धर्म का पालन तुम इसलिए नहीं करते कि उसका प्रमाण कोई ऋषि है—नहीं, कोई अवतार तक नहीं। कृष्ण वेद का प्रमाण नहीं, किन्तु स्वयं वेद भगवान कृष्ण का प्रमाण है। उनकी महिमा इस बात में है कि वेदों के प्रचारकों में अभी तक वे सबसे बड़े हैं। यही बात दूसरे अवतारों की है, हमारे सब ऋषियों की है।[1]

सामान्यतया, श्रुति, कहने से वेद समझे जाते हैं; विशेषतया उसका अर्थ उपनिषद् हैं, वेदान्त कहलाने से वे वेदों का अन्त या समापन भाग जाने जाते हैं, वे वेदों का यथार्थ भावार्थ या सारभाग हैं। वेद या श्रुति सनातन धर्म की व्याख्या करते हैं। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा वेदों को अनादि मानती है। इस भाव को अपने भाषण में स्पष्ट करते हुए, शिकागो के सर्वधर्म सम्मेलन में, स्वामी विवेकानन्द ने कहा—

> कदाचित् श्रोताओं को यह हास्यास्पद मालूम पड़े, कि एक पुस्तक अनादि और अनन्त कैसे हो सकती है। किन्तु वेदों से अभिप्राय पुस्तक का नहीं है। उनका अर्थ है, विभिन्न कालों में, विभिन्न पुरुषों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक तत्त्वों का संचित खजाना। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का नियम उसकी खोज से पहले भी था और समस्त मानव समाज उसे भुला दे, तो भी विद्यमान रहेगा,

[1] कम्पलीट वर्क्स, 3, 248–51।

उसी प्रकार ये आध्यात्मिक जगत के नियम भी हैं। आत्म तत्त्व और परमात्म तत्त्व का यह सम्बन्ध भी ऐसा ही है।

इन सिद्धान्तों के आविष्कारक ऋषि कहलाते हैं और हम उनका सिद्ध पुरुष मानकर आदर करते हैं। इन श्रोताओं को मुझे यह बताते हुए हर्ष होता है कि इनमें कुछ महत्त्वपूर्ण महिलाएँ भी थीं।[1]

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ

यह बात कि हमारी परम्परागत दृष्टि यही है, श्री शंकराचार्य की उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में उनके कथन से स्पष्ट है। इस शब्द का अर्थ है, गुरु के 'निकट बैठकर' शिष्य द्वारा प्राप्त ज्ञान। कठ उपनिषद् के अपने भाष्य की भूमिका में, इस शब्द की व्युत्पत्ति का विवेचन करते हुए भी श्री शंकराचार्य कहते हैं—

> केन पुनरर्थयोगेन उपनिषच्छब्देन विद्या उच्यते, इत्युच्यते। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविक-विषय-वितृष्णाः सन्तः उपनिषच्छब्दवाच्याम् वक्ष्यमाणलक्षणाम् विद्याम् उपसद्य, उपगम्य, तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति, तेषां अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणात्, हिंसनात्, विनाशनात् इत्यनेन अर्थयोगेन विद्या उपनिषद इति उच्यते।

किस व्युत्पत्ति योग से उपनिषद् शब्द का अर्थ विद्या होता है? अब इसका विवेचन किया जाता है। दृष्ट या श्रुत सभी इन्द्रिय विषयों से, विरति होने पर जो मुक्ति चाहते हैं और जिनकी व्याख्या आगे होने को है, उपनिषद् शब्द से जिस विद्या का संकेत प्राप्त होता है, वे लोग उसके पास जाकर उसमें निष्ठावान होकर, दृढ़ निश्चय के साथ साधना करते हैं। ऐसे लोगों की सांसारिक अविद्या का, यह विद्या विनाश कर देती है। ऐसी व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में उपनिषद् का अर्थ विद्या होता है।

सम्भाव्य आपत्ति का पूर्वानुमान करके श्री शंकराचार्य आगे कहते हैं :

> ननु च उपनिषच्छब्देन अध्येतारो ग्रन्थमपि अभिलपन्ति, उपनिषदं अधीमहे, उपनिषदं अध्यापयाम इति च। नैष दोषः; अविद्यादि-संसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रे असम्भावत्, विद्यायां च सम्भवात्, ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः, आयुर्वै घृतं इत्यादिवत्। तस्मात् विद्यायां मुख्यया वृत्त्या उपनिषच्छब्दो वर्तते, ग्रन्थे तु भक्त्या इति।'

यह कहा जा सकता है कि उपनिषद् आदि पढ़ने वाले, शब्द 'उपनिषद्' से पुस्तक का भी संकेत करते हैं; जैसे, जब वे कहते हैं, 'हम उपनिषद् पढ़ेंगे' या 'उपनिषद् पढ़ायेंगे'।

[1] वही, भाग 1, 6–7।

यह कोई दोष नहीं, क्योंकि (उप + नि + सद) में 'सद' धातु का अर्थ है, सांसारिकता का बीज नाश आदि, जो केवल पुस्तक से नहीं हो सकता, केवल विद्या से ही हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से वही अभिप्राय सिद्ध होगा, जैसे हम कहें 'घृत ही जीवन है।' इसलिए 'उपनिषद्' शब्द का मुख्य अर्थ विद्या है और गौण अर्थ, 'पुस्तक'।

शिष्य का गुरु के 'निकट बैठना' जिस शिक्षा में अपेक्षित है, उसका अर्थ है घनिष्ट गुरु-शिष्य भावैक्यता (कम्यूनियन)। प्राप्तव्य विद्या जितनी उच्च होती है उतनी ही अधिक यह भावैक्यता होगी और विद्या के आदान-प्रदान में उतनी ही निःशब्दता होगी। यह मूल्य अपनी चरम सीमा पर तब पहुँचते हैं, जब प्राप्तव्य और प्रदत्त विद्या उच्चतम प्रकार की होती है, अर्थात् आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान, जिसके विषय में श्री शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहते हैं : 'अनुभव अवसानत्वात् भूत वस्तु विषयत्वात् च ब्रह्मज्ञानस्य'—उसका अवसान अनुभव (साक्षात्कार) में होता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान उस वस्तु से सम्बन्धित है जिसका अस्तित्व पहले से ही है (I.1.2)।

सत्य बनाम मत

सत्य का प्रेम तथा उसकी निर्भीक खोज, उपनिषदों के मनोहारी लक्षणों में से एक है। रॉबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम इसका उल्लेख करते हैं :

> सत्य की खोज करने की उत्सुकता, उपनिषदों की एक आनन्ददायी और प्रशंसनीय विशिष्टताओं में से एक है।[1]

उपनिषदों में हमें सदैव उन उत्साही शिष्यों और गुरुओं के दर्शन होते हैं जो दर्शन और धर्म की केन्द्रीय समस्याओं का विचार-विमर्श, उस सच्चाई और परिपूर्णता, वस्तुनिष्ठता और निःसंगता के साथ करते हैं, जो दर्शन के इतिहास में कहीं-कहीं मिलती है। उपनिषदों ने इतिहास के अति आदिम काल से ही उसे जान लिया था जिसे उन्नीसवीं शताब्दी में टॉमस हक्सले, मत और तत्त्व का भेद, 'मैं ऐसा-ऐसा मानता हूँ' और 'मैं ऐसा-ऐसा सच होना मानता हूँ' का भेद कहकर उल्लेख करते हैं। हक्सले कहते हैं :

> ज्यों-ज्यों मेरा जीवन बीतता जाता है मैं यह महसूस करता हूँ कि मानव जीवन का सबसे पवित्र क्षण तब आता है जब वह अपने अनुभव के आधार पर यह कह सके कि 'मैं अमुक-अमुक बात को सत्य समझता हूँ।' ऐसा करने से उसे स्वर्गीय सुख मिलता है। और कभी-कभी इस सत्यान्वेषण से उस पर दुनिया की आफत भी आ सकती है।[2]

[1] रॉबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम, 'द थर्टीन प्रिंसिपिल उपनिषद्ज', 30, पादटिप्पणी।
[2] जे० आर्थर टॉम्सन, इन्ट्रोडक्शन टु साईन्स, पृष्ठ 22 पर उल्लिखित।

एक विश्वास सत्य तब है जब वह अनुभव की कसौटी पर खरा उतरा है और सदैव खरा उतरेगा। वह केवल इसलिये सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि किसी मनुष्य ने वैसा कहा या किसी पुस्तक में वैसा लिखा है। वेदान्त के मुख्य तत्त्व, इसी वर्ग में आते हैं; उनकी सत्यता सार्वभौमिक है, क्योंकि सब मनुष्यों द्वारा वे सत्यापनीय हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् (I. 4. 7) के भाष्य में, धर्मग्रन्थों के वचन की सत्यता के विषय में लिखते हुए श्री शंकराचार्य एक विशिष्ट परिच्छेद में स्पष्ट करते हैं :

> न वाक्यस्य वस्तु अन्वाख्यानम् क्रियान्वाख्यानम् वा प्रामाण्या-प्रामाण्यकारणम्। किं तर्हि? निश्चितफलवत् विज्ञानोत्पादकत्वम्। तत् यत्र अस्ति, तत् प्रमाणं वाक्यं, यत्र नास्ति तत् अप्रमाणम्।

किसी वाक्य की मान्यता की कसौटी यह नहीं है कि वह किसी वस्तु या क्रिया के विषय में केवल कुछ कहता है। तो वह क्या है? वह है, उसमें किसी निश्चित और लाभकारी ज्ञान पैदा करने की सामर्थ्य। जिस वाक्य में यह है, वह मान्य है, और जिसमें यह नहीं है वह अमान्य।

ऐसे सत्य, उन स्वकीय विश्वासों से बहुत भिन्न हैं जो किसी व्यक्ति या समूह द्वारा, किसी सम्प्रदाय या धर्म-संघ द्वारा पूरी भावात्मक तीव्रता से माने हुए हैं और उतने ही उत्साह से दूसरों को ग्रहण करने के लिए दिये हुए हैं। ऐसे विश्वास 'सब से बड़े इनाम' के दावी नहीं हो सकते, क्योंकि उन्होंने 'भारी से भारी शास्ति' का भुगतान नहीं किया, जिसके अन्तर्गत है—युक्ति की कड़ी परीक्षा और सार्वभौमिक जाँच के लिए खुला रहना। वेदान्त की इस अनुपम विशेषता का उल्लेख करते हुए रोमें रोलाँ कहते हैं :

> सच्चा वेदान्तिक भाव किन्हीं पूर्वकल्पित विचारों को लेकर आरम्भ नहीं होता। वह तथ्यों (फैक्ट्स) के निरीक्षण में और उनके समन्वयन (कोआर्डिनेशन) के लिए दी हुई विभिन्न परिकल्पनाओं में, पूर्ण स्वातन्त्र्य के साथ, किसी पुरोहित वर्ग से कभी बाधित न होते हुए, प्रत्येक मनुष्य को, स्वेच्छानुसार विश्व की इस पहेली के अपने हल ढूंढ़ने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है।[1]

उपनिषदों का मानसिक वातावरण

निर्भीक सत्यान्वेषण इन उपनिषदों की विशेषता है जिसका उल्लेख किया जा चुका है। औपनिषदिक साहित्य का प्रत्येक पाठक भारत के इन ऋषियों की तर्कसंगत व्याख्याओं तथा साहसपूर्ण चिन्तन से प्रभावित हुए बिना न रहेगा। जिज्ञासु भाव से

[1] रोमें रोलाँ, द लाइफ ऑफ विवेकानन्द एण्ड द युनिवर्सल गॉस्पेल, 1947, 196।

ही उन्होंने सत्यान्वेषण की ओर कदम बढ़ाया। वे अनुभव में आयी बातों को भी तर्कपरता की कसौटी पर देखने लगे। अपने चारों ओर व्याप्त जगत की प्रत्येक बात को वे उसी कसौटी पर रखने लगे। यहाँ तक कि अपनी परम्परागत मान्यताओं और देवी-देवताओं के बारे में सामाजिक धारणाओं को भी वे आँख मूँदकर मानने को तैयार न थे। यहाँ पर हमें भारतीय और यूनानी दृष्टिकोणों का अन्तर पता चलता है। यूनानी लोगों ने जो तर्कपरता अपने राजनीतिक और सामाजिक मामलों में बरती, वह उन्होंने अपने धार्मिक विश्वासों के बारे में नहीं बरती। परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक और सामाजिक मामलों में उनके विचार आज भी मार्ग-दर्शक का कार्य करते हैं। परन्तु धार्मिक मामलों में ऐसा नहीं है।

उपनिषदों के ऋषि, वेदों के ऋषियों की परम्परा में ही थे। जब भी उनको युक्तियुक्त रूप से किसी बात का निश्चय नहीं हो पाता था तब वे अपने संशय को व्यक्त कर देते थे और इस प्रकार उनकी यह संशयात्मक प्रवृत्ति अन्त में निश्चयात्मक रूप से होने वाले ज्ञान की पृष्ठभूमि का कार्य करती थी।

जब उन्होंने बाह्य जगत् की खोज करनी चाही तो वे किसी नतीजे पर न पहुँच सके। जिज्ञासा ने इस रहस्य को और गहन कर दिया। प्राचीन भारत के मन पर हुआ इस रहस्य का प्रभाव, ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में एकदम मनोहारी और चिन्तन-प्रेरक भाषा में अंकित है। जिसको आधुनिक चिन्तक आज धीरे-धीरे खोज रहे हैं, उसे भारतीय मन ने बहुत पहले ही जान लिया था, कि ज्ञान में वृद्धि होते हुए भी, जब तक मनुष्य के अन्तर्जगत का रहस्य खोजा नहीं जायेगा, बाह्य जगत का रहस्य केवल गहराता रहेगा, घटेगा नहीं। एक सम्यक् तत्त्व दर्शन के लिए अनुभव के दोनों क्षेत्रों से, बाह्य तथा अन्तर से तथ्यों (डेटा) को लेने की आवश्यकता है।

दृक् के तथ्य का, दृश्य के तथ्यों के ज्ञान पर हुए प्रभाव को आधुनिक विज्ञान ने जान लिया है। आत्मा, यदि ज्ञाता के रूप में, अनात्म के, अर्थात् ज्ञेय वस्तु के ज्ञान में जटिल रूप से सम्बन्धित है, तो आत्मा के स्वरूप की, तथा ज्ञान के स्वरूप की जिज्ञासा, तत्त्व के स्वरूप की वैज्ञानिक खोज में, न केवल मान्य हो जाती है, बल्कि एक अनिवार्य और अभिन्न अंग भी हो जाती है। जैसा एडिंग्टन ने कहा है कि 'हमने खोज निकाला है कि जिस (दुनिया के स्वरूप के ज्ञान) को हम खोज रहे हैं, उस ज्ञान के ही स्वरूप को जानने का प्रयत्न ज्ञान की खोज में वास्तव में सहायक है।'[1]

उपनिषदों के ऋषियों द्वारा अन्तर्जगत की खोज इस बात का प्रमाण है कि वे चिन्तन की दिशा में काफी आगे पहुँच चुके थे। सदियों बाद यूनानी लोगों ने 'मानव अपने को जान' की बात तो कही परन्तु वे इस दिशा में और आगे न बढ़ सके। इस प्रकार उपनिषदों ने भारतीय संस्कृति और ज्ञान को एक नया आयाम प्रदान किया और जीवन-दर्शन को एक ऐसी दिशा दी जिससे पूर्व और पश्चिम दोनों ही प्रकार के दर्शनों में एक नई क्रान्ति का आविर्भाव हुआ।

[1] सर आर्थर एडिंग्टन, फिलॉसफी ऑफ फिजिकल साइंस, 6।

उपनिषदों में उनके ऋषियों के व्यक्तिगत जीवन की कहानी का कोई ब्यौरा नहीं है, लेकिन उन ऋषियों के मनोवेग का परिचय उनमें है। औपनिषदिक साहित्य में वैचारिक संघर्ष के द्वारा और नये-नये विचारों की व्युत्पत्ति होती है। अनुभव और युक्ति की कसौटी पर जो विचार खरे उतरते हैं उन्हें ऋषि मानते जाते हैं और शेष विचारों को बिना हिचकिचाहट के छोड़ते जाते हैं। यह सब गहराई से मंथन करने का परिणाम है न कि किसी विशेष मत का प्रभाव। इस प्रकार मानव और उसके चारों ओर के जगत के रहस्य को सुलझाने के लिए उपनिषद् आगे बढ़ते हैं; और मानव अपने को सत्य, आनन्द और सौन्दर्य के ऐसे सागर के एक बिन्दु के रूप में अनुभव करता है, उसी परम तत्त्व से अपना ऐक्य पहचानता है जो घट-घट में विद्यमान है। मुण्डक उपनिषद् के शब्दों में (III. 2. 8.) :

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे
अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ, अपना अलग नाम रूप छोड़कर, समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी नाम रूप (से उत्पन्न भेदभाव) से मुक्त होकर ज्योतिर्मय परमात्मा को प्राप्त करता है, जो परे (अर्थात् अव्यक्त प्रकृति) से (भी) परे है।'

उपनिषद् एक ऐसे काल की कहानी कहते हैं जिसमें एक असाधारण बौद्धिक और आध्यात्मिक किण्वन उसकी विशेषता थी। यह मानव इतिहास का वह युग था जिसने मनुष्य की सत्य तथा अर्थ-खोजी दृष्टि में स्पष्ट बाधाभंजन अंकित किये हैं। इससे सोचने का सारा ढंग ही बदल गया। उपनिषदों का मानस सत्य, मानव-सुख, और जनहित की कामना से ओत-प्रोत है। जैसा मैक्समूलर ने कहा है, ये वे चिन्तक थे कि जिन्हें न अपनी प्रशस्ति की चिन्ता थी और न अपनी अमान्यता का भय।[1] सत्य की खोज में उन्होंने किसी भी ऐहिक या पारलौकिक सुख के त्याग को भारी नहीं माना। सत्यान्वेषण में न वे अपने किसी पूर्वाग्रह से प्रभावित हुए और न उसे छोड़ने में उन्होंने कभी देरी की। उपनिषद् की इस विशेषता का मैक्समूलर ने यों उल्लेख किया है—

> आश्चर्य होता है कि हजारों वर्ष पहले भारतीय चिन्तकों ने वेदान्त दर्शन की एक ऐसी चमत्कारी विचारधारा का निर्माण कर लिया था जिसे आज भी देखकर हमारी बुद्धि चकराती है। हमारे किसी दार्शनिक ने (चाहे वे प्लेटो, हीगल, हिराक्लिट्स या कांट, कोई भी रहे हों) ऐसे किसी दर्शन की रचना नहीं की। वेदान्त का मूल भाव था कि आदि और अन्त कहीं भी देखें केवल एक ही सत्य स्पष्ट होगा। यही सत्य आत्मा या ब्रह्म है।[2]

[1] मैक्समूलर, थ्री लैक्चर्स ऑन द वेदान्त फिलॉसफी, 39।

[2] मैक्समूलर, सिक्स सिस्टेम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, 182।

उपनिषदों में हमें ऐसे, उत्साही और सच्चे, शिष्यों और गुरुओं के दर्शन होते हैं जो कभी छोटे-छोटे दलों में बैठकर सजीव चर्चाओं में तल्लीन हैं, और कभी बड़ी-बड़ी सभाओं में उन्हीं विषयों पर हृदयग्राही विवादों में उलझे हैं। इन विवादों में चिन्तन की जो उड़ान, उपमाओं का जो प्रयोग, और सत्य की खोज के आह्वान में बिना किसी बँधावट के और बिना किसी संकोच के जो पैठ हमें दृष्टिगोचर होती है वह शायद विश्व के इतिहास में कहीं और देखने को नहीं मिलती; ऐसा स्वच्छन्द वातावरण जिसमें केवल एक ही दृष्टि सर्वोपरि है—मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से देखना। कदाचित् ये ही ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्होंने उपनिषदों को स्थाई महत्त्व के एक सनातन दर्शन से सम्पन्न करके अमर बनाया।

वेदान्त अन्य दर्शन पद्धतियों की तरह कोरा एक दर्शन नहीं है अपितु वह एक जीवन्त दर्शन है। प्राचीन काल से आज तक वह भारतीय संस्कृति को निरन्तर आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करता रहा है।

उपनिषद् और भारतीय संस्कृति

बिना उपनिषदों के समझे, भारतीय इतिहास और संस्कृति का सूक्ष्मज्ञान पाना असम्भव है। भारत के दर्शन तथा धर्म की प्रत्येक अनुवर्ती संवृद्धि ने उपनिषदों से बहुत अधिक लिया है। भक्तिमार्ग या सगुण उपासना, कर्म योग या निष्काम कर्म तथा गीता प्रतिपादित समस्त आध्यात्मिक मार्गों का एक सर्व-व्यापक आध्यात्मिकता में समन्वयन, ये सब उपनिषदों से प्राप्य हैं। गीता 'ब्रह्मविद्यान्तर्गत-योगशास्त्र' कहलाती है अर्थात् ब्रह्म विद्या से उद्भूत योग का शास्त्र (तथा प्रविधि या तकनीक)। भारतीय धर्मों पर उपनिषदों के इस व्यापक प्रभाव को बताते हुए, स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—

> उपनिषदों में ही हम समस्त परकालीन भारतीय धार्मिक चिन्तन की समृद्धि देख पाते हैं। यह कहना बिल्कुल निराधार है कि उपनिषदों में भक्ति का आदर्श नहीं है। उपनिषदों का जिन्होंने अध्ययन किया है, वे जानते हैं यह सही नहीं है। यदि खोजो तो प्रत्येक उपनिषद् में काफी भक्ति है, किन्तु बहुत से वे विचार जिनका परवर्ती काल में, पुराणों में और स्मृतियों में इतने पूर्ण रूप से विकास हुआ, उपनिषदों में वे बीज मात्र रूप में हैं। वहाँ कोई ऐसा पूर्ण विकसित भारतीय आदर्श नहीं, जिसका उद्गम वहाँ—अर्थात् उपनिषदों में, खोजने पर न मिले।[1]

ब्लूमफील्ड के शब्दों में हिन्दू विचार चाहे वह अवैदिक बौद्ध धर्म ही हो, का कोई मुख्य रूप ऐसा नहीं, जिसका मूल उपनिषदों में नहीं है।[2]

[1] कम्पलीट वर्क्स, 3, 230।

[2] ब्लूमफील्ड, द रिलिजन ऑफ द वेद, 51।

भारत के लम्बे इतिहास में प्रत्येक सृजन-काल के पीछे इस वेदान्त की प्रेरणा प्रचुर मात्रा में मिलेगी। जब-जब यह प्रेरणा-स्रोत सूखा, तभी-तभी भारतीय सांस्कृतिक जीवन में वह कमी दृष्टिगोचर हुई। अतीत में गीता, बुद्ध और शंकर के युग, तथा वर्तमान में श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का उदय, भारत के प्राचीन और अधुनातन इतिहास के ऐसे ही सीमा चिह्न हैं। शक्तिदायिनी व पावनी वेदान्त दर्शन की इस ऊर्जा को, आधुनिक युग में आधुनिक विज्ञान और तकनीकी की ऊर्जा के साथ जोड़कर, स्वामी विवेकानन्द ने भारत के पुनः सृजन के लिए आह्वान किया, ताकि पश्चिम और पूर्व दोनों में मानव के जीवन में एक नये अध्याय का उदय हो सके।

इस प्रकार, उपनिषद्, शक्ति और सृजनात्मकता के सनातन स्रोत हैं। यह सृजनात्मकता और शक्ति उत्पन्न होती है, उनके (उपनिषदों के) मनुष्य में आत्मभाव की दृष्टि से। यही (आत्मा) मानव व्यक्तित्व का नित्य और अनन्त स्वरूप है। उनका मूल विषय है, मानवात्मा की स्वतन्त्रता; तथा उनका सन्देश है, निर्भयता, प्रेम और सेवा। वे सर्वत्र नरनारियों को स्वतन्त्रता और निर्भयता, प्रेम और सेवा के इस कर्मयुक्त जीवन की ओर तथा प्रत्येक नर-नारी द्वारा अपने सारभूत आध्यात्मिक स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने के लिए आह्वान करते हैं—इस प्रकार अल्पज्ञता से सर्वज्ञता की ओर ले जा रहे हैं। वे जीवन की प्रत्येक गति को सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक, यहाँ तक कि स्वयं जीवन-घटना (तथ्य) को प्रत्येक प्राणी में स्वतन्त्रता के लिए एक अन्तर्निहित प्रेरणा की अभिव्यक्ति कहकर उसकी व्याख्या करते हैं—उसे अनन्त का संघर्ष कहकर, जो फँसा है किसी कोशिका में या किसी देह में, किसी सामाजिक व्यवस्था में, या राजनीतिक प्रणाली में, किसी एक धर्म के हठमत में या एक दार्शनिक सिद्धान्त में, सम्बन्धों की किसी बुनावट में या स्वयं सापेक्षता के जाल में। इसलिए उनका निरन्तर आह्वान है जाग्रत होने का और अभियान करते रहने का : उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत—जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कठोपनिषद् के इन शक्तिशाली शब्दों को आधार बनाकर कहा—'उठो ! जागो ! और लक्ष्य प्राप्ति होने तक रुको मत।'

भारतीय जीवन और संस्कृति को उपनिषदों की देन अपार है। देखा जाय तो भारतीय जीवन में दिव्यता लाने का श्रेय उपनिषदों को ही है। देश के अन्दर सक्रिय सहिष्णुता की एक अविच्छिन्न परम्परा का मूल स्रोत उपनिषद् ही हैं। अपने धर्म के प्रसार में जोर जबर्दस्ती का सहारा न लेना और निरन्तर अपने सभी पड़ोसी राष्ट्रों से शान्ति और मंगल-भावना से बरतने की नीति का मूल भी उपनिषदों की शिक्षा में निहित है। हजारों वर्ष के इतिहास में भारत की ओर से कभी किसी अन्य राष्ट्र पर कोई राजनीतिक या सैनिक आक्रमण की योजना नहीं बनायी गयी, इसका श्रेय भी उपनिषदों को ही है। जब-जब राष्ट्रीय जीवन का स्रोत सूखने लगा तब-तब इसको पुनः नवजीवन प्रदान करने के लिए उपनिषदों का ही सहारा लिया गया।

भारत में कभी किसी कट्टर सर्वशक्तिशाली धर्म-संस्था का निर्माण नहीं हुआ और इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन और राष्ट्रीय मानस उन अवरुद्धताओं से बचा रहा जिनके होने पर शायद कभी भी इस देश में स्वतन्त्र, सृजनात्मक और सार्वभौमिक ख्याति की आत्माओं का समय-समय पर आविर्भाव न हो पाता। यही वे आत्माएँ थीं जिन्होंने सोते हुए राष्ट्र को अपने शंखनाद से जगाया और राष्ट्र के जीवन को एक नयी शुचिता एवं गति प्रदान की। भारत के लोगों ने भी इन दिव्यात्माओं को उचित सम्मान दिया और इस सबके पीछे भी उपनिषदों की पृष्ठभूमि ही कार्य कर रही थी। ये सब बातें भारत के दीर्घकालीन इतिहास का एक प्रभावशाली स्वरूप प्रस्तुत करती हैं। देखने की बात यह है कि अन्य देशों में जहाँ सेमितिक धर्मों का प्रभाव था वहाँ अपने धर्म-सुधारकों के साथ उन लोगों ने शत्रुता और उत्पीड़न का व्यवहार किया। स्पष्ट है कि यह सब उन देशों के जनजीवन में औपनिषदिक पृष्ठभूमि न होने का ही परिणाम था।

और आज जब देश एक ऐतिहासिक सृजनात्मक युग के द्वार पर खड़ा है तब श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द ने नये तौर से वेदान्तिक धारा को एक नया मोड़ दिया है। जिस प्रकार उन्होंने वेदान्त दर्शन को जनसाधारण के लिए प्रस्तुत किया है वह अपने आप में अभिव्यक्ति का एक अपूर्व रूप है।

श्री रामकृष्ण जिनके विषय में 1937 में श्री रामकृष्ण जन्म शताब्दी के अवसर पर एक श्रद्धांजलि में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी मनोहारी बंग भाषा में गाया—

बहु साधकेर बहु साधनार धारा
ध्याने तोमार मिलित हो एच्छे तारा;
तोमार जीवने असीमेर लीला पथे
नूतन तीर्थ रूप नीलो एई जगते;
देशविदेशेर प्रणाम आनिल टानि
सेथाई आभार प्रणति दिलाम आनि।

'अनेक आध्यात्मिक साधकों की अनेक साधन धाराएँ, सब तुम्हारे ध्यान में आ मिली हैं, तुम्हारे भव्य जीवन के असीम लीलापथ ने, संसार में, एक नवीन तीर्थ का रूप धारण किया है, जो देश विदेश के साधकों का प्रणाम आकृष्ट करता है, उन्हीं के साथ मैं भी अपना प्रणाम निवेदन करता हूँ।'

जिनके विषय में बंगाल के क्रान्तिकारी मुस्लिम कवि, काजी नजरुल इस्लाम ने गाया—

मन्दिरे मस्जिदे गिरजाये
पूजिले ब्रह्मे समश्रद्धाये;
तव नाम माखा प्रेम निकेतने
भरियाछे ताइं त्रिसंसार।

'तुमने ईश्वर को मन्दिर में, मस्जिद में, गिरजे में, समश्रद्धा से पूजा है। इसलिए

तीनों लोक मेरे हैं, तुम्हारे नाम के प्रेमसागर से।'

स्वामी विवेकानन्द, जिनके विषय में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा—

आधुनिक काले भारतवर्षे, विवेकानन्द ई एकटि महत् वाणी प्रचार करे छिलेन, सेटि कोनो आचार-गत नाई। तिनि देशेर सकल के डेके बोले छिलेन, तोमादेर सकलेरि मध्ये ब्रह्मेर शक्ति, दरिद्रेर मध्ये देवता तोमादेर सेवाचान। एई कथाटि युवक देर चित के समग्र भावे जागियेछे ताई एई वाणीर फल देसेर सेवाए आज विचित्र भावे विचित्र त्यागे फलेछे। तार वाणी मानुष के जखनि सम्मान दिये छे, तखनि शक्ति दिये छे।[1]

'आधुनिक काल में, भारतवर्ष में, विवेकानन्द ने ही एक महान् वाणी का प्रचार किया, जो किसी पूर्वाग्रह पर आधारित नहीं थी। उन्होंने समस्त देशवासियों से पुकार कर कहा था—'तुम सबके भीतर ब्रह्म की शक्ति है, दरिद्र के भीतर बैठा देवता, तुम्हारी सेवा चाहता है।' इस सन्देश ने युवकों के हृदय को व्यापक भाव से जगाया है। इसलिए इस वाणी का फल आज देश की सेवा में, विचित्र भाव से और विचित्र त्याग से फला है। उनकी वाणी ने मनुष्य को सम्मान और शक्ति दोनों दी हैं।'

तथा जिनके भविष्य में, काजी नजरूल इस्लाम ने गाया है—

नव भारते आनिले तुमि नव वेद,
मूचे दिले जातिधर्मेर भेद;
जीवे ईश्वरे अभेद आत्मा जानाइले उच्चारी—

'तुम नवभारत में एक नव वेद लाये। जिसने देश में धर्म और जाति के भेदभाव को मिटा दिया और घोषित कर दिया कि जीव और ईश्वर में अभेद आत्मा है।'

रोमां रोलां ने स्वीकारा है कि श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का कल्याणकारी प्रभाव सब धर्मों के आध्यात्मिक साधकों को अनुभव होने लगा है।

उपनिषद् तथा पाश्चात्य ईसाई धर्म

पश्चिम में ईसाई धर्म नयी चुनौतियों को देखकर एक ऐसी घुटन महसूस कर रहा है कि उसके विभिन्न सम्प्रदायों में यह जिज्ञासा जग गयी है कि ईसाई धर्म का एक सार्वभौमिक रूप खोजा जाये। स्पष्ट है कि यह तभी सम्भव होगा जब वे अपने धर्म के श्रुति भाग पर विशेष ध्यान देंगे और स्मृति भागों को समयानुसार ढालेंगे। ऐसा करने में वह वेदान्त को भी भूल नहीं सकते क्योंकि आधुनिक विज्ञान और तकनीकी ने दुनिया के सामने जैसी परिस्थितियाँ खड़ी कर दीं हैं उनका समाधान पश्चिम में भी वेदान्त ने ही किया है। 1893 में शिकागो के सर्वधर्म सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था[2]—

1 रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रवासी, भाग 28, 286।

1 कम्पलीट वर्क्स, भाग 1, 18।

> हिन्दू के दृष्टिकोण से तो दुनिया के सारे धर्म मानव समाज को विभिन्न अवस्थाओं से एक ही लक्ष्य की ओर ले जा रहे हैं। सब भौतिकता से फँसे मानव में ईश्वर के दर्शन कर रहे हैं और वही ईश्वर उन सबका प्रेरक है। तब प्रश्न उठता है कि फिर ये असंगतियाँ और अन्तर्विरोध क्यों? हिन्दू विचार से यह सब आभास मात्र है। सत्य विविध रूप में प्रकट होता है अतः सत्य के तत्कालीन रूप को ग्रहण कर लिया जाता है, परन्तु बाद में सत्य के वे भिन्न-भिन्न रूप पारस्परिक तौर से अन्तर्विरोधी दिखाई देते हैं। सत्य तो एक ज्योति है जो भिन्न-भिन्न रंग के शीशों के बीच से भिन्न-भिन्न रंगों में निकलती दिखाई देती है; किन्तु सबके हृदय में वही एक सत्य विराजता है। अपने कृष्णावतार में भगवान् ने हिन्दू के लिए (गीता में) प्रस्थापित किया है: 'मैं प्रत्येक धर्म में हूँ, जैसे मणियों में सूत्र (7.7)। जहाँ तुम असाधारण पवित्रता और असाधारण शक्ति, मनुष्य जाति को उठाती और पवित्र करती देखो, समझ लो कि मैं वहाँ हूँ।' (10.41)

धर्मों के सारभाग के स्वरूप और विस्तार पर, उनके श्रुति पहलू पर, इससे स्पष्टतर और अधिक प्रामाणिक दूसरी घोषणा कभी उच्चरित नहीं हुई। और भविष्य की रूप-रेखा में हमें एक अन्तर्दृष्टि देते हुए, उस भाषण के परवर्ती भाग में स्वामी जी ने कहा—

> यदि कभी एक सार्वभौमिक धर्म बना, तो वह किसी देश या काल से सीमित नहीं हो सकता, अपने प्रचारित ईश्वर के समान ही अनन्त होगा, तथा जिसका सूर्य, कृष्ण और क्राइस्ट के अनुयायियों पर, सन्त और पापियों पर, समभाव से चमकेगा; वह सार्वभौमिक धर्म जो न ब्राह्मणवादी होगा और न बुद्धवादी, न ईसाईपरक और न इस्लामपरक, बल्कि इन सबके गुण उसमें समाविष्ट होंगे। उसमें विकास के लिए गुंजाइश होगी। उस सार्वभौम धर्म का दृष्टिकोण इतना उदार होगा कि उसमें प्रत्येक मानव के लिए स्थान होगा, चाहे वह अत्यन्त बुद्धिमान एवं तेजस्वी पुरुष हो जिसका चमत्कार दुनिया माने या वह अत्यन्त असंस्कृत मानव हो जिसकी दानवीय प्रकृति उसके मुँह पर विराजती हो। ऐसी धर्म नीति में किसी के प्रति असहनशीलता या किसी के उत्पीड़न के लिए कोई स्थान न होगा, प्रत्येक नर-नारी में दिव्यभाव स्वीकार किया जावेगा। ऐसे धर्म की समस्त शक्ति प्रत्येक मानव को अपने दिव्य स्वरूप का अनुभव कराने में केन्द्रित होगी।[1]

सर्वधर्म सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि इस सम्मेलन की यदि कोई उपलब्धि है तो वह यह कि अब यह प्रमाणित हो गया है कि पवित्रता और उदारता किसी एक धर्म संस्था की

[1] वही, 19।

बपौती नहीं है। संसार के प्रत्येक धर्म में ही अत्यन्त चरित्रसम्पन्न नर-नारी हुए हैं। ऐसा होते हुए भी यदि कोई यह सोचे कि केवल उसका धर्म बचेगा और सब अन्य धर्म नष्ट हो जायेंगे, तो उसकी अल्पज्ञता पर तो तरस ही खाना पड़ेगा। ऐसे अल्पज्ञ को समझ लेना चाहिए कि वह दिन दूर नहीं जब प्रत्येक धर्म का केवल यही सन्देश होगा 'सहायता (न कि संघर्ष), आत्मसात्करण (न कि विध्वंस), समन्वय और शान्ति (न कि कलह)।'[1]

स्वामी विवेकानन्द की उक्तियों के सम्बन्ध में रोमां रोलां कहते हैं—'उनकी वाणी महान् संगीत है।' स्वामी विवेकानन्द ने उस धुन को संगीत में बाँध दिया जो आधुनिक जगत के कोटि-कोटि मनुष्यों के कानों में गूंज रही थी—अर्थात् मानव एकता और साम्य, सहिष्णुता और प्रेम की धुन, मानव हृदय में दिव्य भाव की धुन।[2]

उनके प्राच्य और पाश्चात्य शिष्यों द्वारा रचित जीवनी (द लाइफ ऑव विवेकानन्द) एक लेख का उद्धरण देती है, जो अमरीका की एक अग्रगण्य कवियित्री और लेखिका मिसेज एला व्हीलर विलकॉक्स, ने अपने ऊपर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव के विषय में लिखा था, और जो 26 मई 1907 के 'न्यूयार्क अमेरिकन', दैनिक पत्र में छपा था। यद्यपि यह कुछ लम्बा है, तो भी इस सन्दर्भ में, उसका उद्धरण यहाँ समुचित होगा, क्योंकि वह पश्चिम के चिन्तनशील लोगों पर हुए, वेदान्त के सन्देश के प्रभाव की झलक देता है (पृष्ठ 394–395) :

> बारह वर्ष पहले, मैंने अकस्मात् सुना कि भारत से आया हुआ दर्शनशास्त्र का एक शिक्षक, विवेकानन्द नामक एक आदमी, मेरे न्यूयार्क वाले घर से एक ब्लॉक दूर पर भाषण देने वाला है।
>
> केवल कौतूहलवश हम (मैं और मेरा साथी) वहाँ पहुँचे और सभा में दस मिनट भी नहीं हुए होंगे, कि हमें ऐसा भान होने लगा, कि हम किसी इतने सूक्ष्म, इतने ओजस्वी एवं अद्‌भुत वातावरण में हैं, कि भाषण के अन्त तक हम मुग्ध और तन्मय हुए बैठे रहे।
>
> जब वह भाषण समाप्त हुआ, जीवन की अनिश्चित दशाओं का मुकाबला करने, नया धैर्य, नयी आशा, नयी शक्ति, नयी श्रद्धा लेकर हम बाहर आये। मेरा साथी बोला, 'यह है वह तत्त्व दर्शन, वह ईश्वर सम्बन्धी भाव, वह धर्म, जिसे मैं खोज रहा था।' और बाद को महीनों तक, वह मेरे साथ स्वामी विवेकानन्द द्वारा, प्राचीन धर्म की व्याख्या सुनने, तथा उनके अद्‌भुत् मन से निकले, सत्य के रत्न और शक्तिदायक विचारों का चयन करने गया। वह आर्थिक विनाश की भयानक हेमन्त ॠतु थी, जब बैंकों का दिवाला निकल रहा था और सारा व्यवसायी समाज गहन अन्धकार और अनिश्चितता के वातावरण से घिरा था। कभी-कभी परेशानी व चिन्ताकुल निद्रा-रहित

1 वही, 20।

2 रोमां रोलां, द लाइफ ऑव विवेकानन्द, 162।

रातों के पश्चात् वह आदमी स्वामी जी को सुनने मेरे साथ जाता और फिर हेमन्त के अन्धकार में बाहर आकर, रास्ते पर चलते हुए, मुस्कराते हुए कहता, 'सब ठीक है, परेशानी का कोई कारण नहीं।' और मैं उसी उन्नत भाव और विकसित दृष्टि को लेकर अपने काम पर पुनः लौट आती।

जब कोई तत्त्वदर्शन, कोई धर्म, तनाव के इस युग में मनुष्य के लिए इतना सब कर सके, और साथ में ईश्वर में श्रद्धा बढ़ा सके, मनुष्य के लिए सहानुभूति बढ़ा सके और दृढ़ता से यह प्रतिपादित कर सके कि यह आनन्द जन्मजन्मान्तर तक मिलेगा, वह धर्म, अच्छा और महान् है।

हमें भारतीय तत्त्वदर्शन की महिमा जान लेने की आवश्यकता है। धार्मिक प्रज्ञा से हमें संकीर्ण मतवादों का निस्तार करना आवश्यक है। किन्तु उन्हें, हम अपने आधुनिक प्रगतिभाव से भरना चाहते हैं, और मानव की माँग के लिए, उनका व्यावहारिक रूप से, प्रेम भाव से, धैर्य से, प्रयोग करना चाहते हैं। विवेकानन्द एक सन्देश लेकर हमारे पास आये·····'मैं किसी नये विश्वास में तुम्हारा धर्म-परिवर्तन करने नहीं आया'; उन्होंने कहा, 'मैं चाहता हूँ, आप अपना विश्वास कायम रखें; मैं मैथॉडिस्ट को और अच्छा मैथॉडिस्ट बनाना चाहता हूँ, प्रेसबिटेरियन को और अच्छा प्रेसबिटेरियन, यूनिटेरियन को और अच्छा यूनिटेरियन। मैं तुम्हें सिखाना चाहता हूँ कि सत्य पर जीना, अपनी आत्मा के भीतर की ज्योति का प्रकाश करना है।' उन्होंने वह सन्देश दिया, जिसने व्यापारी को शक्ति दी, जिसने समाज की चपल महिला को रुकने और सोचने को बाध्य किया, जिसने कलाकार को नयी-नयी प्रेरणाएँ दीं, जिसने स्त्री और माता को, पति और पिता को, एक अधिक विशाल, एक अधिक पुण्यमय कर्त्तव्यभावना से भर दिया।

ईसाई धर्म का जो रुख अब अन्य धर्मों की ओर है, वैसी सहिष्णुता ईसाई धर्म के इतिहास में पिछले दो हजार वर्षों में कहीं देखने को नहीं मिलती। ऐसा लगता है जैसे ईसाई धर्म ने वेदान्तिक दृष्टिकोण अपना लिया हो। अन्ततः ऐसे रुख से न केवल ईसाई धर्म के अपने सम्प्रदायों में सहिष्णुता बढ़ेगी अपितु ईसाई धर्म की अन्य धर्मों के साथ भी एकता स्थापित होगी। कदाचित् मानव इतिहास का वह महानतम अवसर होगा जब वे सब धर्म, जो या तो अब तक एक-दूसरे से असहिष्णु थे या एक-दूसरे की काट पर लगे थे, मिलकर सारी मानव जाति को इस भौतिक स्तर से उठाकर आध्यात्मिक स्तर पर ले आवेंगे। यही है मानव के विकास की सही दिशा और ऐसा होने के लिए आवश्यक है कि सब धर्मों के कर्मकाण्ड से निकल कर केवल उनके आध्यात्मिक सारभाग को देखा जाये।

उपनिषद् और भारतीय ईसाइयत

भारत में ईसाई परम्परा के अनुसार भारत के दक्षिण-पश्चिमी भाग केरल

में ईसा की प्रथम शताब्दी में ही सन्त टॉमस (जो ईसा की सीधी शिष्य परम्परा में थे) के भारत आगमन से ईसाइयत की शुरुआत मानी गयी है। लगभग उसी समय यहूदी धर्म का भारत में आगमन हुआ और उसके आठ शताब्दी बाद जरथ्रूस्त्र धर्म भारत में आया। तब से अब तक ये सभी धर्म, हिन्दू धर्म के मातृवत् सहिष्णुता के साये में पले और बढ़े हैं।

पाश्चात्य ईसाइयत (चाहे वह कैथलिक हो या प्रोटेस्टेंट) ने भारत में अपनी घुसपैठ अत्यन्त अनैतिक तरीकों से सोलहवीं शताब्दी में विदेशी साम्राज्यवाद की छत्रछाया में की। परन्तु इन चार सौ वर्षों में भी बराबर असहिष्णु ईसाई धर्म और सहिष्णु एवं सर्वग्राही सनातन धर्म का पारस्परिक आदान-प्रदान चलता रहा, दोनों धर्म देश में सहअस्तित्व बनाये रहे, यहाँ तक कि अब ईसाई धर्म को अपनी भारतीय आत्मा का एहसास हुआ और उसने अपने भारतीय स्वरूप का दावा प्रारम्भ किया है। स्पष्ट है कि ऐसा होने से भारतीय ईसाइयत का भविष्य उज्ज्वल हो गया है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उसका सम्मान एक आध्यात्मिक शक्ति के रूप में बढ़ा है।

आज भारतीय ईसाइयत एक और दुविधा में पड़ गयी है। ईसाई धर्म-प्रचारक अपने प्रवचनों और पुस्तकों में अपने धर्म का वास्तविक रूप स्पष्ट करने के लिए वेदान्त की वैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग खुलकर करने लगे हैं। इससे ईसाइयत के पुराने कठमुल्ले, जो किसी अन्य धर्म के किसी भी अवलम्बन से परहेज करते रहे हैं, पीछे पड़ते जा रहे हैं। उधर भारत तेजी से औद्योगीकरण की ओर बढ़ता जा रहा है और इस प्रकार औद्योगिक समाज में जो नयी आध्यात्मिक चुनौतियाँ उभर कर आयी हैं उनका ईसाई धर्मावलम्बी तभी सामना कर सकते हैं जब वे वेदान्त की शैली को अपना लें और अपने धर्म के श्रुति भाग पर ही अधिक जोर दें (न कि स्मृति भाग पर)। 1913 जितना पहले, ईसाई मासिक पत्रिका, 'इण्डियन इन्टरप्रेटर' ने, आर० गॉर्डन मिलबर्न का 'क्रिश्चियन वेदान्तिज्म' शीर्षक से एक सारगर्भित लेख प्रकाशित किया था, जिसमें लेखक ने ईसाई धर्म को वेदान्तिक प्रभावों की स्वीकृति के लिए अपना द्वार खोलने की आवश्यकता पर जोर दिया है :

> भारत में ईसाई धर्म को वेदान्त की आवश्यकता है। हम पादरियों ने जितना चाहिए उसका आधा भी स्पष्ट रूप से नहीं समझा है। हम अपने ही धर्म में स्वतन्त्रता और आनन्दपूर्वक विचरण नहीं कर सकते, क्योंकि ईसाई धर्म में (भगवान के) अन्तर्यामी भावों को प्रकट करने के लिए हमारे पास काफी शब्दावली और अभिव्यक्ति की रीति नहीं है। एक बहुत उपयोगी कदम यह होगा कि वेदान्त साहित्य की कुछ पुस्तकों या परिच्छेदों को, मानो उन्हें (भारतीय) जाति सम्बन्धी (एथनिक) ओल्ड टेस्टामेण्ट कहकर मान लें। फिर धर्म संघ के अधिकारियों से यह अनुमति माँगी जा सकती है कि ईश्वर आराधना के समय ओल्ड टेस्टामेण्ट पाठ के विकल्प में भारतीय जाति सम्बन्धी ओल्ड टेस्टामेण्ट के प्रस्थान (कैनन) के

परिच्छेदों का न्यू टेस्टामेण्ट के पाठ के साथ पठन हो जायं।

अपनी पुस्तक 'क्रिश्चियानिटी ऐज भक्ति मार्ग' की 'भूमिका' में, 1926 जितना पहले, द क्रिश्चियन लिटरेचर सोसाइटी फार इण्डिया ने, अपनी 'इण्डियन स्टडीज सीरिज' में पहली पुस्तक के रूप में प्रकाशित की थी, लेखक ए० जे० अप्पास्वामी, एम० ए० (हर्वर्ड), डि० फिल० (ऑक्सन), एक प्रसिद्ध भारतीय ईसाई, लिखते हैं :

> आगामी काल में ईसाई धर्म का भारतीय चिन्तन के साथ कैसा सम्बन्ध रह पायेगा, और देश में वह एक जीवन्त शक्ति बना रहेगा, इसको समझने की कोशिश में, मेरे मन का झुकाव इस बात पर है कि वह आध्यात्मिक अनुभव पर अधिक जोर देगा।

इस पर जोर देते हुए कि यह आध्यात्मिक अनुभव-प्रवण भारतीय ईसाई धर्म, भक्ति का रूप लेगा, लेखक आगे कहते हैं :

> भारतीय धार्मिक पृष्ठभूमि में जब हम ईसाई धर्म की व्याख्या करने की बात करते हैं, तो हमें याद रखना चाहिए कि भारतीय धार्मिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति विभिन्न तत्त्वदर्शन प्रणालियों, कर्मकाण्डों तथा पवित्र ग्रन्थों में हुई है। इसीलिए भारत में ईसाई धर्म को भारतीय धार्मिक जीवन की धारा में एक विशिष्ट स्थान देने के लिए हमें यह निर्णय करना है कि भारत के धार्मिक जीवन का कौन-सा विशिष्ट रूप इस उद्देश्य के लिए सर्वाधिक संगत रहेगा। क्योंकि भारत में धार्मिक चिन्तन के अनेक रूप हैं, ईसाई चिन्तकों को अपने धार्मिक अनुभवों की अभिव्यक्ति को, भारत में परिचित शब्दावली और भावों के साथ ताल-मेल बैठाने के प्रयास को अनिवार्य रूप से करना होगा। परन्तु यदि इस प्रक्रिया के लिए हमने भारत की एक विशिष्ट धार्मिक धारा का सहारा न लिया तो कहीं ऐसा न हो कि ईसाई धर्म की लोग अलग-अलग तरह से व्याख्या करने लगें और ऐसा लगने लगे मानो भारत में कई प्रकार के ईसाई धर्म हैं।

उपनिषद् और भारतीय इस्लाम

अतीत में उपनिषदों का भारतीय इस्लाम पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। यद्यपि मुस्लिम सूफीवाद पर उपनिषदों का पर्याप्त प्रभाव रहा है परन्तु ध्यान देने की बात तो यह है कि इस्लाम सूफी मत का भी उतना ही विरोधी है जितना अन्य गैर-मुस्लिम मतों का।

पैगम्बर मुहम्मद ने ईश्वर और मानव के प्रति अपना प्रेम कुरान में फूंक-फूंक कर भर दिया है। (अल हज्ज हाफिज गुलाम सरवर के कुरान के अंग्रेजी अनुवाद

से कुछ आयतें नीचे दी जाती हैं)। कुरान की निम्न तीन आयत ईश्वर की महिमा का गान करती हैं। ऐसे अनेकानेक मन्त्र हमें वेद और उपनिषदों में प्राप्त हैं। कुरान की प्रारम्भिक आयतों में विरल आध्यात्मिक महिमा और सौन्दर्य है—

(हम आरम्भ करते हैं) अल्लाह् के नाम से,
परम दयालु (आदि से),
परम दयालु (अन्त तक),
सब प्रशस्ति अल्लाह् की है,
(जो) सब लोकों का स्वामी है,
परम दयालु (आदि से),
परम दयालु (अन्त तक),
कयामत के दिन के मालिक,
केवल आपको ही हम भजते हैं,
और आपसे ही हम सहायता माँगते हैं।
सन्मार्ग पर हमें चलाइये,
उनके पथ पर जिन पर आपका आशीर्वाद है,
उनका नहीं जिन पर (आपका) आक्रोश है,
न उनका जो नष्ट हो गये हैं।

दूसरे अध्याय की 255वीं आयत में ईश्वर की शक्ति और महिमा के बारे में हम पढ़ते हैं :

ईश्वर (अल्लाह)
उसके सिवा कोई दूसरा देवता नहीं,
सदैव रहने वाला,
सर्वाधार,
तन्द्रा उसे जीतती नहीं, और
न निद्रा।
उसी का है,
जो कुछ आकाश में है,
और जो कुछ पृथ्वी पर,
उसके सामने दूसरा कौन है,
उसके अधिकार के बिना ?
वही जानते हैं क्या है उसके सामने,
और क्या उसके पीछे,
और वे उसके ज्ञान को, वे उसकी
मरजी के बिना नहीं पाते;

और आकाश तथा पृथ्वी पर उसका वैभव फैला है,
और उसकी देख-रेख में वह थकते नहीं,
और वह है,
सबसे ऊपर,
सबसे ऊँचे ।

तीसरे अध्याय की 25वीं आयत ईश्वर की महिमा गाती है :

कहो, हे ईश्वर ! राज्य के मालिक,
आप चाहे जिसे राज्य देते हैं,
और चाहे जिससे छीन लेते हैं,
और जिसे चाहें उसे ऊँचा उठा देते हैं,
और जिसे चाहें नीचे गिरा देते हैं,
समस्त भलाई आप के हाथ में है,
जो चाहें सब करने में आप समर्थ हैं ।

कुरान में स्पष्ट किया गया है कि मोक्ष मुसलमानों का ही एकाधिकार नहीं है। दूसरे अध्याय की 62वीं आयत कहती है :

उनके बारे में जो विश्वास करते हैं (कुरान में),
और यहूदी,
और ईसाई,
और सबाई,
जो कोई ईश्वर में विश्वास करता है,
और कयामत के दिन पर,
और भलाई करता है,
ऐसे लोगों के लिए, तब, उनके ईश्वर के पास इनाम है,
उन्हें कोई भय नहीं रहेगा,
और न वह दुःखी होंगे ।

कुरान में दिव्य कृपा पाने के लिए, एक ही शर्त है, सत् जीवन व सत् कर्म की परिपूर्ति, न कि किसी मतवाद की मान्यता (वही, 2.177) :

अपना मुँह फेर देने में कोई पुण्य नहीं,
पूरब या पश्चिम की ओर,
किन्तु पुण्यात्मा वह है, जो विश्वास करता है ईश्वर में,
और कयामत के दिन (में),
और फरिश्तों (में),
और किताब (में),
और पैगम्बरों (में),

और अपना धन देता है, उसके प्यारा होने पर भी,
सगे सम्बन्धियों को,
और अनाथों को,
और जरूरतमन्दों को,
और बटोही को,
और भिखारियों को,
और कीमत चुकाकर दास उद्धार में,
और जो प्रार्थना में निरत है,
और विहित ज़कात (दान) देता है,
और जो प्रतिज्ञा करने पर प्रतिज्ञा पूरी करते हैं,
और जो मेहनत करने वाले हैं (श्रमजीवी),
कष्टावस्था में,
और हानि में,
और युद्ध-काल में,
ये हैं सच्चे इन्सान,
और ये श्रद्धालु हैं।

पैगम्बर ने, गैर-मुस्लिम के साथ बरताव में सहिष्णुता व सम्मान का ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया है। दूसरे अध्याय की 256वीं आयत में, धार्मिक सहिष्णुता व भाईचारा-भाव कुरान को मान्य है :

धर्म में कोई दबाव न हो,
कुमार्ग सुमार्ग से साफ भिन्न दिखा दिया गया है,
तो जो अतिक्रामक पर अविश्वास करता है,
और ईश्वर में विश्वास करता है,
उसे तब, पकड़ने को दृढ़ हत्था मिल गया है।
इसलिए (जिसका) टूटने का भय नहीं,
तथा ईश्वर सुनते हैं जानते हैं।

चौथे अध्याय की 135वीं आयत में (पाँचवें अध्याय की 8वीं आयत में भी) परस्पर व्यक्तिगत व्यवहारों में न्याय और समता के भाव पर जोर देते हैं :

हे विश्वास करने वालो !
न्याय के रक्षक बनो,
ईश्वर के लिए साक्षी,
और चाहे तुम्हारे विरुद्ध हो,
या तुम्हारे माता-पिता,
और भाई-बन्धों के।

कोई मनुष्य धनी हो या निर्धन
तो (तुम्हारी अपेक्षा) ईश्वर उनके निकट है,
इसलिए, अपनी नीच कामनाओं के पीछे मत चलो,
कहीं तुम अन्याय न करने लगो।
यदि तुम (प्रमाण को) विकृत करो,
या उससे दूर रहो,
तो, अवश्य ही, ईश्वर अच्छी तरह जानते हैं कि तुम क्या करते हो।

ऐसी तथा इनके सदृश कुरान की अन्य आयतें ऐसे सत्यों का प्रस्थापन करती हैं, जो नित्य और सार्वभौमिक हैं, भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की भाषा में वे इस्लाम का श्रुतिभाग हैं। यह इस्लाम ईश्वर की ओर ले जाने वाला एक पथ है। इस्लाम का एक और भी पहलू है, सामाजिक जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण जो कुरान के उस विस्तृत स्मृति अंश में समाहित है, जिसमें उन विचारों और मूल्यों का समावेश है, जो पैगम्बर ने अपनी जाति को एक अरब राष्ट्र गठन के लिए दिये। उनका प्रयोग सीमित है, क्योंकि उसमें व्यक्तिगत नियमों तथा सामाजिक विधिनियमों का समावेश है। उन सब अंशों का जो एक धर्म की सामाजिक-राजनीतिक विषय-वस्तु हैं, कोई धर्म ग्रन्थ इन पर सब काल और सब जातियों के लिए कानून नहीं बना सकता। जो कानून सातवीं शती के अरब लोगों के लिए हितकर थे, आवश्यक नहीं कि वे बीसवीं सदी में भी भारतीयों या हिन्देशियायियों को, यूरोपियन या अमरीकन लोगों को, यहाँ तक कि बीसवीं सदी में स्वयं अरबों के भी लिए हितकर हों। प्रगतिशील अरब राज्य आज, आधुनिक युग की माँग के अनुकूल बुद्धिमानी से उनमें परिवर्तन कर रहे हैं।

किन्तु कुरान का आध्यात्मिक सन्देश, जिसकी शिक्षा मनुष्य के लिए आध्यात्मिक अनुभूति का पथ प्रशस्त करती है, शाश्वत और सार्वभौमिक है। सक्रिय सामाजिक परिवर्तन कालों में, प्रत्येक धर्म की पुनर्व्याख्या होती रहनी चाहिए जिसमें उसके भाव पर अधिक जोर हो और उसके अक्षर पर कम, शाश्वत तत्त्व पर अधिक ध्यान दिया जाए और ऐतिहासिक तत्त्व पर कम, जिससे वह नवयुग की चुनौती के मुकाबले के लिए पुनर्गठित होकर प्रकट हो सके। न्यू टैस्टामैण्ट में ठीक ही लिखा है कि जो लोग भावना को छोड़कर केवल लकीर के फकीर होकर धर्म-ग्रन्थों में दिए वाक्यों पर चलते हैं उनका विनाश अवश्यम्भावी है। परन्तु उन ग्रन्थों की भावना के अनुरूप चलने वाले जीवन की सफलता सिद्ध करेंगे।

इस्लाम के सूफी आन्दोलन ने, जिसका जन्म इस्लाम के ईसाई आध्यात्मिक-अनुभववाद (मिस्टिसिज्म) और प्राक् इस्लामी ईरानी आध्यात्मिक परम्परा के सम्पर्क से हुआ, इस्लाम के श्रुति अंश पर, उसके गैर-ऐतिहासिक अंशों पर, उसके सनातन आध्यात्मिक सारभाग पर जोर देने का प्रयत्न किया—यहाँ इस्लाम

आध्यात्मिक मार्ग के रूप में सर्वाधिक भासता है। उसे पहली स्वागत भूमि मिली, मैसोपोटामिया व ईरान में, बाद को भारत में, जहाँ वेदान्त का उस पर जबरदस्त प्रभाव हुआ। किन्तु हर जगह उसे इस कट्टरपन्थी इस्लाम के विरोध और उत्पीड़न का सामना करना पड़ा। कट्टर इस्लाम अपने स्मृति अंशों के प्रति पूरी तरह निष्ठावान् था, जिसमें संकीर्ण सामाजिक-राजनीतिक विचारधारा और कार्यक्रम शामिल थे। इन कार्यक्रमों का सूत्रपात अधिकांश उच्चाकांक्षी राजाओं तथा निदारुण सामरिक सेनापतियों ने किया था। जिन सामाजिक-राजनीतिक विचारधाराओं को ऊँचे नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों से प्रेरणा नहीं मिलती, वे मनुष्य की उन निम्न प्रवृत्तियों का पोषण करते हैं, जिनसे स्वार्थपरता और असहिष्णुता, हिंसा और युद्ध उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक धर्म का पहला लक्ष्य मनुष्य की इन निम्न प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण और अनुशासन करना है। किन्तु इसके विपरीत जब स्वार्थान्ध राजा और सेनापति धर्म को अपनी चेरी बनाकर रखें तो धर्म बजाय जीवन को नया स्तर देने के स्वयं उन पापियों के जीवन-दर्शन को प्रतिबिम्बित करने लगता है। इस्लाम और ईसाइयत दोनों के साथ ऐसा ही हुआ है। ईश्वर और मनुष्य के प्रेमी, इस्लाम के सन्त चुप कर दिये गये और इस्लाम की आवाज, अज्ञानी, जोशीले, युद्धप्रिय आक्रान्ताओं द्वारा प्रचारित होने लगी। ये लोग गैर-इस्लामी और आद्योपान्त सांसारिक थे, जो लूट, सत्ता और विषयभोग की खोज में थे, जिन्होंने अपनी सांसारिक वासनाओं को छिपाने के लिए, इस्लाम के नाम का उपयोग और दुरुपयोग किया।

इस्लाम के जन्म के पश्चात् पहली चार शताब्दियों में भारत का इस्लाम के साथ सम्पर्क अरब के मुस्लिम व्यापारियों तथा प्रचारकों द्वारा हुआ। यह कालांश अन्तर्धार्मिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के उस सहज रूप को दिखाता है जो शान्तिपूर्ण आदान-प्रदान होने से एक दूसरे के लाभ में फलीभूत हुआ था। यही वह कालांश था जब इस्लाम अपनी शक्ति और महिमा के शिखर पर पहुँचा था, जब अरब मानस नये विचारों को ग्रहण करने के लिए उत्सुक था तथा ग्रीको-रोमन, ईरानियन और भारतीय संस्कृतियों से वह अबाध रूप से नये-नये विचार ग्रहण कर रहा था।

किन्तु तेरहवीं सदी के आरम्भ से, यह सब बदल गया। साम्राज्य, सत्ता और विलासिता के पीछे-पीछे कलह और नैतिक भ्रष्टता पैदा हो गये जिसने सीधे-सादे मरुवासी अरबों को घबरा दिया; तथा उस सदी के मध्यकाल में मुगल आक्रमणों ने अरबों का इस्लाम पर एकाधिपत्य सदा के लिए नष्ट कर दिया। इस्लामिक ज्ञान और संस्कृति नीचे की ओर जाने लगे। यह स्थिति कई शती तक जारी रही। आक्रान्ताओं ने तथा उनके पीछे अन्य मध्य-एशियाई गुटों ने इस्लाम अपना लिया, या यों कहना चाहिए कि स्वयं इस्लाम को उन्होंने निम्न स्तर के सांस्कृतिक आदर्शों और अभिप्रायों के अनुकूल बना लिया। अब इस्लाम को विवेक और सत्य की

आवश्यकता न रही। प्रतिक्रियावादी मुल्ले और अत्याचारी शासकों का एक ऐसा गठबन्धन देखने में आया जिसकी मिसाल मिलना मुश्किल है। अत्याचारी शासक हिंसक युद्धों, लूटपाट और सब प्रकार के कुकृत्यों पर उतारू थे और धर्म के ठेकेदार ये काजी और मुल्ले उनके सभी कुकृत्यों को धर्मानुकूल कहकर उन पर अपनी छाप लगा रहे थे। कालान्तर में इसी प्रकार के हिंसक अभियानों को 'जेहाद' (धर्मयुद्ध) की संज्ञा प्रदान की गयी।

भारत में भी बारहवीं सदी से आगे भारतीय धर्म का योजनाबद्ध ध्वंस इस्लाम के इन अनपढ़ और क्रूर आक्रान्ताओं का काम था। ये आक्रान्ता यह भूल गये थे कि पिछली सदियों में भारतीय विद्या और प्रज्ञा, विज्ञान और मानवतावाद के पथ-प्रदर्शक रहे थे और इन बातों में इस्लाम स्वयं भारतीय संस्कृति और धर्म का ऋणी था। शान्ति और मैत्री का वह सद्‌भाव जो बारहवीं सदी से पहले इस्लामी दुनिया और भारत के बीच विद्यमान था यदि चलता रहता और इस्लाम का भारत में प्रवेश इन आक्रान्ताओं के खूंख्वार तरीकों के द्वारा न होता तो शायद भारत के इतिहास, भारतीय इस्लाम और हिन्दू समाज का रूप ही कुछ और होता। जहाँ इस्लाम रूढ़िगत जातिवाद से ग्रसित हिन्दू धर्म को समानता का सन्देश देता वहाँ हिन्दुत्व भी इस्लाम को वेदान्त के दृष्टिकोण और सहिष्णुता से परिपूर्ण करता। परन्तु ऐसे हिंसापूर्ण कुकृत्य से इस्लाम हिन्दू की आँख में खटकने लगा। जो सम्बन्ध एक दूसरे वातावरण में पूरी मानव-जाति की सांस्कृतिक विरासत में एक शानदार अध्याय जोड़ते, वही इतने कटु सिद्ध हुए कि भारतीय प्रज्ञा के लिए आज वे बड़ी भारी चुनौती बने हुए हैं। यह बात दूसरी है कि भारत अपनी औपनिषदिक सम्पदा के बल पर उसका डटकर मुकाबला कर रहा है।

ईश्वर और मनुष्य के प्रति प्रेम के, मानव सम्बन्धों में न्याय और समभाव के, मनुष्य के बीच समानता के, तथा अन्य धर्मों के प्रति आदर और सहिष्णुता के सब महान् आदर्श—संक्षेप में इस्लाम के सब ही श्रुति अंश, जो किसी भी धर्म को गतिशील बनाये रखते हैं, कट्टरता और असहिष्णुता के शिकार हुए। इस्लाम के इस प्रतिक्रियावादी स्वरूप से केवल हिन्दू और उनके सन्त ही प्रभावित नहीं हुए, अपितु स्वयं वे मुस्लिम सन्त भी, जो प्रगतिशील आध्यात्मिक विचारों के थे और न्यायपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों में जिनकी आस्था थी, इस कट्टरवादी उत्पीड़न से न बच सके। परन्तु इस्लाम के श्रुति अंश की जीवन्तता इस बात से स्पष्ट है कि इस कट्टरवाद के रहते-रहते दोनों संस्कृतियों में काफी आदान-प्रदान हुआ और मुसलमान सन्त समय-समय पर अपने आध्यात्मिक अनुभवों और अपने धर्म में अन्तर्निहित शाश्वत और सार्वभौमिक तत्त्वों को जनमानस के समक्ष लाते रहे। कभी-कभी शेरशाह, हुमायूँ और अकबर जैसे विवेकी, प्रगतिशील बादशाहों ने भी शासन-सूत्र सम्भाला। ये वे लोग थे जिन्होंने वेदान्तिक प्रज्ञा का सम्मान किया, और उसकी सराहना की।

मुस्लिम असहिष्णुता के बीच हिन्दू सहिष्णुता केवल इसलिए कायम रही, क्योंकि वह एक आध्यात्मिक दृष्टि और दार्शनिक दृढ़ विश्वास का प्रतिफल थी, जो उपनिषदों की विरासत है तथा जो भारतीय दृष्टिकोण और जीवन का अविभाज्य अंग बन चुकी है। देखने की एक बात यह भी है कि जहाँ भारतीयों के दृष्टिकोण में सहिष्णुता का स्रोत उनकी धार्मिक आस्था है; वहाँ पाश्चात्य देशों में ज्यों-ज्यों मनुष्य की आस्था धर्म से डिगी है त्यों-त्यों उसमें सहिष्णुता का विकास हुआ है। इस भारतीय उपागम की व्याख्या करते हुए डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् कहते हैं :

> सहिष्णुता, सीमित मन की, अनन्त की, अक्षरता के प्रति श्रद्धांजलि है।[1]

स्वयं मुस्लिम इतिहासकारों ने मुस्लिम असहिष्णुता और हिन्दू सहिष्णुता के सहअस्तित्व को स्वीकारा है। डा० राधाकृष्णन् ने निम्नलिखित परिच्छेद मरे की 'डिस्कवरीज एण्ड ट्रेवल्स इन एशिया' (भाग 2, पृष्ठ 20) से उद्धृत किया है जिसमें लेखक ने केरल स्थित कालीकट के हिन्दू राजा के दरबार में नियुक्त फारस (ईरान) के एक मुस्लिम राजदूत की इस विषय पर टिप्पणी दी है :

> यहाँ के (कालीकट के) लोग काफिर हैं, इसलिए मैं (अब्दुर रज्जाक खाँ बर्नी, लगभग पन्द्रहवीं शती के मध्यभाग में फारस का राजदूत) अपने को, दुश्मन के देश में रहता हुआ समझता हूँ, जैसा कि सब मुसलमान उन सबको समझते हैं, जिन्होंने कुरान को ग्रहण नहीं किया। फिर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे प्रति पूरी सहिष्णुता है और रियायत भी; हमारी दो मस्जिदें हैं तथा हमें खुलेआम नमाज पढ़ने की अनुमति प्राप्त है।[2]

औरंगजेब के शासनकाल का इतिहासकार, कट्टर मुस्लिम खफी खाँ भी दक्षिण के शासक शिवाजी की भारी सराहना करने को बाध्य हुआ, जो एक ओर तो हिन्दू मुसलमान को समभाव से दुलारते थे और उनके पवित्र स्थानों की समभाव से देखरेख करते थे, और दूसरी ओर औरंगजेब द्वारा हिन्दुओं पर दमनपूर्ण अत्याचारी नीति का पूरा-पूरा प्रतिरोध करते थे। ऐसी ही सुसंस्कृत दृष्टि और नीति पंजाब में गुरु गोविन्दसिंह ने बादशाह की असहिष्णुता व अत्याचार के विरुद्ध कठोर संघर्ष में अपनायी थी। अन्ततोगत्वा इस बादशाह ने अपनी ही मूर्खतावश 1707 में अपनी मृत्यु के समय प्रबल मुगल साम्राज्य का पतन स्वयं अपनी आँखों से देखा। इतिहासकार एस० एन० सेन कहते हैं :

> धार्मिक असहिष्णुता जैसी चीज भारत में शायद ही कभी देखने में आयी हो। शिवाजी की हिन्दू साम्राज्य की कल्पना में किसी भी परधर्मावलम्बी का उत्पीड़न शामिल नहीं था। उन्होंने बीजापुर से भागे हुए सात सौ पठान

1 सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट, 317।
2 वही, 312।

(मुस्लिम) अपनी सेना में भर्ती कर रखे थे। नौ-सेना में कम से कम तीन कमांडर मुस्लिम थे। शिवाजी मुसलमान सन्त शेख मुहम्मद का वैसा ही आदर करते थे, जैसा कि हिन्दू सन्त, तुकाराम और रामदास का। उन्होंने इनाम-जमीनें, मुस्लिम सन्तों की दरगाहों में रोशनी करने और भोग लगाने के लिए दे रखी थी तथा मुस्लिम मस्जिदों का खर्चा सरकारी खजाने से चलता था। अपने जीवन में केवल एक बार ऐसा हुआ जबकि उन्होंने एक मुस्लिम सन्त द्वारा शरण दिये गये कुछ भगोड़ों को नहीं बख्शा। मुसलमानों के पवित्र धर्मग्रन्थों को उचित सम्मान देने से वे कभी नहीं चूके। मुस्लिम इतिहासकार खफी खाँ को भी मजबूर होकर स्वीकारना पड़ा है कि उन्होंने यह नियम बना दिया था कि जहाँ भी उनके आदमी लूटमार को जायें, वहाँ किसी मस्जिद को, धर्मग्रन्थ को या किसी स्त्री को क्षति न पहुँचायें। जब पवित्र कुरान की कोई प्रति उनके हाथ पड़ती तो उसे वह सम्मानपूर्वक रखकर अपने किसी मुस्लिम अनुयायी को दे देते। जब कोई हिन्दू या मुसलमान स्त्रियाँ उनके आदमियों द्वारा बन्दी बना ली जातीं, तथा उनका कोई मित्र न होता, तो उनकी वह उस समय तक निगरानी करते, जब तक अभिभावक उन्हें छुड़ाने के लिए अच्छी रकम न ले आते।[1]

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में असहिष्णुता का तत्त्व केवल इस बात का प्रतिफल था कि सारा जोर उसके स्मृति अंश पर डाला गया और धार्मिक संकीर्णता तथा आक्रामक आततायियों ने धर्म की रूढ़िवादी व्याख्या को वास्तविक धर्म का रूप दिये रखा। ऐसा होते हुए भी आज इस्लाम एक नये युगधर्म की खोज में है जिसका आधार तो इस्लाम के शाश्वत तत्त्व ही रहेंगे परन्तु जिसके स्मृति अंश आज के वैज्ञानिक और मानवतावादी युग के अनुरूप ढले होंगे। इस्लाम के इस प्रगतिशील रूप ने कई अरब राज्यों में लाखों लोगों के मानस को प्रभावित किया है।

यह सही है कि भारत में इस्लाम का यह नवीकरण अभी तक नहीं हुआ है; इसका एक कारण यह है कि 1947 तक विदेशी शासकों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रतिक्रियावादी इस्लामिक तत्त्वों को प्रोत्साहन दिया। प्रतिफल हुआ देश का विभाजन। उसके बाद भी इन पिछड़े हुए प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का बोलबाला रहा जो अपने को भारत में इस्लाम का ठेकेदार बताते रहे हैं। हो सकता है भारत और पाकिस्तान में विशेष परिस्थितियों के कारण इस्लाम के इस नवीकरण की शुरूआत कुछ देर से हो। परन्तु आधुनिक चिन्तनधारा में शिक्षित होकर जो युवक-युवतियाँ आज तैयार हो रहे हैं उनमें एक ओर तो धर्म के प्रति कोई आस्था नहीं है, दूसरे वे इतने तर्कशील हैं कि कोई भी बात अकारण ही उनसे मनवायी नहीं जा सकती।

[1] एस० एन० सेन, द मिलिट्री सिस्टम आव द मराठाज, 18

वह दिन दूर नहीं जब यह नई मुस्लिम पीढ़ी अपने धर्म की प्रत्येक परम्परा को तर्क की कसौटी पर रखेगी और जो कुछ उन्हें सारहीन जँचेगा उसे वे धर्म से पृथक् कर देंगे। यह सब कुछ अनहोनी बात नहीं है। इतिहास साक्षी है कि स्वतन्त्रमना हिन्दुओं ने हिन्दू धर्म और स्वतन्त्रमना ईसाइयों ने ईसाई धर्म पर ऐसी शुद्धि-प्रक्रिया के फलस्वरूप अनेक सुधारों को अपने-अपने धर्मों में प्रचलित किया है।

एक बार इस्लाम में ऐसी सुधार प्रक्रिया आरम्भ होने पर दो ही विकल्प सामने आ सकते हैं; या तो इस्लाम का वह हाल हो जायेगा जो प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म का हुआ। धर्म-सुधारक इस्लाम की अन्तर्दृष्टि से अपरिचित होने के कारण अनास्था-पूर्वक धर्म का लौकिकीकरण करने पर तुल जायेंगे और इस्लाम का रूप एक समाज-सुधार कार्यक्रम का सा हो जायेगा। या फिर वे एक रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाकर चलेंगे जिससे इस्लाम का शाश्वत और सार्वभौमिक आध्यात्मिक रूप निखर कर सामने आयेगा जो अन्य धर्मों से सहिष्णुतापूर्वक बरतेगा। इस प्रकार आधुनिक मुस्लिम युवक और युवतियों को धर्म का वह रूप एक नई सान्त्वना देगा। तब स्थिति आज जैसी न होगी जिसके अन्दर धर्म के प्रतिक्रियावादी रूप से युवकों की धार्मिक उत्सुकता शान्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

धर्म के सार भाग की ऐसी खोज और सारहीन का निराकरण इस्लामी आध्यात्मिकता की प्राचीन परम्परा है। मसनवी का दर्जा पवित्रता में केवल कुरान से दूसरा माना गया है। डा० भगवानदास ने प्रसिद्ध पुस्तक में मसनवी के एक शेर का उल्लेख किया है,[1] जिसमें लेखक, मौलाना जलालउद्दीन रूमी, ने सुन्दर फारसी में अपने ग्रन्थ रचने का आशय ठीक ऐसा ही बयान किया है—

मन जे कुरान मग्ज़ रा बरदाश्तम्,
उस्तुखां पेशे सगां अन्दाख्तम्।

मैंने कुरान से मगज निकाल लिया। सूखी हड्डियाँ कुत्तों के सामने फेंक दीं।

जब कुरान के बारे में ऐसा किया जायेगा तो उसके स्मृति अंशों की युक्ति-युक्त छानबीन की जायेगी—छानबीन के इन क्षेत्रों का सम्बन्ध अधिकतर मुसलमानों के वैयक्तिक कानूनों यथा विवाह, विरासत जैसे सामाजिक कानूनों से होगा। इस सारे कार्य को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्तिम रूप देने का काम जहाँ एक ओर तत्कालीन सामाजिक चेतना से प्रभावित होगा वहाँ दूसरी ओर विधानसभाएँ इसको कानूनी स्वरूप प्रदान करेंगी।

ऊपर बताये इन दो विकल्पों का मतलब, या तो धर्म का लौकिकीकरण (सेक्युलराइजेशन) होगा या मनुष्य के लौकिक जीवन का अध्यात्मीकरण अर्थात् धर्म में निहित आध्यात्मिक सत्यों के सारभाग के अनुकूल, मनुष्य के लौकिक जीवन

1 डा० भगवानदास, एसेन्शल यूनिटि ऑव ऑल रिलिजन्स, भारतीय विद्या भवन ऐडिशन, 100

को पुष्ट करने की समसामयिक माँग पूरी होगी।

इन दोनों विकल्पों के बारे में दूसरे देशों में इस्लाम की भावी गति कुछ भी हो परन्तु भारत में इस्लाम का दिशा-दर्शन जहाँ उसके अपने अन्दर की आध्यात्मिक शक्तियों से होगा वहाँ उसका भारतीय परिवेश भी कम प्रभावशाली साबित न होगा। इस्लाम के भारतीय परिवेश में, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ और आध्यात्मिकता पर आधारित और आध्यात्मिकता की दिशादर्शक भारत की पुरातन संस्कृति, शामिल होंगे। जहाँ तक धर्म का प्रश्न है ये दोनों तत्त्व ऐसे हैं जिनके पीछे बलदायिनी, पावनी और एकीकरणी औपनिषदिक तत्त्व दर्शन की दृष्टि विद्यमान है। इस्लाम और हिन्दू धर्म के बहुत से पुराने और नये विद्वानों और चिंतकों ने यह दृढ़ विश्वास प्रकट किया है कि इस्लाम का आध्यात्मिक सारभाग इस दर्शन और दृष्टि के पूर्णतः अनुकूल है। इस्लाम की कुछ व्यावहारिक उपलब्धियाँ जैसे सामाजिक समता भाव स्वयं हिन्दू धर्म की इनके सदृश उपलब्धियों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अब इन दो सदृश आध्यात्मिक शक्तियों का घनिष्टतर मेल न केवल स्वतन्त्र, समतापूर्ण, अध्यात्म-प्रवण, एवं प्रगतिशील आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय समाज के विकास में सहायक होगा, बल्कि भारतीय आध्यात्मिक प्रतिभा की छाप लिये हुए एक सुव्यक्त भारतीय इस्लाम के विकास में फलित होगा।

राजनीति से प्रेरित होने के कारण इस्लाम के पुनरुत्थान आन्दोलन, हिन्दू और ईसाई धर्मावलम्बियों से मुसलमानों को दूर हटाते रहे। परन्तु आज दो बातें ऐसी हैं कि जिनके प्रभाव से इस्लाम ही क्या कोई भी धर्म नहीं बच सकता। पहली बात है—समाज पर आधुनिक शिक्षा का प्रभाव। दूसरा कारण है भारतीय प्रजातन्त्र का स्वाधीन वातावरण। इन दो बातों के होते हुए प्रत्येक धर्म को अवसर है कि वह अपना सर्वश्रेष्ठ स्वरूप प्रकाशमान करे। भारतीय इस्लाम जब इस सुयोग का उपयोग करेगा तब वह वेदान्त के प्रभाव से शून्य न रह पायेगा। यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि तब कुरान की व्याख्याएँ औपनिषदिक सन्दर्भ में भी होंगी। स्वामी विवेकानन्द का विश्वास था कि भारत के आधुनिक नवजागरण काल में वेदान्त और इस्लाम के आध्यात्मिक तत्त्वों का सुखद समन्वय होगा। भारतीय इस्लाम का यही शानदार भविष्य उसके सामने है।

उपनिषद् और भारतीय लौकिकीकरण

क्रूस और हिलाल सारी दुनिया में एक दूसरे से लड़ते रहे हैं। भारतीय प्रसंग में, इसमें आज एक भारी परिवर्तन होने को है। जब भारतीय ईसाई धर्म और भारतीय इस्लाम अपना सही आध्यात्मिक स्वरूप पहचान लेंगे, तो वे सुव्यक्त राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आध्यात्मिक शक्तियाँ बनकर एक दूसरे के साथ तथा अन्य संसार-व्यापक धर्मों के साथ सामंजस्य कर सकेंगे। स्वयं भारत के लिए, यह उस

प्रक्रम का पर्यवसान होगा, जिसका स्वामी विवेकानन्द ने 'भारत की अपनी बिखरी हुई आध्यात्मिक शक्तियों का सम्मिलन' कहकर उल्लेख किया है। भारतीय संविधान और भारतीय राष्ट्र, भावपूर्ण आवेग के साथ स्वतन्त्रता के आदर्श से प्रतिबद्ध हैं— विचार और अन्तर्भावना की स्वतन्त्रता, अपने वरण किये हुए धर्म को मानने और पालन करने की स्वतन्त्रता, यहाँ तक कि बिना किसी धर्म के माने हुए रहने की स्वतन्त्रता। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, 'वृद्धि के लिए स्वतन्त्रता ही एक शर्त है।' 'प्रैक्टिकल वेदान्त' (व्यावहारिक वेदान्त) भाषण माला के दौरान, स्वामी विवेकानन्द ने भावपूर्ण शब्दों में लन्दन में 1896 में कहा—

> तर्क का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है और यदि कोई तर्क के आधार पर नास्तिक बने तो मैं किसी भी धर्मान्ध से उसे अच्छा समझूँगा। तर्क के सामने कोई भी प्रमाण मान्य नहीं है। हमको प्रगति, विकास और अनुभूति की आवश्यकता है। किसी सिद्धान्त ने मनुष्य को उन्नत नहीं बनाया। किसी भी पुस्तक ने मनुष्य को पवित्र नहीं बनाया। उन्नति और पवित्रता मनुष्य को मिली है अनुभूति से, और अनुभूति का स्रोत है मनन। मनुष्य मनन करे। आखिर मिट्टी के ढेले और आदमी में क्या अन्तर है? यही न कि मिट्टी का ढेला चिन्तन नहीं करता, वह मिट्टी का ढेला ही रहता है। मनुष्य की महिमा उसके चिन्तनशील प्राणी होने में है। मनुष्य का स्वभाव चिन्तन करने का है। इसी में मनुष्य और पशु का भेद है। सत्ता प्रमाण हमारे देश में इस सीमा तक माना गया है कि मैं अब उस पर विश्वास नहीं रखता। सत्ता प्रमाण के दोष देखकर तो मेरा विश्वास तर्क में और भी अधिक हो गया है और अब मैं तर्कयुक्त जीवन पसन्द करता हूँ।[1]

भारतीय शासन द्वारा इन मौलिक स्वतन्त्रताओं की गारण्टी भारतीय नागरिकों के सर्वतोमुखी विकास के लिए है। भारत में दुनिया की आबादी का सातवाँ हिस्सा रहता है। इन सब लोगों को चिन्तन और नेतृत्व के रास्ते पर डालना और स्वतन्त्रता के माध्यम से उनके व्यक्तित्व की पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखना एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

1949 में भारत की संविधान निर्मातृ परिषद् ने भारत के संविधान को स्वीकृति दी। इस परिषद् के अधिकांश सदस्य धर्म-विश्वासी थे। फिर भी उन्होंने अपने अति-धर्मपरायण देश के लिए लौकिकीकरण की नीति और सिद्धान्तों का वरण किया। हमें इसकी महत्ता को स्वीकार करना चाहिए। डा० राधाकृष्णन् ने इन शब्दों में इसका महत्त्व बताया है:

> यद्यपि ईश्वर में विश्वास हमारी परम्परा का मूल है तथापि भारत का शासन न तो किसी धर्म विशेष से तादात्म्य स्थापित करेगा और न उसके

1 कम्पलीट वर्क्स, भाग 2, 336।

हाथ में शासन की बागडोर देगा। भारतीय शासन का यह रुख जिसमें सर्व-धर्म-समभाव, उदारता और सहिष्णुता का दृष्टिकोण शामिल है राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक विशेष भूमिका का संकेतक है। भारतीय शासन के सर्व-धर्म-समभाव को नास्तिकता समझना गहरी भूल है। सेक्युलरिज्म या लौकिकीकरण का सही अर्थ तभी समझा जा सकेगा जब उसकी व्याख्या भारत की प्राचीन धार्मिक परम्परा के अनुसार की जाये। भारतीय परम्परा ने कभी भी व्यक्ति को समाज के अधीन नहीं बनाया बल्कि व्यक्ति और समाज में एक सामंजस्य पैदा किया। इस प्रकार जो सामाजिक भ्रातृभाव फैला उसका मूल 'एकता में अनेकता' के सिद्धान्त में है; और इसी से किसी भी समाज में रचनात्मक वृत्ति की शुरूआत होती है।[1]

इस प्रकार का 'सेक्युलर' राज्य न तो धर्म के प्रति उदासीन होगा और न ही धर्म-विरोधी-नास्तिकता का पोषक। ऐसे राज्य का विश्वास होगा कि व्यक्तित्व का जहाँ आधिभौतिक पहलू है वहाँ आध्यात्मिक पहलू भी है। ऐसे राष्ट्र को वेदान्तिक राष्ट्र कहना अधिक उपयुक्त होगा; क्योंकि उसके पीछे सहिष्णुता और सर्वग्राह्यता की औपनिषदिक परम्परा की प्रेरणा होगी। दुनिया के किसी भाग में या किसी काल में यहाँ तक कि भारत के इतिहास में भी कहीं ऐसे 'सेक्युलर' राज्य का पता नहीं मिलता। यह बात ठीक है कि भारत के इतिहास में ऐसे महान् शासकों की कमी नहीं रही है जो सहिष्णुता और परधर्म के प्रति भ्रातृभाव की भावना से ओत-प्रोत थे, किन्तु उनके यहाँ भी किसी एक धर्म को ही राजकीय मान्यता प्राप्त थी। उधर पश्चिम के देशों में ऐसे राष्ट्र देखने को मिलते हैं जो विभिन्न धर्मों का पलड़ा बराबर रखते थे, परन्तु जब तक उनके राजनीतिक उद्देश्यों का ही सवाल न पड़ जाये, वे सब धर्मों के प्रति उदासीन रहते थे। यह बात विशेष रूप से रोमन साम्राज्य पर भी लागू थी। संयुक्त राज्य अमरीका में शासन आज के भारत की धारणा के कुछ-कुछ निकट है। वहाँ पर राज्य का विश्वास ईश्वर और धर्म में होते हुए भी राज्य के संचालन में चर्च का कोई हस्तक्षेप नहीं है। परन्तु देखने की बात यह है कि वहाँ का राजनीतिक दर्शन किसी के व्यक्तित्व के आध्यात्मिक पहलू से कोई सरोकार नहीं रखता। उसका सम्बन्ध तो व्यक्ति के सामाजिक आचरण मात्र से है। वास्तव में व्यक्तित्व के बाहरी पहलू के साथ-साथ उसके आध्यात्मिक पहलू पर जब तक ध्यान न हो तब तक व्यक्तित्व की समग्रता का दर्शन नहीं हो सकता। वेदान्त का यही समग्रवादी दृष्टिकोण है।

नये टेस्टामेण्ट की यह उक्ति 'जो सीजर का है, सीजर को दे दो, तथा जो ईश्वर का है वह ईश्वर को दे दो' अधिक से अधिक एक कामचलाऊ सिद्धान्त है। वह मनुष्य को ऐसी दो असमन्वित (बेमेल) दुनियाओं का वासी बना छोड़ता

1 डा० राधाकृष्णन्, रिकवरी ऑव फेथ, 202।

है, जिसमें कोई भी एक, दूसरे पर अतिक्रमण कर सकता है, या दूसरे से अतिक्रमित हो सकता है—जिससे मानव प्रगति और कल्याण की हानि हो सकती है। इतिहास में ये दोनों घट चुके हैं। ईश्वर और सीजर की युगलबन्दी का पहले कुछ भी औचित्य रहा हो, किन्तु आज के आधुनिक युग के अपूर्व प्रबोधन और प्रगति के साथ ये नितान्त असंगत है। अब मानव अनुभव का कोई पहलू तर्क की समीक्षा से बचा नहीं रहता। मानव जातियों का अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण बढ़ रहा है। 'सीजर और उसके देय' को 'ईश्वर और उसके देय' को अब समग्र अनुभव के एकीकृत दर्शन, व मनुष्य और प्रकृति की एकीकृत दृष्टि लेकर समझने की आवश्यकता है। हमें उस दर्शन की आवश्यकता है, जो कर्म तथा ध्यान की, मेहनत और पूजा की, लौकिक और अलौकिक की, खाई को पाटता है। यह है वेदान्त, जिसका प्रचार, पिछली शती के अन्त में स्वामी विवेकानन्द ने पूरब और पश्चिम में समानतः किया था। उसी एकीकरण के दृष्टिकोण के महत्त्व को बताते हुए, सिस्टर निवेदिता (कुमारी मारगरेट नोबल) लिखती हैं :

> अनेक और एक विभिन्न समयों पर विभिन्न वृत्तियों में, मन द्वारा देखे जाने वाला एक ही तत्त्व है।
>
> यही बात है जो हमारे गुरू विवेकानन्द के जीवन को महत्त्व प्रदान करती है। क्योंकि इसी बात से वे पूरब और पश्चिम का ही नहीं, अपितु भूत और भविष्य का समन्वय करने में भी सफल हो सके हैं। यदि अनेक में भी एक ही तत्त्व व्याप्त है, तो न केवल आराधना के सभी प्रकार, बल्कि कर्म के सब प्रकार, संघर्ष के सब प्रकार, रचना के सब प्रकार—एक ही तत्त्वानुभूति के मार्ग हैं। अब से पारलौकिक व लौकिक में कोई भेद नहीं रह जायेगा। मेहनत करना उपासना है। विजय करना त्याग करना है। जीवन ही धर्म है। उपार्जन करना और उस पर त्यागपूर्वक अधिकार रखना उतना ही मुश्किल है जितना त्याग करना या वस्तु से दूर रहना।
>
> वही अनुभूति है जो विवेकानन्द को निष्काम का महान् उपदेष्टा सिद्ध करती है। आत्मज्ञान से और ईश्वर भक्ति से निष्काम कर्म परे नहीं हैं और न उनसे अछूते ही हैं। उनके लिए कारखाना, अध्ययन कक्ष, गोबाड़ा, और खेत उतने ही सच्चे और उपयुक्त ईश्वर मिलन के स्थान हैं, जितने साधु की गुफा और मन्दिर का द्वार। उनके लिए मानव की सेवा और ईश्वर की पूजा, पौरुष और श्रद्धा, सच्ची धार्मिकता और आध्यात्मिकता में कोई भेद नहीं। ऐसे दर्शन की जिज्ञासा प्रत्येक मननशील व्यक्ति में, चाहे वह हिन्दू हो या अहिन्दू, निरन्तर बढ़ती जायेगी। स्पष्ट है इसकी पूर्ति हमें भारतीय चिन्तन में ही मिलेगी और उसके चिरन्तन स्रोत हैं—उपनिषद्।[1]

1 कम्पलीट वर्क्स, भाग 1, xv।

उपनिषद् और विचारधाराओं का संघर्ष

देखा यह गया है कि सेमितिक धर्मों (यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म) ने संकीर्ण और स्वसीमित दृष्टिकोण फैलाया है। ऐसा ही दृष्टिकोण कुछ आजकल प्रचलित विचारधाराओं ने भी फैलाया है। पर अब यह लगता है कि धर्मों से यह संकीर्णता विदा ले रही है और व्यक्ति के सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोणों को प्रभावित करने वाली विचारधाराएँ उसे अनुदार बनाती चली जा रही हैं। बीसवीं सदी में उदारवाद का लोप हो रहा है। सामाजिक और राजनीतिक मामलों में मानव से तार्किक वृत्ति हटती चली जा रही है और मनुष्य सामूहिक अचेतन मन (जो अन्धानुकरण, भय और घृणा का वातावरण फैलाने में लगा है) के चंगुल में फँसता चला जा रहा है। यह देखकर कुछ तसल्ली होती है कि सन् 1950 के बाद से लोगों की आँखें कुछ खुली हैं और मनुष्य के विचारों में सामूहिक तौर से कुछ तर्कपरता आयी है। यह ठीक है कि यह सब बड़ी मन्द गति से हो रहा है, परन्तु यह भी उतना ही सही है कि आधुनिक युग में तर्क और ज्ञान की यह ताकत धर्म के मामले में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही है और चाहे बीच-बीच में कुछ अटकाव पैदा हों परन्तु अन्ततोगत्वा पराजय का मुँह सामूहिक अतर्क की उन ताकतों को ही देखना पड़ेगा जो मानव को गर्त में ले जा रही हैं। आखिर, काल-प्रवाह की गति को कैसे रोका जा सकता है।

सामान्यतः वैज्ञानिक विचार-विमर्श शान्त वातावरण में हुआ करते हैं और जहाँ मतैक्य न हों वे बातें भी सामने आती हैं। धर्म-विमर्श के मामले में सामान्यतः तर्कपरता का अभाव ही रहा है। परन्तु यह स्थिति तीव्रता से बदल रही है। आज धर्मों के बीच जो पारस्परिकता देखने में आती है उसमें एक-दूसरे को नीचा दिखाने की भावना का अभाव रहता है। ऐसा वातावरण बनाने में वेदान्त का अपना सहयोग है। यह आशा करना युक्तिसंगत होगा कि तर्कयुक्त विमर्श सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी देखने में आयेगा। हो सकता है कि इसमें देर लगे। कारण यह है कि सुख और शक्ति के मामले में मनुष्य इन्द्रिय-जन्य प्रवृत्तियों से बँधा रहता है। इस क्षेत्र में तर्क, जब कुछ स्वस्थचित्तता स्थापित करने में सफल हो जायेगा, तो प्रजातन्त्र, जो मानव गौरव और समता का हामी है, जिसको मानव प्रकृति की इन प्रच्छन्न शक्तियों से निरन्तर भय रहा है, दृढ़तापूर्वक सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक-सामाजिक मूल्य और तकनीकी के रूप में प्रतिष्ठित होगा। स्वस्थ-चित्तता के लिए तब तक संघर्ष होता रहेगा जब तक इन सामाजिक-राजनीतिक जीवन को प्रभावित करने वाली विचारधाराओं में औदार्य और समन्वय का भाव नहीं आता।

परन्तु इसके लिए तर्कपरता को जीवन में लाना होगा—ऐसी तर्कपरता जो कोरे विज्ञान पर टिकी न हो परन्तु उसका आधार वेदान्त भी हो। प्रत्येक मानव में सांसारिक प्रलोभनों के प्रति भी एक आकर्षण होता है। हमारा काम यह है कि हम

जहाँ उसकी भावनाओं में शुचिता लायें वहाँ इस बात का भी ध्यान रखें कि उसका मनोवेग भी कम न हो। यह वेदान्त ही कर सकता है। कोरे विज्ञान में यह सामर्थ्य नहीं है। इसीलिए उपनिषदों का योगदान इस मामले में व्यापक और मार्मिक होगा।

आदर्श और विचारधाराएं मानव जीवन और उपलब्धि में एक विशेष भूमिका अदा करती हैं। बिना आदर्शों वाला मनुष्य ऐसा होगा जैसे बिना पतवार की नाव। माना गलती करना मनुष्य के स्वभाव में है परन्तु जैसा स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, 'यदि वह व्यक्ति जिसके सामने कोई आदर्श है एक हजार गलती करता है तो वह व्यक्ति, जो आदर्शविहीन है, दस हजार गलती करेगा।'

संकीर्णता से कल्पित आदर्शों ने धर्म और राजनीति दोनों में ही जहाँ अच्छाई की है वहाँ बुराई भी कम नहीं की। कार्यक्षमता को वेग देने के लिए उन्होंने संकीर्णता का सहारा लिया। वे जानते थे कि व्यापक आदर्शों का सहारा लेकर लक्ष्य-प्राप्ति इतनी सुलभ नहीं होगी। हम अपने दैनिक जीवन में देखते हैं कि नदी जहाँ संकीर्ण होती है वहाँ उसकी धार में तेजी होती है परन्तु जब वह चौड़ाती है तो धार की तीव्रता घट जाती है।

तीव्रता और व्यापकता का यह विकल्प मानव समाज में शुरू से रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त के जिस दर्शन का प्रस्तुतीकरण किया उसमें मानव के जीवन-दर्शन का आधार ये दोनों ही तत्त्व रहे हैं। उनका कहना है कि आध्यात्मिकता से मानव में तीव्रता आनी चाहिए और लोकसंग्रह की भावना से व्यापकता। परन्तु तर्कपरता का पल्ला उसे कहीं भी नहीं छोड़ना है। ऐसे आदर्श वाले व्यक्ति का चरित्र स्वामी जी के शब्दों में समुद्र जैसा गहरा और आकाश जैसा विशाल होगा। वेदान्त इसी को मनुष्य के विकास की सच्ची दिशा मानता है। आधुनिक युग में श्री रामकृष्ण इसका सजीव उदाहरण थे। उनके उत्कट धर्म और अनन्त सहृदयता ने नास्तिक, धर्म-विरोधी तत्त्वों एवं परस्पर विरोधी भिन्न-भिन्न धर्म के अनुयायियों को आत्मसात् कर लिया था।

उपनिषद् और आधुनिक संकट

आजकल जीवन और चिन्तन के सभी पक्षों में मानव पुनर्विचार की आवश्यकता महसूस कर रहा है। जब से विज्ञान और तकनीकी ने मानव जीवन को बदलना शुरू किया है तभी से सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों की बदल के लिए यह संघर्ष बौद्धिक स्तर पर आरम्भ हो गया था। इसके प्रभाव और परिणाम जितने रचनात्मक थे उतने ही विध्वंसात्मक। उसने मनुष्य को कई भयों और संशयों से उबारा। परन्तु साथ ही साथ कई प्रकार के नये भय और अनिश्चितताएँ उसने उसके सामने रख दीं। अतीत की परम्परा की बहुत सी कल्पित कहानियाँ, पुराण कथाएँ, और अन्धविश्वास समाप्त हो गये। नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक

जीवन के सभी क्षेत्रों में पुराने विचारों और विश्वासों को चुनौती दी गयी।

ठीक है यह सब हुआ, परन्तु यह सब काफी नहीं है। जैसे एक वृक्ष फैलता चला जाये परन्तु उस फैलाव के अनुरूप उसकी जड़ें न गहराएँ ऐसी ही मनुष्य की हालत हो गयी है। ऐसी डाँवाडोल स्थिति, ऐसा असन्तुलन, आधुनिक बुद्धिवाद का ऐसा थोथापन तथा बुद्धिजीवियों का ऐसा दोषपूर्ण और कटु स्वभाव मालूम पड़ता है, बाइबिल की भाषा में, 'खूंटे दृढ़ किये बिना रस्सियाँ लम्बा दी गयी हैं,' जैसा है। इस विषय में बर्ट्रेण्ड रसल का दृष्टिकोण इस प्रकार है :

> आदि काल से मनुष्य प्रकृति का दास था। विज्ञान और तकनीक के बल से वह उस दासता से मुक्त हुआ। और फिर उसकी स्थिति वैसी ही हो गयी जैसी एक दास की स्वामी बन जाने पर होती है। मनुष्य को एक नये नैतिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो उसके अन्दर श्रेष्ठतम मानव तत्त्वों के लिए आदर का भाव भर सके। जब तक ऐसा नहीं होगा विज्ञान की ये उपलब्धियाँ उसके लिए खतरा बनी रहेंगी। प्रकृति की अधीनता से ही मुक्त होना पर्याप्त नहीं है, उसे अपनी पुरानी (दिमागी) दासता को भी छोड़ना होगा।[1]

'श्रेष्ठ मानव तत्त्वों के लिए आदर का भाव' मानव को अपनी दासता से मुक्त करायेगा। रसल के इन शब्दों को ही तो उपनिषदों में सदियों पहले 'अध्यात्म विद्या' का नाम दिया गया था। वह बुद्धि जिस पर आत्मा की ज्योति भासमान है उस बुद्धि से बहुत भिन्न होती है जिस पर इन्द्रियों का शासन हो। विज्ञान के ये दो पक्ष जो उसकी अन्तर्प्रकृति और बाह्य प्रकृति से सम्बन्धित हैं, साथ मिलकर कार्य करें तभी मनुष्य अपने विकास की सम्यक् पूर्णता के पथ पर अग्रसर होगा। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था 'धर्म-विहीन मानव समाज़ तो केवल खूंखार पशुओं का ही एक जंगल होगा।'

अपनी आत्मकथा 'ऑटोबॉयग्रेफी' के समापन भाग में खगोल भौतिकी विशारद आर० ए० मिल्लिकंस इस आस्था को प्रतिध्वनित करते हुए कहते हैं :

> मुझे ऐसा लगता है कि जिन दो खम्भों पर मानव कल्याण और मानव प्रगति टिकी है, उनमें पहला है धर्म का भाव, दूसरा है विज्ञान का भाव या विधा। एक दूसरे की सहायता के बिना, अकेला इनमें कोई भी अपने को अधिकतम प्रभावी नहीं बना सकता। विज्ञान की उन्नति के लिए हमारे पास विश्वविद्यालय और शोधशालाएँ हैं। किन्तु बिना किसी अपवाद के, प्रत्येक मनुष्य को परम अवसर धर्म में मिलेगा।

धर्म से आध्यात्मिक पोषण मिले बिना, आधुनिक युग की अपूर्व प्रगति अपने संचालन में डगमगा रही है। उसका सही मार्ग धर्म ही प्रशस्त करेगा।

1 बर्टेण्ड रसल, द सायंटिफिक आउटलुक, 278–76।

ले चलो, सदयज्योति

आधुनिक प्रगति का 'चक्र' प्रतिदशक में तीव्रतर होता जा रहा है और मानव हर जगह अपने को स्तब्ध पा रहा है। उसे अपनी स्थिति समझ में नहीं आ रही है। वह अपने को एक स्थिति की ऐसी गहराई में पाता है, जहाँ उसका अतीत अप्रतिलभ्य है, उसका वर्तमान अनिश्चित है, और उसका भविष्य एक प्रश्न-चिह्न है। तो क्या यह वह सन्धिकाल है जिसके आगे और सन्तोष से भरा एक दिन है, या जिसके आगे अन्धकार और दुःख भरी रात है। मनुष्य ने अपने बाहर चतुर्दिक आलोक के मध्य अपने अन्तर में इतना अन्धकार, अपने बाहर अमित समृद्धि के सन्दर्भ में, अन्तर में इतनी दरिद्रता, और चारों ओर इतनी भीड़-भाड़ के बीच इतना सूनापन, अपने समस्त इतिहास में कभी अनुभव नहीं किया। इस प्रकार आधुनिक क्रान्ति वस्तुतः एक आध्यात्मिक क्रान्ति है, और आधुनिक मानव, अन्धकार के घेरे में से निकलने के लिए ज्योति ढूँढ़ रहा है। आज उसका हृदय सत्य के लिए, ज्योति के लिए और जीवन के लिए चीत्कार कर रहा है। सब तथ्य यही इंगित करते हैं कि समस्त आधुनिक जगत, एक शान्त आध्यात्मिक विप्लव की वेदना में है। आधुनिक मनुष्य के हृदय की शान्त कलकल, गहन जिज्ञासा, और मूक प्रार्थना में प्राचीन वैदिक ऋचाओं की गूँज सुनाई देती है। (बृहदारण्यक उपनिषद्, I·3·28) :

असतो मा सद्गमय,	असत्य से सत्य की ओर मुझे ले चलो,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,	अन्धकार से ज्योति की ओर मुझे ले चलो,
मृत्योर्मा अमृतं गमय—	मृत्यु से अमृत की ओर मुझे ले चलो।

इस संधिकाल को ऊषाकाल में, तथा फिर ज्ञान से चमकते हुए दिन में परिणत करने की एक चुनौती आज मानव ज्ञान और मानव मनीषा के सामने है। सदा से महान् चिन्तक यह दृढ़ विश्वास रखते आये हैं कि भारत की सनातन आत्मा ने, अपने लम्बे इतिहास में, इतने उतार-चढ़ाव होते हुए भी, समस्त मानव जाति के लिए आशा और उल्लास का एक शाश्वत सन्देश सँजोकर सुरक्षित रखा है।

उन्नीसवीं सदी के बीच के दिनों में शॉपन हावर ने अपनी पुस्तक के आमुख में वेदान्त के उस प्रभाव का उल्लेख किया है जो पश्चिम के लोगों पर यथा समय होगा। वेदों से पश्चिम का परिचय कराने के बाद जिसमें हमारे लिए प्रवेश का सुयोग उपनिषदों द्वारा हुआ, मेरी दृष्टि में यह सबसे बड़ा लाभ है, जो पिछली सदियों की तुलना में हमें हुआ है। उन्होंने यह भविष्यवाणी की :

> मैं विश्वास करता हूँ कि जो पन्द्रहवीं शती में, ग्रीक साहित्य के पुनर्जागरण ने किया था, उससे कम गहरा प्रभाव प्रभेदनकारी संस्कृत साहित्य का नहीं होगा।[1]

अमरीकी दार्शनिक और इतिहासकार विल ड्यूरेण्ट, भारत का विषय विवेचन

[1] शॉपन हावर, द वर्ल्ड एज विल एण्ड आइडिया, 1975, xii–xiii।

समाप्त करते हुए, यह कहते हैं :

> जिस प्रकार मिस्र या बैबिलोनिया, या असीरिया को कोई समाप्त कर सकता है, भारत का इतिहास उस प्रकार समाप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह इतिहास अब भी निर्मित हो रहा है, वह सभ्यता अब भी रची जा रही है।....
>
> यह सत्य है कि हिमालय के उस पार भारत ने हमें ऐसे अमूल्य उपहार दिये हैं, जैसे व्याकरण, तर्कशास्त्र, तत्त्वदर्शन, कल्पित कहानी, सम्मोहन विद्या और शतरंज, हमारे अंक तथा हमारी दशमलव प्रणाली। किन्तु ये उसकी आत्मा की सार वस्तु नहीं। हम जो आगामी काल में उससे सीख सकते हैं उसकी तुलना में ये सब छोटी चीजें हैं। जैसे-जैसे आविष्कार, उद्योग तथा व्यापार महाद्वीपों को एकता में बाँधेंगे, या एशिया के साथ हमको संघर्षों में डालेंगे, हम उसकी सभ्यताओं का अधिक निकट से अध्ययन करेंगे, तथा वैमनस्य में भी हम उसके कुछ आचार-विचार अपना लेंगे। कदाचित् विजय, दर्प, और लुण्ठन के बदले, भारत हमें परिपक्व मन की सहिष्णुता और सौम्यता, अपरिग्रही जीव की शान्त तृप्ति, हमदर्द भाव की शान्ति, तथा समस्त प्राणियों के लिए एक एकतामय, शान्तिमय प्रेम देगा।[1]

स्वामी विवेकानन्द, मानव प्रगति के समग्र योगफल में, इसको भारत का विशेष अवदान मानते थे। 1894 में अमरीका से लिखे हुए एक पत्र में स्वामी जी कहते हैं :

> समस्त संसार आलोक चाहता है। वह प्रतीक्षा में है। केवल भारत के पास है वह आलोक, जादू का, टोने का, या ओछा नहीं, किन्तु सच्चे धर्म के भाव की महिमाओं की शिक्षा का, सर्वोच्च आध्यात्मिक तत्त्व का। इसीलिए भगवान ने इस प्रजाति को आज तक समस्त सुख-दुःख में होकर जीवित रखा है। वह समय अब आ गया।[2]

स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य विचारकों के इस दृढ़ विश्वास की गारण्टी (प्रमाण), उपनिषदों से, तथा उनसे निःसृत, बुद्धि में सशक्त, वैज्ञानिक और इसीलिए व्यापक, जीवंत आध्यात्मिक परम्परा से मिली है जो बुद्ध तथा शंकर, श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जैसे आध्यात्मिक विराट व्यक्तियों द्वारा समय-समय पर समृद्ध होती रही है। मुझे आशा है कि 'उपनिषदों की वाणी' के अगले पृष्ठों में पाठक इस दृढ़ विश्वास और आश्वासन की शक्ति और सुसंगति की परीक्षा स्वयं कर सकेंगे।

[1] विल ड्यूरेण्ट, द स्टोरी ऑव सिविलिजेशन, भाग 1, 1935, 633।
[2] कम्पलीट वर्क्स, भाग 3, 43।

एक

हमारी आध्यात्मिक विरासत

मेरे आज के भाषण का विषय है—हमारी आध्यात्मिक विरासत। यह भाषण भारत के महान् आध्यात्मिक साहित्य, उपनिषद् और भगवद्गीता के अध्ययन की भाषण-माला का प्रथम पुष्प है। रामकृष्ण मिशन पूर्व और पाश्चात्य दोनों की मानवता की आध्यात्मिक विरासत को आत्मसात् कर लेना चाहता है और यही भावना इस मिशन के पीछे है। इस विरासत का एक अंश भारत की वह सनातन विरासत है जो आद्योपान्त आध्यात्मिक है। इस देश के अमर साहित्य विशेषत: उपनिषद् और भगवद्गीता में जो पैनी दृष्टि दिखाई देती है वह सनातन है। यह दृष्टि प्राचीन भारत के सन्तों, ऋषियों और चिन्तकों की है और युग-युगान्तर से वर्तमान समय तक अक्षुण्ण चली आ रही है। विश्व के इतिहास का यह एक अत्यन्त प्रभावशाली तथ्य है। दुनिया के इतिहास में अन्य बातें आती-जाती रहेंगी परन्तु उपनिषदों के ऋषियों की यह दृष्टि सदैव बनी रहेगी।

मेरे आज के विषय में पूर्व और पश्चिम दोनों के नर-नारियों की रुचि है। जब-जब मैं विदेशों के दौरे पर रहा तब-तब मैंने देखा कि भारत की आध्यात्मिक विरासत की बात जब भी मैं विदेशी लोगों से करता था तो उन्हें मेरी बातें रुचिकर लगती थी। ऐसा लगता था कि मेरी इन बातों का प्रभाव सीधा उनके अन्तःकरण पर हो रहा है।

भूगोल, इतिहास, राजनीतिक और आर्थिक तन्त्रों आदि सब विषयों से परे, मैंने मानव-हृदय में भारत के इस सन्देश के प्रति आकर्षण देखा है। भारत का एक रूप है जिसकी, अन्य जातियों के समान, राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्य प्रकार की सीमाएँ हैं; किन्तु भारत का एक दूसरा रूप भी है, जिसकी पहुँच और व्याप्ति असीम है, जो मानव और प्रकृति की उच्चतम वास्तविकता का साक्षी रहा है, जिसने संसार को मानव के गौरव तथा गरिमा की दृष्टियाँ विरासत में दी हैं।

यही दृष्टियाँ आधुनिक संसार में मानव के सामूहिक और व्यक्तिगत अस्तित्व का अच्छा आधार बन सकती हैं।

स्वामी विवेकानन्द के भाषणों से पश्चिम पर जो आश्चर्यजनक छाप पड़ी, वह स्थायित्व लिये हुए थी। कुछ सदियों से आधुनिक जगत् सार्वभौमिक मूल्यों की खोज में है। जैसा कि मैंने स्वयं अनुभव किया, कम्युनिस्ट देशों में, यहाँ तक कि सारी दुनिया में, ऐसे लोगों की संख्या बढ़ रही है (जिनमें नवयुवक भी शामिल हैं) जो सुनने या जानने का अवसर पाते ही, भारत की दार्शनिक व आध्यात्मिक परम्परा से आकर्षित होते थे। भारत के इस सन्देश का आधार कोई सम्प्रदाय या पन्थ नहीं है। वह मनुष्य की वृद्धि, उसकी प्रगति, तथा उसके परम श्रेय की बात कहता है। ठीक इसी के लिए तो दुनिया आस लगाये बैठी है। चेकोस्लोवाकिया में मुझ से लोगों ने कहा, कि उनका परम्परा-प्राप्त धर्म व दर्शन का परम्परा-प्राप्त भाव वेदान्त से बिलकुल भिन्न था तो भी वे वेदान्त में बताये गये मार्ग से, मनुष्य के परम श्रेय के विकास के भाव से बहुत प्रभावित थे। इस विचार में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं मिलेगी, वह किसी विशिष्ट स्वीकृत मत, समाज या राजनीति से बँधा नहीं है, बल्कि विश्वव्यापी और मानवी है। इसीलिए वे इन विचारों से बहुत प्रभावित हुए।

मुझे यह बताते हुए अफसोस होता है कि दुनिया, भारतीय चिन्तन के इस पहलू को बहुत कम जानती है। वास्तव में स्वयं भारत में लोग यह नहीं जानते, कि उनकी विरासत में कितनी बड़ी निधियाँ भरी हैं। फिर भी हम अपनी विरासत के बारे में यह नहीं कहते कि यह केवल हमारी राष्ट्रीय सम्पदा है, हमारे राष्ट्र का गौरव है। जब हम इन बातों के बारे में कहते हैं, तो मनुष्य का मनुष्य रूप में गौरव, हमारे सामने होता है। भारत में मनुष्य ने कुछ महान् उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, अनुभव के महान् शिखरों पर वह चढ़ा है, और उसने इनको शेष मानवता के लिए विरासत में दे दिया है। हम उस पर एकाधिकार का दावा नहीं करते, क्योंकि एक स्थान के मानव की महान् उपलब्धियाँ सब जगह के मानवों की उपलब्धियाँ हैं। आज हम ऐवरेस्ट की चोटी व दूसरी ऊँची चोटियों पर चढ़ने की बात बहुत सुनते हैं। भारत अनुभव और महानता के शिखरों पर चढ़ा है, और यह है सारी दुनिया के लिए उसकी विरासत, एक विरासत जिसमें सीमित या संकीर्ण कुछ भी नहीं, किन्तु जो मानव-मन की, मानव-चिन्तन की, मानव की सम्पूर्ण श्रेय-प्राप्ति की बात करती है।

मानव अनुभव की चुनौती

मानवीय विकास के लम्बे क्रम ने, मनुष्य को सौन्दर्य, शक्ति, सत्ता और महानता की बड़ी-बड़ी दृष्टियाँ दी हैं। भारत इनको उच्चतम अभिव्यक्ति के स्तर पर ले गया है। युगों पूर्व भारत ने प्रश्न किया था, 'मनुष्य का उच्चतम उत्कर्ष क्या है।' इस प्रश्न को जिस सर्वांगीणता से हल किया गया वह देखने की चीज है।

शरीर, इन्द्रियाँ तथा अनेक अन्य सामर्थ्यों से सम्पन्न मानव को अभी, अपने उच्चतम उत्कर्ष बिन्दु तक उठाना शेष है। इस उच्चतम उत्कर्ष की प्राप्ति आजीवन प्रयत्न का फल होता है। परन्तु यह उपलब्धि शिक्षा और धर्म के सामंजस्य से ही सम्भव है। इस मौलिक प्रश्न को भारत ने अपने सांस्कृतिक इतिहास के आदि काल में ही सुलझाया। कुछ सृजनशील ऋषियों और मनीषियों ने यह कार्य अपने हाथ में लिया, और उनके अनुसन्धान और अनुभवों से ही अमर साहित्य उपनिषदों की रचना हुई। यह साहित्य इसलिए अमर है, क्योंकि उसमें उठाये गये प्रश्न शाश्वत हैं। उपनिषदों का कथन है कि मानव का चरम उत्कर्ष इन्द्रिय-सुख से ऊपर उठने में है। हम बहुत सी चीजों से ऊपर उठे हैं। इस मानवीय मनोदैहिक संरचना में हम कोरे पशु जैसे नहीं रहे, परन्तु यह हमारे सफर की आखिरी मन्जिल नहीं है। मानव तकनीकी उपलब्धियों के मामले में काफी आगे बढ़ा है, परन्तु तकनीकी मामलों में आगे बढ़ने की इतनी सम्भावनाएँ हैं कि उनके सामने उसकी अब तक की उपलब्धियाँ नगण्य ही मानी जाएँगी। मानव ने बहुत विकास किया है परन्तु अभी उसे और बहुत से शिखर चढ़ने हैं। उसे वर्तमान स्थिति से आगे जाना है और उपलब्धियों के नये स्तर प्राप्त करने हैं।

उपनिषदों ने यह चुनौती स्वीकार की, मानव-विकास की चुनौती, मानव-अनुभव की गहराइयों की चुनौती। वे विचार और अनुभव के शिखर पर चढ़ने के लिए आगे बढ़े। उन्होंने हमें मनुष्य के अमृत दिव्य स्वरूप की अनुभूति दी। उन्होंने मनुष्य की सच्ची उत्कृष्टता की झाँकियाँ दीं। उपनिषदों का यह मूल प्रश्न हमारी संस्कृति का ही मूल प्रश्न बन गया। हमारे युग में इस विषय की महान् अभिव्यक्ति देखने को मिली श्री रामकृष्ण में। उपनिषदों से लेकर श्री रामकृष्ण तक, एक निरन्तरता है, तथा यह निरन्तरता मानव इतिहास का एक अत्यन्त प्रभावशाली पहलू है। कोई संस्कृति इतिहास में तब तक निरन्तर नहीं रह सकती, जब तक उसने सनातन और अक्षर की दृष्टि को अपने अन्तस् में संजीवित न रखा हो। जब एक संस्कृति अपना भवन, अनुभव की दृढ़ चट्टान पर बनाती है, जब उसने जीवन के मौलिक सिद्धान्तों को देखा और परखा है, केवल तब, वह अपनी एकात्मता और निरन्तरता में आश्वस्त रहने में सफल होती है; तथा तब ही युग-युगान्तर में, मानव जीवन को वह प्रेरणा देने वाला दीप-स्तम्भ बन सकती है।

भारत के इतिहास को देखने का हमारा पहलू अलग है। हमने जीवन के विभिन्न पहलुओं की समस्याओं को अलग ढंग से समझा है। कुछ लोगों ने यह गलत धारणा अपने मन में संजो ली है कि भारतीय दृष्टिकोण में मानव एक ऐसा धर्म-परायण साधक है जो पारलौकिक और अतीन्द्रिय मूल्यों की खोज में रहता है। परन्तु यह बात सही नहीं है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में जिन्दगी के चहुँमुखी विकास पर जोर दिया गया है। व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से जीवन को देखा-परखा गया है। राजनीतिक तन्त्र, समाज-व्यवस्था, विज्ञान, कला और साहित्य और

सुखी एवं सन्तुष्ट जीवन के विभिन्न रूप, इन सभी का विकास करना भारतीय जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीयों ने जीवन को आनन्दपूर्ण बनाने में कोई कसर नहीं रखी थी। प्रत्येक नागरिक का जीवन सब दृष्टि से सुखमय बनाना राज्य का कार्य था।

किन्तु इसके साथ एक और विचार उठा, जो मनुष्य और विश्व की समस्त आपेक्षिकीय दृष्टियों का समीक्षक आरम्भ होकर, अनेक के पीछे एक की दृष्टि में विकसित हुआ और जिसका अवसान हुआ बहु में एक, एक बहु रूप में। सामाजिक क्षेत्र में किंचित् सुरक्षा और कल्याण की व्यवस्था बना लेने पर, समाज के रचनाशील मन, अधिकाधिक प्रश्न करते हुए आगे बढ़ने लगे। क्या यह मनोसामाजिक व्यक्ति, मनोदैहिक प्राणी ही क्रम विकास का अन्तिम स्तर है? या यह और भी उन्नत किसी वस्तु में विकसित हो सकता है? हाँ यह सही है, कि ये सवाल केवल थोड़े लोगों के रचनात्मक चिन्तन के फल हैं; उन लोगों के जिनमें इस प्रकार के जीवट की सामर्थ्य और अभिरुचि थी। किसी विशिष्ट समाज के थोड़े ही प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति मूलभूत सत्य की खोज में भाग ले सकते हैं; तथा ये लोग समाज के किसी भी वर्ग में आ सकते हैं। उपनिषदों को पढ़ते-पढ़ते हमें पता लगता है कि उसके रचनाशील चिन्तकों में पुरुष, स्त्री, बालक, पण्डित, राजा तथा साधारण लोग भी थे। जो बात हमें प्रभावित करती है वह है एक प्रश्न की निरन्तरता—पूर्णता क्या है? मानव-जीवन का उच्चतम स्तर क्या है? स्पष्ट मन व शुद्ध जीवन से सम्पन्न, इन चिन्तकों ने अपने जीवन में, आत्म-संयम तथा ध्यान के द्वारा इस प्रश्न का उत्तर पा लिया; तथा सुन्दर व्याख्याओं, प्रभावशाली संवादों तथा सुन्दर काव्य के माध्यम से उन्होंने उसे आगामी पीढ़ियों को विरासत में दे दिया। यही बात है जिसने इस साहित्य को अमर बना दिया है।

मनुष्य का सच्चा स्वरूप

अपनी पुस्तक में रोमां रोलां ने लिखा है—'जिस पुरुष के रूप का चित्रण मैं यहाँ करना चाहता हूँ वह दो हजार वर्षों की तीस कोटि लोगों के आध्यात्मिक जीवन का पर्यवसान है।'[1]

श्री रामकृष्ण जैसी आत्माओं (1836–1886 ई०) का हमारे युग में पैदा हो सकना और ऐसा महान् जीवन जी सकना ऐसा तथ्य है जिसके मूल में भारत की आध्यात्मिक परम्परा की निरन्तरता ही है। यह सनातन नदी है, जो युग-युगान्तर से अब तक बह रही है। हममें से बहुत लोग शायद इस बात को जानते नहीं। बहुत से शायद इससे लाभ नहीं उठा सके। और कुछ लोगों के लिए यह विषय कोरी उड़ान है। किन्तु जो उसके विषय में सुनता है, वही उसकी ओर सराहना और

[1] रोमां रोलां, द लाइफ ऑफ रामकृष्ण, छठा संस्करण, 130।

आश्चर्य की दृष्टि से देखता है। भगवद्गीता (II.29) का एक यह श्लोक है—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्यवत् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवत् चैनम् अन्यः श्रणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

कोई इस आत्मा को आश्चर्य से देखता है, कोई उसके विषय में आश्चर्य से बात करता है, कोई उसे आश्चर्य से सुनता है, किन्तु फिर भी थोड़े ही लोग हैं जो इस सत्य को, अर्थात् मनुष्य के इस शाश्वत महत्त्व को जानते हैं।

तो 'मनुष्य का यह शाश्वत महत्त्व' क्या है? उसका अजर, अमर, शुद्ध, पवित्र सहज दिव्य रूप ही यह है। यह न शरीर है, न इन्द्रियाँ; यह तो केवल देश-कालगत जगत में उसके प्रकाश करने व कर्म करने के उपकरण मात्र हैं। वही असीम, इन क्षुद्र सीमित देहों व मनों के रूपों द्वारा अपने को व्यक्त कर रहा है। यही है मनुष्य का सच्चा स्वरूप। यह केवल दार्शनिक परिकल्पना नहीं, किन्तु एक अनुभूत तथ्य है। सब संवेदनशील लोग इन विचारों से प्रेरित होते हैं। जब उपनिषद् रचे गये थे तो भी इन विचारों ने प्रेरणा दी, हजारों वर्ष पश्चात् भी प्रेरणा दी, तथा तीन-चार सहस्र वर्ष पश्चात् आज भी, हमें ये प्रेरणा दे रहे हैं। न तो विज्ञान की, और न प्रविधि की चमत्कारपूर्ण उन्नति, न आधुनिक जगत् की सम्पत्ति व सत्ता, उपनिषदों के विचारों की प्रासंगिकता कम कर पायी है, उसमें उन्होंने कुछ वृद्धि ही कर दी है। संसार ठीक इसी आध्यात्मिक उन्नति को मनुष्य के लिए खोज रहा है, मानव मन में जो रुद्धता आ गयी है उसे तोड़ निकालने का केवल यही उपाय है। कठोपनिषद् (II.6) में कहा है—'प्रमाद्यन्तम् वित्तमोहेनमूढ़म्' अर्थात् सत्ता व सम्पत्ति के मोह में मनुष्य अपनी दिक्स्थिति भूल गया है। लगातार रुद्धता का अर्थ है मृत्यु। इसलिए उपनिषद् अपने महान् विषय द्वारा मनुष्य को आशा का सुसंवाद दे रहे हैं—मनुष्य सम्पत्ति प्राप्त करे, सत्ता भी अर्जन करे, मनुष्य यह सब पायेगा; किन्तु इनमें से किसी में भी वह खो न जाये। ये साधन हैं साध्य नहीं; इसे जीवन में अनुभूत करके ही वह अपने दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार करे, जो सत्-चित्-आनन्द है। इस प्रकार उपनिषद्, हमें रचनात्मक जीवन जीने की प्रेरणा देते हैं तथा उसकी सार्थकता का मार्ग दिखाते हैं।

'रचनात्मक जीवन' शब्द बोलना अच्छा लगता है, किन्तु 'रचनात्मक' का अर्थ क्या है? केवल एक ही वस्तु को बारम्बार रचते रहना रचनात्मकता का द्योतक नहीं है। शरीर, इन्द्रियाँ, स्नायुतन्त्र, उनकी आवर्तक उत्तेजना व गुदगुदी से रचनात्मक जीवन नहीं बनता। कभी न कभी हमें देह व मन के जंजाल से ऊपर उठना होगा—उस समय, हम सच्ची रचनात्मकता तक पहुँचेंगे और इसी प्रकार की रचनात्मकता के संदेशवाहक उपनिषद् हैं। इसीलिए उपनिषद् आधुनिक नर-नारी को प्रेरणा देते हैं।

जो आधुनिक हैं वे लोग दो कोटि में विभक्त हैं। पहले वे जो प्रसाधनों का

उपयोग करने भर से आधुनिक हैं, 'आधुनिक' का सामान्य अर्थ यही है। किन्तु एक दूसरा अर्थ भी है, जो अधिक गहन है। इस दूसरे अर्थ में, आधुनिक मानव वह है जो विज्ञान की भावना से पोषित है, जो मन से अप्रमादी है और सत्य के पथ पर जिज्ञासु भाव से बढ़ा चला जा रहा है, जैसा कि ईसा कहते हैं जिसमें खोजने की, पूछने की व खटखटाने की सामर्थ्य है। जो जिज्ञासु है, जिसमें सत्य के लिए तीव्र उत्कण्ठा है और युक्तियुक्त शोध की शक्ति है, जो बातों को यों ही नहीं मान लेता किन्तु सदा उनके मर्म में जाना चाहता है, वह मनुष्य आधुनिक है; उसका मन सदा उत्सुक रहकर पूछता है—'अब आगे क्या ? आगे क्या ?' ऐसा आधुनिक मन ही वह मन है जो उपनिषदों के भावों के सबसे अधिक निकट है। क्योंकि उपनिषदों में भी अप्रमाद का यह वातावरण है, सत्य के लिए यह निरन्तर खोज, एक निरन्तर तीव्र कामना—आगे बढ़ने की, यों ही किसी चीज को आत्मा से तुष्ट भाव में मान न लेने की वृत्ति। इसमें ही उपनिषदों और आधुनिक भाव का निकट सम्बन्ध हमें मिलता है।

इसलिए आज हम पाते हैं कि वैज्ञानिक मनीषी, जो नित्य निरन्तर सत्य के अधिक गहरे परिदृश्यों की खोज में रहते हैं, जो जीवन को अधिक उन्नत स्तरों में प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जब वे उपनिषदों के साहित्य से परिचित हो जाते हैं, मन्त्र-मुग्ध और सम्मोहित से रह जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द (1863–1902 ई०) ने उपनिषदों का उल्लेख करते हुए कहा—'जो प्रभाव भारत का साहित्य, मानव जाति पर पैदा करता है, उसको व्यक्त करने के लिए यदि कोई शब्द हो सकता है, तो वह शब्द है—सम्मोहन।'[1]

इस सम्मोहन का कारण यह है कि वह मन को अधिक ऊँचा, अधिक शुद्ध, अधिक उदात्त स्तर पर ले जाता है। उपनिषद् सदा हमें ऊपर उठने और आगे ले जाने के लिए शंखनाद कर रहे हैं। कठोपनिषद् (III.14) में हम पढ़ते हैं—'उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! प्राप्य वरान् निबोधत !' अर्थात् उठो ! जागो ! और श्रेष्ठ-जनों के पास जाकर अपने को सम्बुद्ध करो।

आत्मा की चालक शक्ति

यह शंखनाद है, जो आधुनिक मानव के लिए, वर्तमान रुद्धावस्था से आगे ले जाने के लिए, आवश्यक है। रुद्धावस्था का यह तथ्य संसार के इतिहास का पुनरावृत्त तथ्य है। सभ्यताएँ कभी-कभी सीमित मूल्यों के पंक में फंसकर रुद्ध हो जाती हैं; और इतिहास बताता है कि इस रुद्ध गति से निकलने का केवल एक ही मार्ग है। राजनीतिक पद्धतियाँ, सामाजिक, आर्थिक या वित्तीय व्यवहार-कुशलता, मनुष्य को ऐसी संकट बेलाओं से उबारने में सहायक न हो सकेंगे; अधिक से अधिक ये अपशामक औषधियाँ हैं; किन्तु वे किसी संस्कृति या सभ्यता को उसकी रुद्धावस्था से उबारने में

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 3, 110।

तथा उसे सृजनशील ऊर्जा देने में असमर्थ हैं। यह रोग एक आध्यात्मिक रोग है, और इसका उपचार भी आध्यात्मिक क्षेत्र में मिलेगा। उपचार-प्राप्ति की प्रणाली एक ही है और वह है अन्तरात्मा के बल से, मनोदैहिक जीव रचना, तथा मनो-सामाजिक जीव रचना को प्रभावित करना। इसी से जीवन सामूहिक रूप से भी प्रभावित होगा।

भारत ने बार-बार यही किया है। हमें भारतीय इतिहास में जगह-जगह आत्मा के इस बल प्रयोग द्वारा इस रुद्ध जगत को ऊर्जात्मक बना देने की साक्ष्य मिलती है। उदाहरणस्वरूप भगवद्गीता (IV.8) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं— 'धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे' अर्थात् 'धर्म की संस्थापना के लिए मैं युग-युग में आता हूँ।' जब जीवन रुद्ध हो जाता है, और संकीर्णतम दायरे में घूमता है, तो ईश्वर (अर्थात् मनुष्य और प्रकृति की अन्तरात्मा) पुनः सामाजिक व्यवस्था को नयी गति देता है।

सामाजिक व्यवस्था को गतिमान बनाने की बात महात्मा बुद्ध (563 से 483 ईसा पूर्व) ने भी कही। उनका अवतरण भगवान् श्रीकृष्ण के 1,000 वर्ष बाद हुआ। सारनाथ में बोध ज्ञान प्राप्त करने के बाद जो उपदेश उन्होंने दिया उसे धर्म चक्र प्रवर्तन सूत्र के नाम से जाना जाता है। बुद्ध ने 'धर्मचक्र' प्रवर्तन अपने जीवन का लक्ष्य बताया। 'धर्म को यहाँ चक्र रूप माना है, और मानव जीवन के दोनों रूपों (सामूहिक और व्यक्तिगत) को पहियों पर चलती एक गाड़ी। पंकिल मार्ग पर पहिया फँस जाता है, और जब तक एक बलवान कन्धा उसे चलाने को न मिले वह हिलेगा नहीं। इसी प्रकार एक व्यक्ति या समाज, छोटी-छोटी चीजों में, देह और इन्द्रियों के क्षुद्र भोगों में फँस जाता है। इतिहास बताता है कि रोमन समाज का सिर्फ इसी कारण अपक्षय और नाश हुआ। ऐसा ही हम अपने इतिहास में भी देखते हैं। इन्द्रिय भोग में, सुख में खो जाने पर और जीवन के उन्नत मूल्यों को भुला देने पर, समाज में सड़न पैदा हो जाती है और वह विनष्ट हो जाता है। इसलिए महात्मा बुद्ध ने, सारनाथ में, अपने प्रवचन में कहा था—'आओ, हम चक्र पर अपना कन्धा लगायें और उसे चला दें।' गति का भाव चक्र शब्द में निहित है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा— 'मैं धर्म की शक्ति का संचालन करने आया हूँ।' बुद्ध ने कहा—'मैं धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए आया हूँ।' ठीक यही घटना भारत के इतिहास में बार-बार घटी है। श्री रामकृष्ण ने हमारे युग में क्या किया? ऊपरी दृष्टि से उन्होंने कुछ नहीं किया; अपने समय के राजनीतिक, सामाजिक आन्दोलनों से अलग, वह एक शान्त जीवन जीते रहे। किन्तु, जिन शक्तियों को उन्होंने अपने आन्तरिक जीवन से रचा और संचारित किया, उन्होंने अपने चारों ओर के लोगों और आन्दोलनों को जोरों से प्रभावित किया। और यह प्रभाव जो परिवर्तन का संदेश लिए हुए है सारी दुनिया में फैल रहा है। धर्म को अन्तरात्मा की आवाज मानकर उन्होंने अपना जीवन उसके अनुरूप बनाया। ऐसा करने में उन्होंने धर्म के सूक्ष्म और व्यापक दोनों रूपों को साथ साथ अपने जीवन में स्थान दिया। मानव किस प्रकार धार्मिक जीवन जिये उसका

ज्वलन्त उदाहरण उन्होंने अपने जीवन से प्रस्तुत किया। उन्होंने धर्म का सही उद्देश्य भी बताया और विभिन्न धर्मों के समन्वयात्मक आधार की ओर इंगित करके यह बात समझाई कि धर्म का नाम लेकर लड़ाई-झगड़ा करना धर्म का उपहास करना है। उन्होंने यह भी बताया कि धर्म तो मनुष्य को जीवन के उच्चतम शिखर तक पहुँचने का आह्वान करता है और उसे सच्ची स्वतन्त्रता की अनुभूति के लिए प्रेरित करता है। आत्मा की स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वतन्त्रता है।

दैहिक और सामाजिक दृष्टि से, मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है; वह बाहरी और भीतरी घटकों से बँधा है। स्वतन्त्रता हमारे आध्यात्मिक स्वभाव में है। वही है हमारा सच्चा स्वरूप, अमृत और दिव्य, तथा उसका साक्षात्कार इसी जीवन में करना है। केवल यही सच्ची प्रगति है, सच्ची वृद्धि है, एक सच्चा धर्म है। इसी महान् भाव को श्री रामकृष्ण ने जीवन में प्रकाशित किया और इस प्रकार जीते हुए, उसको उन्होंने इतना बल दे दिया, कि जब दूसरे लोगों को यह भाव मिला, तो साथ में वह बल भी मिल गया। इस भाव की प्रामाणिकता के वे कायल हो गये, क्योंकि श्री रामकृष्ण सचमुच उस पर जिये थे।

यह है वह मार्ग जिसके द्वारा एक रुद्ध समाज, गतिशील बन जाता है और पुनः आगे चलता है। जैसे स्वस्थ शरीर में रक्त का प्रवाह होता है, ऐसे ही समाज-रूपी शरीर में होकर आध्यात्मिक जीवन का रक्त प्रवाहित होना चाहिए। जब एक महान् गुरु आते हैं तो उनके साथ में आती है एक महान् शक्ति, एक नवीन ऊर्जा का प्रवाह। हम एक बार फिर गति आरम्भ करते हैं, और गतिरोध समाप्त होने लगता है। फिर एक बार मनुष्य, उच्चतर मूल्यों को खोजने लगता है। महान् गुरु के पीछे-पीछे सृजनात्मक व्यक्तियों का आगमन होता है, जो गहरे प्रश्न पूछते हैं और स्वयं उनका उत्तर खोजने का प्रयत्न करते हैं—मनुष्य का सच्चा स्वरूप क्या है? उसका अनुभव मनुष्य कैसे कर सकता है? उसका जीवन लक्ष्य क्या है और उसे वह कैसे प्राप्त कर सकता है? आध्यात्मिकता या धर्म, क्या थोड़े से चुने हुए प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों का विशेषाधिकार है, अथवा उस तक सब की पहुँच है?

उपनिषद् घोषणा करते हैं कि आध्यात्मिकता प्रत्येक व्यक्ति का विशेषाधिकार है। यह दिव्य अमर आत्मा, प्रत्येक पुरुष और स्त्री में है। वह ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है। वह ही सब पशुओं का भी सच्चा स्वरूप है, किन्तु वे उसका अनुभव नहीं कर सकते। केवल मनुष्य ही है, जो अपने क्रम विकास में स्वरचित मनोसामाजिक वातावरण की सहायता से अपने अनुपम मनोदैहिक तन्त्र द्वारा, इस सत्य की अनुभूति करने में समर्थ है। इस महान् अनुभूति के लिए मनुष्य विशेष रूप से सज्जित है। उसके पास कुछ सुविधाएँ हैं, और जब वह इनका उपयोग करने लगता है, तो वह आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है। उपनिषद् हमें बताते हैं कि धन और सत्ता, मनुष्य को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान नहीं कर सकते। उपनिषद् मनुष्य की धन और सत्ता के लिए खोज की निन्दा नहीं करते, वे मानव द्वारा खोजे,

किसी मूल्य की निन्दा कभी नहीं करते । वे केवल यह कहते हैं—'इनसे भी कुछ उच्च और श्रेष्ठ वस्तु हैं । उपनिषद् इसी कुछ श्रेष्ठ अन्तस्थ वस्तु के साक्षात्कार करने के लिए अग्रसर होते रहने का प्रोत्साहन देते हैं, श्री रामकृष्ण ने एक नीति कथा में एक लकड़हारे की कहानी बतायी है, जिसमें एक साधु ने वन में लकड़ी काटने जाने वाले, एक लकड़हारे को आगे और आगे बढ़ते रहने की सलाह दी है । इस सलाह पर चलने से यथासमय, एक चन्दन वन मिला, तदन्तर एक चाँदी की खान, फिर एक स्वर्ण की खान तथा वन में अधिक गहरे प्रवेश करने पर, अन्त को एक हीरे की खान मिल गयी तथा वह बहुत धनी हो गया । यह कथा कहते हुए श्री रामकृष्ण बोले—'इसीलिए मैं कहता हूँ, तुम जीवन के किसी भी स्तर पर होओ, तुम्हें अधिक श्रेष्ठ, अधिक पवित्र वस्तुएँ मिलती रहेंगी, केवल तुम अपने अन्तर में गहरे और गहरे जाते रहो ।'

विस्तृत आधार वाली शिक्षा की आवश्यकता

यदि भारतीय संस्कृति, आज इस अति उन्नत विज्ञान और प्रविधि के युग में भी, शक्ति-सम्पन्न है, तो उसका कारण यह है कि भारत इस शिक्षा को भूला नहीं। आज भारत के लिए प्रगति का मार्ग यह है कि वह अपनी प्राचीन संस्कृति में, आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों को आत्मसात् कर ले । किन्तु भारत इसे तभी कर सकता है, जब उसे अपनी विरासत का अहसास हो, जब वह उस विरासत से प्रेरित और सशक्त बन जाये । जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, इस विरासत का स्रोत उपनिषद् हैं तथा उपनिषदों का अध्ययन मनुष्य के लिए आज, पूरब और पश्चिम दोनों में बहुत लाभप्रद अध्ययनों में से एक है ।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है उपनिषदों का अध्ययन भारतीयों को उन मौलिक मूल्यों से परिचित कराएगा, जिन्होंने उसके इतिहास को प्रभावित किया है और जो आज भी उसे प्रभावित कर रहे हैं । कभी-कभी हम अपने को स्वाभाविक रूप से सुसंस्कृत मान लेते हैं । परन्तु यह ठीक नहीं है । संस्कृति को जानने के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है; और फिर उसके अनुरूप जीवन को ढालने की जरूरत है । अपने सांस्कृतिक मूल्यों की यह शिक्षा तथा उनका आत्मसात्करण ही आज भारत के नर-नारियों को, आधुनिक शक्तियों का उपयोग करने तथा उनको मानव सुख तथा हित की सेवा में लगाने की सामर्थ्य देंगे और इसलिए आवश्यकता है कि इस देश का प्रत्येक नागरिक उपनिषदों और भगवद्गीता को समझे और अपनावे, केवल साहित्य या दर्शन के रूप में उनका अध्ययन पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि गहराई से उनकी भावना को समझकर अपना जीवन वैसा ही बनाना होगा ।

जब समझकर हम अपनी विरासत में गर्व अनुभव करेंगे तो हम उस विरासत को भी ले लेने योग्य हो जाएँगे जो पश्चिम ने ग्रीक काल से अब तक दुनिया के लिए छोड़ी है । क्योंकि आज विरासतें एक-देशीय नहीं रह गयीं । आज प्रत्येक सांस्कृतिक

विरासत सारी दुनिया के लिए है। वह एक मानवीय विरासत है। दुनिया इतनी छोटी बन गई है कि सारे प्रादेशिक बाड़े आज पुरावशेष हैं। दुनिया के किसी भाग में उपलब्धि हो, वह सारी दुनिया की विरासत बन जाती है। इसलिए समस्त मानवी विरासत को प्रत्येक व्यक्ति के लिए आज शिक्षा का विषय बनना जरूरी है। स्कूल जाने वाला लड़का या लड़की, आज भारत में, पश्चिम की विरासत को विज्ञान, समाज-विज्ञान तथा अन्य विषयों द्वारा अध्ययन करता है; और इस प्रकार पाश्चात्य संसार के सर्वोत्तम विचार हमारे लड़के-लड़कियाँ ले रहे हैं। इसी प्रकार लड़के-लड़कियों की शिक्षा में भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को शामिल करके विस्तृत किया जाना चाहिए। वही शिक्षा, जिसका आधार विस्तृत है, आधुनिक जगत् की समस्याओं को सुलझाएगी। प्रादेशिकता, जिसने अतीत में दुनिया की इतनी हानि की इस तरह पूर्णतया निराकृत हो जाएगी, तथा दुनिया विश्वैकता की ओर बढ़ेगी।

वैसे तो सदा से ही भारत में चिन्तक जन्मते रहे हैं परन्तु आधुनिक युग में कुछ ऐसे चिन्तक भारत में जन्मे हैं जिनकी गणना अत्यन्त उच्च कोटि के चिन्तकों में की जा सकती है। राजा राममोहन राय (1774–1833) से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक ऐसे ही चिन्तकों की कतार है जो सांस्कृतिक विरासत पर गर्व अनुभव करते रहे हैं; साथ ही साथ नम्रतापूर्वक अपने देशवासियों से यह भी कहते रहे हैं कि अन्य राष्ट्रों की उपलब्धियों से भी अवगत रहें।

आधुनिक भारत के महान् नेता हमें संकीर्ण नहीं होने देंगे। उन्होंने हमसे केवल अपनी ही विरासत पर गर्व को नहीं कहा; उन्होंने हमसे दुनिया के पास जो सर्वोत्तम है, उसे खुले मन से ग्रहण करने को कहा। उन्होंने हम को यह भी बताया कि हमारी पाश्चात्य संस्कृति को अपनाने की सामर्थ्य पहले स्वयं अपनी संस्कृति को अपनाने की सामर्थ्य के प्रत्यक्ष अनुपात पर निर्भर है। स्वयं अपनी संस्कृति को समझे बिना हम कभी भी दूसरी संस्कृति की मूल भावना में प्रवेश न कर सकेंगे और न उसका लाभ उठा सकेंगे। दुर्भाग्य से हम ऐसा ही होते देख रहे हैं। पाश्चात्य संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों की आत्मसात्करण की हमारी सामर्थ्य बहुत थोड़ी है, क्योंकि हम में से बहुत को अपनी दोषपूर्ण शिक्षा के कारण अपनी संस्कृति को समझने का अवसर ही नहीं मिला। अपनी संस्कृति के मूलभूत महान् विचारों से हम परिचित न हो सकें। हमारी शिक्षा अपनी सांस्कृतिक धाराओं से अधिकांशतः अलग कटी रही। यह एक तथ्य है कि भारत का एक शिक्षित नागरिक अपनी संस्कृति के मूल तत्त्वों से अधिकांशतः अनभिज्ञ है, अपनी परम्परा से अनभिज्ञ है। मैंने इस बात को विदेशों में मिले बहुत से भारतीय विद्यार्थियों में सत्य पाया और कई पाश्चात्य मित्रों से सुना और भारत के पाश्चात्य हितैषियों के लिखे कई लेखों में भी पढ़ा कि प्रवासी भारतीय विद्यार्थियों और भारतीय राजनयिक कर्मचारियों में भारत का तथा उसकी संस्कृति का ज्ञान बहुत अधूरा है। अपनी सांस्कृतिक विरासत आत्मसात् करने से प्राप्त शक्ति के अभाव में जब हम पाश्चात्य संस्कृति को ले लेने की कोशिश करते हैं

तो जो कुछ लेते हैं वह उस संस्कृति का केवल एक तुच्छतर अंग है, उस संस्कृति के पीछे जो शक्ति है वह नहीं। अपनी संस्कृति के उचित अधिग्रहण के पश्चात् ही हम किसी दूसरी संस्कृति के शक्तिशाली तत्त्वों को ग्रहण कर सकते हैं।

हमारी शिक्षा की इस त्रुटि को दूर करना आवश्यक है। जहाँ तक हमारे स्कूलों और कालेजों का सम्बन्ध है वहाँ ऐसा करने में हमें कुछ देर लगेगी। किन्तु साधारण नागरिक इस त्रुटि का उपचार कर सकता है। अपनी साहित्यिक व कलात्मक विरासत में प्राप्त समृद्ध सांस्कृतिक सम्पत्ति के लिए अपने मन के द्वार खोल सकता है।

यदि उपनिषद् लिपिबद्ध न होते और ऋषि केवल इन विचारों को लेकर मर जाते, तो कदाचित् भारत के वातावरण में वे विचार फिर भी वर्तमान तो रहते। किन्तु हम में से बहुत लोगों का सम्पर्क उनसे नहीं हो पाता। श्री रामकृष्ण जैसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व ही ऋषियों द्वारा छोड़े गए उन विचित्र विचार-तरंगों के बहने के लिए अपना मन खुला रख सकते थे। किन्तु साधारण मनुष्य यह नहीं कर सकता। हमारा तथा समस्त मानवता का यह सौभाग्य था कि इन ऋषियों के शक्तिशाली विचार लिपिबद्ध हो गए थे जिससे कि मैं और आप इस भाव-संचार को पाने में समर्थ हैं। एक संस्कृति की विरासत साहित्यिक और कलात्मक प्रतीकों की भाषा द्वारा आती है। मनुष्य भावी पीढ़ियों के लिए अपने अनुभव छोड़ सकता है तथा इसी प्रकार मनुष्य को सांस्कृतिक विरासत मिलती है। संचारण और संप्रेषण द्वारा एक संस्कृति बढ़ती और विकास करती रहती है और इस क्रम से समृद्धतर होती रहती है। उस बड़े साहित्य का अध्ययन करके जो ऋषियों ने हमारे लिए विरासत में छोड़ा है, हमें आज उस वातावरण में रहने का सुयोग है जिसमें हमारे ऋषि रहते थे। उपनिषदों का अध्ययन करके हमें भी कदाचित् 'उन गुरुओं के पास बैठने' का अनुभव हो जाए। यही तो 'उपनिषद्' का शाब्दिक अर्थ है।

अभय का सन्देश

उपनिषदों का अपना ही एक वर्ग है। अमर साहित्य होने के कारण ही हम उन्हें श्रुति कहते हैं। उनके प्रतिपादित सत्यों को इन्द्रियों और इन्द्रियबद्ध मन के परे, लोकातीत अनुभूति में हम पाते हैं। किन्तु यह केवल शुद्ध मन द्वारा ही अनुभवगम्य है। ये सत्य सार्वभौमिक और शाश्वत हैं तथा मानवता को सदैव प्रेरित करेंगे। आज संचार के आधुनिक साधनों के द्वारा, विचार संप्रेषण की आधुनिक प्रणालियों के द्वारा, प्रेरणा की इस महान् निधि को अधिकतम प्रचार करने का अवसर आ गया है। स्वामी विवेकानन्द से पहले बहुत कम लोग वेदान्त के बारे में उपनिषदों के तत्त्व-दर्शन के बारे में जानते थे। इन सत्यों को पूरब और पश्चिम में घोषित करने का काम स्वामी

जी ने अपने ऊपर ले लिया था :

> मैं आप को बताना चाहता हूँ, कि हम चाहते हैं शक्ति, शक्ति, और हर समय शक्ति। तथा उपनिषद् शक्ति के महान् भण्डार हैं। उनमें सारे संसार को अनुप्राणित करने की शक्ति भरी पड़ी है; उनके द्वारा समस्त संसार अनुप्राणित, सशक्त और ऊर्जित हो सकता है। तीनों प्रकार की स्वतन्त्रता—दैहिक, सामाजिक और आत्मिक ही तो उपनिषदों का मूल मन्त्र है।[1]

उपनिषदों को इस देश में लोकप्रिय बनाने का काम सबसे पहले शंकराचार्य (788–820 ई०) ने किया। उसके पहले केवल कुछ इनेगिने लोग, अधिकतर संन्यासी, उपनिषदों के महत्त्व को जानते थे। किन्तु शंकराचार्य ने इस निधि को गृहस्थियों और सर्वसाधारण लोगों के लिए खोल दिया। उन्होंने कहा इससे उन्हें लाभ होगा। फिर भी उपनिषद् एक अल्पसंख्यक वर्ग के पास तक ही पहुँच पाए। किन्तु आज स्वामी विवेकानन्द के प्रयत्नों से सब लोगों की पहुँच उपनिषदों तक है। वे अब लगभग प्रत्येक भारतीय भाषा में और अंग्रेजी तथा अन्य कई विदेशी भाषाओं में भी उपलब्ध हैं। जो उन्हें पढ़कर लाभ उठाना चाहते हैं, उन्हें उपनिषदों तक पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं है। स्वामी विवेकानन्द उद्घोषणा करते हैं—'उपनिषदों के सत्य अब तुम्हारे सामने हैं। उन्हें ग्रहण करो, उनके अनुसार जिओ, भारत का निस्तार निकट आ जाएगा।'[2]

किन्तु उपनिषदों को ध्यानपूर्वक पढ़ना आवश्यक है। समाचार-पत्र भी एक प्रकार का साहित्य है; किन्तु उसे सुबह पढ़ते हैं, शाम फेंक देते हैं, इस प्रकार वह साहित्यिक वर्ण-पट के निम्नतम स्तर पर है। उपनिषद् वैसे नहीं हैं; वे उस वर्ण-पट के सर्वोच्च छोर पर हैं। उनका बार-बार पाठ होना चाहिए, मन की परिपक्वता तथा स्पष्टता में प्रत्येक चरण हमें इस महान् साहित्य के मर्म के अधिकाधिक निकट ले जाता है। उनको जितना अधिक हम पढ़ेंगे उतना ही अधिक उनसे पाएँगे, क्योंकि उनके शब्दों का रहस्य हृदय की गहराइयों से ही स्पष्ट होता है। उपनिषदों के शब्द सत्य की गहराई से ही बाहर आते हैं। ऋषियों ने सत्य का अनुभव किया; उन्होंने मनुष्य तथा प्रकृति में कुछ गम्भीर तत्त्व देखा, और उस दर्शन को उन्होंने काव्य का रूप दिया। उपनिषदों के भव्य काव्य ने चिन्तकों और कवियों के हृदय को प्राचीन काल से अब तक प्रभावित किया है। मुण्डक उपनिषद् (II.ii.7) के इस मन्त्र को देखिए—

'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि'—

अर्थात् वह सर्वज्ञ है, सबको देखने वाला है, जिसकी महिमा यह विश्व है।

तो क्या उनकी महिमा केवल बाह्य प्रकृति में है, जो प्रकृति देश-काल में फैली हुई है? उपनिषद् कहते हैं, 'नहीं'। उनकी महिमा स्वयं मनुष्य में विशेष रूप से प्रकाशित है, उसकी सत्ता की गहराइयों में—

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 3, 238।

[2] वही, 225।

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित:

मनुष्य का यह आत्मा प्रतिष्ठित है ब्रह्म के ज्योतिर्मय पुर में, जो मनुष्य का हृदय है ।

उसकी उपस्थिति वाणी, मन और विचार द्वारा अनुभव में आती है :

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय

वह मन तथा विचार रूप में प्रकट होता है। मानव की मानसिक तथा प्राण शक्ति उनमें और उनके द्वारा कार्य करती है, और हृदय में रहकर वह मनुष्य के शरीर को सजीव करती है ।

फिर श्लोक का एक सुन्दर आह्लादमय गीत से समापन होता है—

तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ।

मनीषीगण बाहर-भीतर सब जगह उनकी अनुभूति करते हैं, जिनका रूप आनन्द और अमृत है और जिनकी महिमा इस दृश्यमान जगत के रूप में फूटी पड़ती है ।

श्लोक में 'धीर' शब्द का अर्थ है—मनीषी; तथा बुद्धि और धैर्य के योग का वह द्योतक है । उपनिषद् मनुष्य की महानता का दो रूपों में वर्णन करते हैं—प्रथम, उसकी बुद्धि, जिसके द्वारा वह बाह्य और अन्तर्जगत के तथ्यों को समझता है । दूसरे, उसका धैर्य, शौर्य, जिसके द्वारा वह न केवल ज्ञान प्राप्त करता है बल्कि सत्य और श्रेय का उपार्जन भी करता है । केवल बुद्धि पर्याप्त नहीं; धैर्य भी आवश्यक है । उन दोनों के योग से सर्वोच्च चरित्र बनता है । वहीं जाकर ज्ञान की शक्ति अन्तर्दृष्टि की ऊर्जा में परिणत हो जाती है ।

अनुभव के ऐवरेस्ट पर चढ़ने की, सत्य के उच्चतम शिखर पर पहुँचने की सामर्थ्य बुद्धि को तब मिलती है जब वह धैर्य के प्रकाश से निखरती है । वही धीर हैं, मनीषी; केवल उसी को साक्षात्कार करने का अधिकार है । उस साक्षात्कार का स्वरूप क्या है ? 'परिपश्यन्ति', 'वह सर्वत्र उनकी अनुभूति करता है', बाहर भी, भीतर भी, प्रकृति में तथा मनुष्य में । उसकी परिशुद्ध दृष्टि में समस्त प्रकृति दिव्य भाव से दीप्तिमान हो जाती है । वह उनको—'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति' अर्थात् आनन्द और अमृत रूप प्रकृति में दिखाई देती है ।

शंकराचार्य कहते हैं—यह विश्व, आनन्द की तरंगों, आनन्दलहरी में परिणत हो जाता है, सौन्दर्य की तरंगों, सौन्दर्यलहरी में परिणत हो जाता है । आत्मा मनुष्य में, प्रकृति में, सूर्य-चन्द्र व तारागण में, एक-एक कण में प्रकाशमान है । यहाँ पर एक गहन दृष्टि है जो काव्य में बाँध दी गई है । यह केवल एक बानगी है उपनिषदों में ऐसी और बीसियों मिलेंगी ।

उपनिषदों का यह सुन्दर काव्य अति गूढ़ विचारों का वाहक है । उन विचारों में प्रवेश कर सकना सरल नहीं है । सरसरी पढ़ाई पर्याप्त नहीं होगी; इसके लिए

निरन्तर अध्ययन व निरन्तर विचार की आवश्यकता है। इसके अध्ययन में हम अपने बाहर की प्रकृति के एक अंश, भौतिकी, या रासायनी का अध्ययन नहीं कर रहे हैं। यहाँ हम प्रकृति का ऐसा अध्ययन करते हैं—जो हमारे व्यक्तित्व में अभिव्यक्त होता है और हम इस व्यक्तित्व के अन्तरतम भाग को ढूँढ़ रहे हैं। हमारा यह अध्ययन हमारे विकास, परिपूर्णता और अपने सम्पूर्ण दर्शन से घनिष्ठतः सम्बन्धित है। उपनिषदों का प्रत्येक वाक्य हमारी किसी गहन अन्तर्प्रविष्ट आकांक्षा के अनुरूप है। ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि निरपेक्ष ब्रह्म जो उपनिषदों का विषय है, और जहाँ से ब्रह्मसूत्र का आरम्भ होता है—कोई हमसे और हमारे दैनिक जीवन से दूरस्थित सत्य नहीं है, बल्कि हमारी सबकी अन्तरात्मा को अनुभव से प्राप्त हुई सामग्री है। इसलिए इस विरासत का अध्ययन करने की, समझने की, महान् आवश्यकता है। यदि उपनिषदों की प्रज्ञा का थोड़ा सा भी ज्ञान हमारे जीवन में आ सके तो समस्त देश एक नवीन ऊर्जा, नवीन संकल्प, नवीन साधना, नवीन अनुशासन से अनुप्राणित हो उठेगा। हम भगवद्गीता (II.40) में पढ़ते हैं—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' अर्थात् 'इस धर्म का थोड़ा भी पालन हमें महान् भय से बचा लेता है।' हमारे लिए यहाँ अभय, शक्ति, वृद्धि, साक्षात्कार का सन्देश मिलता है। मनुष्य को चाहिए ऊँचा और ऊँचा उठते रहकर पूर्णता तक पहुँचे, जो समावेशी प्रेम और ज्ञान की एकात्मता है। उपनिषदों का यही सन्देश है, यही शंखनाद है—सत्य और समग्र श्रेय की प्राप्ति के लिए सक्रिय चेष्टा करने का आह्वान है। आध्यात्मिक साक्षात्कार द्वारा क्रम विकास को जीवन की सम्पूर्ण परिपूर्णता के स्तर पर पहुँचाने का आह्वान है। कितना आशापूर्ण है यह सन्देश !

विश्व मानव

उपनिषद् मनुष्य को सर्वोच्च की प्राप्ति के लिए, सतत् संघर्ष करने के लिए, निमन्त्रित करते हैं; जीवन और अनुभव में नित्य, चिरस्थायी, अमृतत्त्व की उपलब्धि के लिए संघर्ष करते रहने के लिए बुलाते हैं। दूसरी जातियों व अन्य संस्कृतियों ने मनुष्य को बाह्य प्रकृति का शासक कहा है, मनुष्य के सामूहिक जीवन के सन्दर्भ में, उसे मूल्यों का निर्माता रूप में वर्णन किया है। उदाहरण-स्वरूप, ग्रीक-विचार में हमें प्रेमीथियन-भावना की धारणा मिलती है, बाह्य बाधाओं पर मानव आत्मा की काबू पाने की शक्ति, तथा प्रकृति की शक्तियों पर अधिकार जमाने की शक्ति और यदि आवश्यक हो तो दूसरे मानवों पर भी अधिकार करने की शक्ति। इस विचार सरणि में भारी त्रुटि यह है कि यदि केवल इसी का अनुगमन किया जाये, तो वह समस्त मानवों के लिए उपयुक्त मार्ग नहीं है। उसका आधार है सब बाह्य वस्तुओं पर मनुष्य के अधिकार की धारणा; वह आत्मानुशासन की कोई बात नहीं करता। मनुष्य का अपने वातावरण पर अधिकार एक मान्य

धारणा है, यह एक प्रकार से मानव की उत्कृष्टता का द्योतक है । पश्चिम ने इसकी अभिव्यक्ति को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है । हमें भी इस बात को अपने देश-वासियों को बताने की जरूरत है । किन्तु यही तो मनुष्य की सर्वोच्च क्षमता नहीं है । ऐसा करने से तो केवल उसके अहंभाव को बढ़ाया गया है । भारतीय विचार के अनुसार जब मनुष्य पूर्णतया अहंभाव का अतिक्रमण कर लेता है तो वह पाता है कि शासन करने के लिए और कोई नहीं है । वह पाता है कि वह सबके साथ एक हो गया है, क्योंकि उसने आत्मा का सबमें साक्षात्कार कर लिया है ।

दूसरे शब्दों में वह अपने आपको विश्व-मानव के रूप में, बाहर और भीतर समाकलित तथा स्वयं मनुष्य और प्रकृति के हृदय में स्पन्दन करता हुआ खोज लेता है । हमारे जैसे सामान्य, नर-नारियों में से इस विश्वमानव की उन्मुक्ति उपनिषदों का लक्ष्य है । यह है जो हमारे उपनिषदों को आज इतनी सामयिक रूचि और महत्त्व देता है । समस्त प्रगतिशील चिन्तन का विश्व-मानव ही मुख्य विषय है । इसलिए आधुनिक जगत में समस्त प्रगतिशील विचारों में उपनिषद् अग्रणी हैं । मनुष्य को राष्ट्रीय, प्रजातीय, साम्प्रदायिक या विभिन्न दूसरे सीमित करने वाले पर्यावरणों से उबारना होगा । आधुनिक मानव के साथ स्वामी विवेकानन्द भी उपनिषदों के वेदान्तिक सन्देश की महिमा मानते थे और उन्होंने दिखा दिया कि आधुनिक समाज के लिए वह कितना कल्याणकर हो सकता है । उन्होंने यह भी सिखाया कि इस दर्शन को दैनन्दिन जीवन में कैसे व्यावहारिक बनाया जाए । इसलिए इस गम्भीर साहित्य, उपनिषद् और भगवद्गीता, का बुद्धिपूर्वक अध्ययन, उसमें समाविष्ट दर्शन वेदान्त का, आधुनिक विचारों और आवश्यकताओं के सन्दर्भ में पठन, सब जगह के नर-नारियों के लिए लाभप्रद सिद्ध होगा ।

दो

ईशोपनिषद्

ईशोपनिषद्, जिसका सभी उपनिषदों में सदा से प्रथम स्थान माना गया है, का विशेष महत्त्व है। इसके पहले मन्त्र में जो कुछ कहा गया है दूसरे सभी उपनिषद् उसे सिद्ध और प्रमाणित करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रथम मन्त्र में निहित दर्शन, कालान्तर में उस महान् समन्वय की पृष्ठभूमि बन गया, जिसका प्रकाश भगवद्गीता में प्राप्त है। वास्तव में ईशोपनिषद् का भगवद्गीता के साथ अति निकट का नाता है, शंकराचार्य ने जिसको बाद में अपनी गीता-भाष्य की सुन्दर भूमिका में 'समस्त-वेदार्थ-सार-संग्रहभूतम्' कहकर उल्लेख किया है, अर्थात् समस्त वेदों के अर्थ का सार जिसमें संग्रहीत है। स्वयं भगवद्गीता इस बात को प्रत्येक अध्याय के अन्त में, एक पुष्पिका द्वारा घोषित करती है कि उपनिषदों की गम्भीर तत्त्वमीमांसा के नैतिक तथा आध्यात्मिक निहितार्थ प्रकाशित करना उसका उद्देश्य है।

भारत के प्राचीन और आधुनिक सब महान् चिन्तकों ने ईशोपनिषद् से प्रेरणा पायी है। इसलिए भगवद्गीता के अध्ययन से पहले, हम इस उपनिषद् का अध्ययन करेंगे और बाद को दूसरा, केनोपनिषद्, तदुपरान्त कठोपनिषद् का। किन्तु हमारे मुख्य अध्ययन का विषय होगा भगवद्गीता, क्योंकि, जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा था गीता वह ग्रन्थ है जिसमें इस युग के लिए उपयुक्त दर्शन मिलता है। गीता किसी मतवाद या हठमत का प्रतिपादन नहीं करती, किसी सम्प्रदाय की वकालत नहीं करती, बल्कि मनुष्य के अनुभव के सब पहलुओं में, उसके जीवन में अन्तर्दृष्टि देती है और वह क्रियाविधि (तकनीक) सिखाती है जिसके द्वारा जीवन सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट ढंग से किया जा सके। उसमें सहिष्णुता व सार्वलौकिकता की भावना भरी हुई है। भगवद्गीता का अध्ययन इसलिए बहुत व्यावहारिक महत्त्व रखता है; और सब लोग चाहे, पूरब के हों, या पश्चिम के, उनसे अपनी चाहत के अनुसार सर्वोत्तम आध्यात्मिक लाभ पा सकते हैं। भगवद्गीता का बोध उस समय अधिक

सरल हो जाएगा जब हम उपनिषदों में उसकी आध्यात्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि को जान लेंगे।

जब हम उपनिषदों की प्राचीनता को देखते हैं तो यह बात हमें विशेष रूप से आकृष्ट करती है। इतिहास के इन तीन-चार हजार वर्षों में मानव समाज में, उसके विचारों में, दृष्टियों में, तथा मूल्यों में इतना परिवर्तन हो चुका है तो भी उसके मन से उपनिषदों का आकर्षण कम नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि उपनिषद् मौलिक वस्तुओं की, उन विषयों की व्याख्या करते हैं, जो जीवन पर गम्भीर प्रभाव रखते हैं। सचमुच ऐसा लगता है कि उपनिषदों ने जीवन व अनुभव के असली प्रेरणा-स्रोत को स्पर्श किया है और उन्होंने एक ऐसी विचार-शक्ति प्रसारित की है, जिसमें मानव जीवन को किसी भी युग में विकसित करने की क्षमता है। उपनिषदों की वाणी महान् संगीत है, जिसका स्वर लहरियों में, युग-युग के संवेदनशील मनुष्यों के हृदयों को मोहित कर लेने की सामर्थ्य रखता है। जो कोई उपनिषदों को श्रद्धापूर्वक, जिज्ञासु भाव से पढ़ेगा, स्वयं ही उसको सीधी और गहरी काव्यमय भव्यभाषा में सज्जित, उनकी गहरी और गम्भीर उक्तियों की मनोहारिता का अनुभव हो जाएगा। एक आध्यात्मिक जिज्ञासु जो उपनिषद् पढ़ता है उसे ऐसा लगता है कि वह ऐसा विषय अध्ययन कर रहा है जो उसके जीवन और गन्तव्य से सम्बन्धित है—ऐसे तत्त्व से जो उसके भीतर भी है और बाहर जगत् में भी है। उस तत्त्व के गहरे स्पन्दन, उपनिषद् के मधुर संगीत में बाँध दिए गए हैं।

यह जगत क्या है ?

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते;
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अदृश्य (ब्रह्म) पूर्ण है, दृश्य (जगत्) पूर्ण है। पूर्ण (ब्रह्म) से पूर्ण (दृश्य जगत्) की उत्पत्ति हुई। पूर्ण (दृश्य जगत्) की सृष्टि होने के बाद भी पूर्ण (ब्रह्म) पूर्ण (ब्रह्म) ही रहता है।

जिस संस्कृत मन्त्र का मैंने अभी उच्चारण किया वह शान्ति-पाठ है, जो ईश उपनिषद् तथा समस्त शुक्ल यजुर्वेदीय अन्य उपनिषदों के आरम्भ में कहा जाता है। अपने अर्थ और महत्त्व में यह मन्त्र बड़ा गम्भीर है। थोड़ी सी सतरों में उपनिषदों का समस्त विचार केन्द्रीभूत है। 'पूर्णमदः पूर्णमिदं'—'वह पूर्ण है; यह भी पूर्ण है', यह विचार के बोध, विस्तार और व्याप्ति को एक साथ प्रकाशित करता है। वेदान्त की तकनीकी भाषा में, 'वह' तथा 'यह' शब्द विशिष्ट अर्थ रखते हैं। 'इदं' (यह) एक संकेतवाचक सर्वनाम है जिसमें किसी उस वस्तु की ओर संकेत करने का प्रयास है जो इन्द्रियों के अनुभव में आ चुकी है। यह देश, काल और परिणाम के इस व्यक्त ज़गत् का प्रतीक है। जब मानव मन को अपने चारों ओर के संसार का ज्ञान हो

जाता है, तब उसमें ये भी प्रश्न उठता है कि उसे घेरे हुए यह संसार क्या है ? यह जगत् क्या है, जो हर समय हम से टकरा रहा है। पंच इन्द्रियों द्वारा मानव मन निरन्तर सूचना पाता रहता है। इन तथ्यों से उसे कुतूहल होता है तथा वह उसके विषय में जानना चाहता है और तुतलाते या स्पष्ट भाव से इस प्रश्न का निरूपण करता है : यह हमारे दैनिक अनुभव का जगत् क्या है ? समस्त ज्ञान का प्रारम्भ इसी प्रश्न से होता है। विलियम जेम्स, एक अमरीकन दार्शनिक के शब्दों में, एक नवजात शिशु के लिए जगत्, 'एक गूँजता गुंजारता गड़बड़झाला' है। इसी 'गूँजते गुंजारते गड़बड़झाले' को थोड़ा-थोड़ा करके यह शिशु समझना चाहता है, पहले अल्प-विकसित ढंग से, पीछे युवा और प्रौढ़ होकर, तार्किक और वैज्ञानिक अन्वयव्यतिरेक, अर्थात् संश्लेषण-विश्लेषण द्वारा अधिक बोधगम्य रीति से। मानव मन पर बाह्य जगत् के संघात (टक्कर) का साकल्य (सम्पूर्णता), इस 'इदं' शब्द का अर्थ है। मन के इस प्रश्न का हम फिर उत्तर कैसे देंगे ? पूरब और पश्चिम में विकसित दार्शनिक विचार ने इस प्रश्न के विविध उत्तर दिये हैं जो विचार के विविध स्तरों से आते हैं। कुछ उत्तर जो उपनिषदों में मिलते हैं उनकी गूँज हमें आधुनिक वैज्ञानिक विचार में मिलती है। मान लीजिये हम इस प्रश्न का उत्तर 'प्रकृति' शब्द से देते हैं। हम कह सकते हैं कि यह जगत् प्रकृति का, किसी आदि शक्ति का जिससे प्रकृति बनती है, या जैसा कि ब्रिटिश खगोलज्ञ फ्रेडहायल हमें बताते हैं—किसी ब्रह्माण्डीय धूलिकणों का परिणाम है। ठीक यही उत्तर उपनिषदों में भी मिलते हैं। किन्तु उपनिषद् इन उत्तरों को आरम्भिक मानते हैं, यह कहना अधिक अच्छा होगा 'प्रदेशमात्रम्' अर्थात् केवल सीमित रूप में सीमित दृष्टि से दिये हुए, अर्थात् बाह्य जगत् के। यद्यपि बीसवीं सदी के वैज्ञानिक विचार में क्रान्तिकारी प्रगति हो गयी है फिर भी उन्नीसवीं शती की प्रचलित दृष्टि यही थी और अनेक वैज्ञानिक अब भी इसका समर्थन करते हैं।

इस प्रश्न का दूसरा उत्तर अधिक गहराई से मिलता है, और उसमें एक दूसरा दृष्टिकोण अनुस्यूत है, अर्थात् आन्तरिक। कुछ प्रसिद्ध भौतिकशास्त्रियों, खगोलशास्त्रियों व जीवशास्त्रियों के अवदानों द्वारा बीसवीं शती का विज्ञान इस दृष्टि-कोण से क्रमशः परिचित हो रहा है। इनमें से मैं जीवाश्मशास्त्री, पियरे तेलहार्द-द-शारदां के निष्कर्षों का उल्लेख करना चाहूँगा। शारदां पूछते हैं—'क्या अब तक कभी विज्ञान ने संसार को, बाह्य के अतिरिक्त, किसी और दृष्टि से देखने का प्रयास किया है ?'[1]

और वे आगे कहते हैं, 'भौतिकशास्त्री की दृष्टि में कम से कम अब तक तो, वस्तुओं के बाह्य के अतिरिक्त, कुछ भी युक्ति-युक्त नहीं दिखाई देता। जीवशास्त्री के लिए भी यही दृष्टिकोण अभी तक सुसंगत है, जिसके जीवाणु संवर्द्धन (कल्चर) (कुछ वास्तविक कठिनाइयों को छोड़कर) प्रयोगशाला के अभिकर्मक (रिएजेन्ट) मान लिए जाते हैं। किन्तु वनस्पति क्षेत्र में यह और भी कठिन है। जीवशास्त्री के लिए जो कीटों या केंचुआ जाति के व्यवहार का अध्ययन कर रहा हो—यह एक जुआ खेलने

[1] द फिनोमिनन ऑव मैन, विद एन इन्ट्रोडक्शन बाइ जूलियन हक्सले, कालिन्स, लन्दन, 52।

जैसा है। कशेरूकी अर्थात् रीढ़-दार जीवों के सम्बन्ध में बिल्कुल निरर्थक मालूम होता है। अन्त में, मनुष्य के सम्बन्ध में तो यह युक्ति बिल्कुल टूट जाती है, जहाँ 'अन्तस्' के अस्तित्व को देर तक नहीं टाल सकते, क्योंकि यह एक प्रत्यक्ष अन्तर्बोध का विषय तथा समस्त ज्ञान का सार है।'[1]

तेलहार्द-द-शारदां आगे कहते हैं—'यह बात नकारना असम्भव है कि हमारे भीतर की गहराई में जीवों के हृदय में एक 'अन्तस' प्रकट होता है, मानो किसी दरार में से दिखाई दे रहा हो। किसी न किसी मात्रा में निश्चित करने के लिए यह काफी है कि यह अन्तस् सर्वत्र सर्वदा प्रकृति में स्वयं घुसा बैठा है। क्योंकि विश्व के पदार्थ में अपने ही एक बिन्दु पर एक आन्तरिक पहलू है, तो अवश्य ही उसकी बनावट के दो पहलू हैं, अर्थात् देश-काल के प्रत्येक क्षेत्र में—उसी प्रकार जैसे कि हम कहें—वह कणदार है: 'वस्तुओं के 'बाह्य के' साथ-साथ वस्तुओं का एक अन्तस् भी है।'[2]

भारतीय चिन्तन और आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन दोनों संसार की विविधता के पीछे एक मौलिक एकता मानते हैं। वही मौलिक अद्वितीय तत्त्व, जो कुछ संसार में हम चारों ओर देखते हैं, उन रूपों में विकसित होता है। यह विचार भारत में कई हजार वर्ष पुराना है, भारतीय चिन्तन के सांख्य और वेदान्त दर्शनों में हम इसको पाते हैं और वे उसकी लगभग उसी प्रकार व्याख्या करते हैं जैसा आधुनिक चिन्तन करता है। 1893 में शिकागो के सर्वधर्म महासम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ने अपने भाषण में कहा कि 'समस्त विज्ञान अन्त में इसी निर्णय पर आएगा। अभिव्यक्ति, न कि सृष्टि, आज विज्ञान का नारा है और हिन्दू इसीलिए प्रसन्न है कि वह जिस बात को अपने हृदय में युगों से संजोए बैठा है उसी को अधिक प्रबल भाषा में उसे पढ़ाया जाने वाला है, और वह भी विज्ञान के नवीनतम निर्णयों द्वारा अधिक प्रकाश के साथ।'[3]

सांख्य-दर्शन 'प्रकृति' (या 'प्रधान') को समझाने के लिए दो शब्द प्रयोग करता है: प्रकृति, अव्यक्त अवस्था और विकृति, उसकी व्यक्त अवस्था। उसी प्रकार वेदान्त में ब्रह्म, निष्क्रिय अवस्था और माया (या शक्ति), सक्रिय अवस्था, जो एक ही आदिम, अद्वय सत्य की दो अवस्थाएँ हैं। वेदान्त का ब्रह्म विश्व के आध्यात्मिक और अनाध्यात्मिक, चैतन्य और जड़, दोनों पहलुओं की एक इकाई है, आधुनिक विज्ञान के चिन्तन के विसदृश जिसमें प्रकृति विश्व के केवल जड़ पहलू की इकाई मानी जाती है। तो जगत् क्या है? इस प्रश्न का पहला उत्तर हमें मिलता है बच्चे के उत्तर में, उसके बाह्य जगत् की पृथक्-पृथक् वस्तुओं और घटनाओं के ज्ञान में, तथा उनके अस्पष्ट परस्पर सम्बन्धों के बढ़ते हुए ज्ञान में। दूसरा उत्तर उस वैज्ञानिक

[1] वही, 55।
[2] वही, 56।
[3] कम्पलीट वर्क्स, भाग 1, 13।

चिन्तन का परिणाम है जो हमें अनेक के पीछे एक का ज्ञान देता है। संसार की समस्त सत्ताएँ और घटनाएँ उसी एक मौलिक सत्य के रूपान्तरण या विकास हैं, उसे चाहे प्रकृति कहें या देश-काल या ब्रह्माण्डीय कण।

यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन अभी तक किसी आध्यात्मिक सत्य या सिद्धान्त को स्थान नहीं देता फिर भी शारदां और जूलियन हक्सले जैसे वैज्ञानिक, विश्व की वैज्ञानिक तस्वीर में, अध्यात्म के अनुभव के लिए एक योग्य स्थान निर्धारित करने में संलग्न हैं। जब यह प्राप्ति हो सकेगी, तो विश्व की वैज्ञानिक तस्वीर जो पहले ही से वेदान्त के निकट है, और अधिक निकट हो जाएगी; और वस्तुओं के 'बाह्य' और 'अन्तस्' के ज्ञान का संश्लेषण हमें विश्व की एक सम्यक् दृष्टि प्रस्तुत कर देगा। वेदान्त के अनुसार यही मनीषा है। अन्य समस्त आंशिक दृष्टियाँ केवल खण्ड ज्ञान मात्र हैं।

देश और काल के परे

उपनिषद् का सम्बन्ध वस्तुओं के इस 'अन्तस्' से है। वास्तव में मानव की सांस्कृतिक विरासत में यह विचार अति महत्त्वपूर्ण है। वस्तुओं के सत्य के इस पहलू को, वे प्रत्येक चैतन्य या प्रत्येक आत्मन् या प्रत्येक तत्त्व कहते हैं; तथा उनमें उन स्तरों का मोहक वर्णन है जिसके द्वारा मानव मन अपरिष्कृत प्रारम्भों से उठकर, पूर्ण, स्पष्ट आध्यात्मिक तत्त्व के साक्षात्कार की ऊँचाइयों पर पहुँचा। उपनिषदों के ज्ञान के 'अन्तस्' का 'बाह्य' के ज्ञान के साथ तत्त्व के सम्पूर्ण बोध रूप में संश्लेषण किया।

यह सम्पूर्ण दृष्टि है जो इस मन्त्र में व्यक्त है। यह संसार हमें बाहर से देखने पर कैसा मालूम होता है ? इसका उत्तर हम विज्ञान में खोजते हैं। जब हम उसको अन्दर से देखना चाहते हैं कि वह कैसा मालूम होता है ? तो इसका उत्तर हम धर्मशास्त्र में खोजते हैं। दर्शन, जैसा कि औपनिषदिक परम्परा में माना जाता है, इन दोनों उत्तरों का संश्लेषण है : 'ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां' जैसा कि मुण्डक उपनिषद् में कहा है; या 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम' जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है अर्थात्, मेरे मत के अनुसार, संसार के बाहर और भीतर का एकीकृत ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।

ऐसी समग्र दृष्टि के अनुसार न 'भीतर' है न 'बाहर' है। 'भीतर' 'बाहर' किसी प्रसंग-बिन्दु के सन्दर्भ में ही होते हैं, जैसे शरीर को आधार बनाकर वे सापेक्षता के दायरे में घूमते रहते हैं। तत्त्व न 'बाहर' जानता है न 'भीतर', वह सदैव पूर्ण है। ये सापेक्षिक सम्प्रत्यय सम्पूर्ण तत्त्व को समझने में सहायक मात्र हैं।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि 'इदम्' अर्थात् नानात्व के अनुभव के हमारे ज्ञान में, कुछ और भी अनुस्यूत है, नानात्व के पीछे एकत्व। नानात्व के पीछे यह

एकत्व, जो इन्द्रियों को प्रतीत नहीं होता, 'अदः' अर्थात्, 'वह' से निर्देशित होता है, जो इन्द्रिय अनुभव के 'इस' के विसदृश, किसी दूर की वस्तु का निर्देश करता है। 'यह', 'वह' का अन्योन्याश्रयी है; 'यह' तत्त्व का परिवर्तनशील पहलू है; 'वह' अपरिवर्तनशीला है। यदि 'यह' इन्द्रिय-अनुभव में मिली किसी चीज का निर्देश करता है, तो 'वह' इन्द्रियों के अनुभव के परे 'किसी' लोकातीत का निर्देश करता है। 'यह' कहने पर, इसलिए साथ ही साथ किसी 'उस' वस्तु की सूचना है जो 'यह' के परे है। 'यह' एक कार्य है; इसलिए वह गोचर या ज्ञेय है; इसके पीछे और परे कारण है, जो अगोचर और अज्ञेय है। अदः, 'वह' गोचर के परे अगोचर का सूचक है, लोकानुभूत के परे लोकातीत का, कुछ ऐसे तत्त्व का जो काल और देश के परे है। धर्म में इस कुछ को 'ईश्वर' कहते हैं। दर्शन में उसे 'तत्' या 'अदः' कहते हैं, अर्थात् वह, ब्रह्म, परम तत्त्व, विश्व का परम कारण, परम आधार, विश्व का परम गन्तव्य।

इसलिए यह मन्त्र पहले हमें यह बताता है कि इस व्यक्त जगत् के परे और पीछे ब्रह्मतत्त्व है, जो शुद्ध सत्ता की पूर्णता है; और फिर वह मन्त्र हमें सम्भवन रूप जगत् के विषय में बताता है, जो ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ न होने के कारण, 'पूर्ण' ही है। सम्पूर्ण तत्त्व की दृष्टि से, सर्वत्र 'पूर्णता' है, देशकाल में तथा देशकाल के परे भी। फिर मन्त्र बताता है :

'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'

ब्रह्म की पूर्णता से विश्व की पूर्णता आई। जो शेष रहा वह भी पूर्ण।

तो वह कौन सा दृष्टिकोण या स्तर है, जिससे इस मन्त्र के ये भाव निकल रहे हैं? वह है समग्र तत्त्व के दृष्टिकोण से, निरपेक्ष और अनन्त तत्त्व का स्तर, जिसमें, जैसा मैंने पहले कहा था, वस्तुओं का 'बाह्य' और 'अन्तस्' विलीन होते हैं। उपनिषद् उसे सच्चिदानन्द का सागर कहते हैं। जहाँ निरपेक्ष सत्, निरपेक्ष चित् और निरपेक्ष आनन्द का एकत्व है। स्वयं इस देशकाल की विशिष्टता के परे होते हुए भी, वह स्वयं को ऐसी सब विशिष्टताओं के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। उपनिषद् के ऋषि की संशुद्ध दृष्टि में यह समस्त विश्व जो था, जो है, तथा जो होगा, सत् की पूर्णता के रूप में दिखाई दिया। भगवद्गीता (VII.26) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन,
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।

हे अर्जुन भूत, भविष्य, वर्तमान के सब प्राणियों को मैं जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं वास्तविक में की पूर्णता इन परिमित कोटियों से, देश और काल, कारण और कार्य, तथा गुण और द्रव्य से परे है।

पूर्णता के लिए प्रयास

वही ब्रह्म का स्वरूप है। उपनिषदों का विषय भी है। यही ब्रह्म है। मनुष्य का भी सच्चा स्वरूप यही है। इसलिए, उपनिषद् में दूसरा विषय है मनुष्य द्वारा अपने इस सच्चे स्वरूप या पूर्णता की उपलब्धि। 'पूर्णता' शब्द का मानव के मानस पर प्रबल प्रभाव होता है। पूर्णता कहने से, तात्पर्य है संसिद्धि, एकता और अखण्डता; और ये वे शब्द हैं जो मानव हृदय की गहन आकांक्षाओं को व्यक्त करते हैं, जिनको बहुत दिनों तक हम नहीं दबा सकते। मानव हृदय का प्रत्येक स्पन्दन, साधारणतया मानव जीवन का प्रत्येक संघर्ष, परिपूर्ति के लिए होता है। जीवन में प्रत्येक कदम जो हम उठाते हैं उसका लक्ष्य परिपूर्ति है, अखण्डता की लालसा उसका प्रेरक हेतु है। जगत् का सामान्य लक्षण यही है, बिन्दु, सिन्धु से मिलन के प्रयत्न में रहता है, अंश अपनी पूर्णता पूर्णांक में पाता है; तथा मनुष्य अपनी परिपूर्णता ईश्वर में पाता है।

समस्त प्रपञ्च की इस व्याख्या का समर्थन हमें कुछ आज के अत्यन्त उन्नत जीवशास्त्रियों के विचार में मिलता है। नवम्बर 1959 में शिकागो विश्वविद्यालय में हुए डारविन शतवार्षिक उत्सव सम्बन्धित वैज्ञानिकों के सम्मेलन की कार्यवाही में, जो 'इवोल्यूशन आफ्टर डारविन' नामक पुस्तक की तीन जिल्दों में प्रकाशित है, जूलियन हक्सले अपने 'एमरजेन्स ऑव डारविनिज्म' शीर्षक लेख में, जो उसके प्रथम खण्ड का प्रारम्भिक निबन्ध है, कहते हैं—

> 'यदि हम अपने वर्तमान ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में देखें तो मनुष्य का चरम लक्ष्य न केवल जीवित बना रहना, संतति वृद्धि करते जाना, अपने परिवेश पर अधिक नियन्त्रण प्राप्त करना या अधिकाधिक भौतिक वस्तुओं पर अपना अधिकार जमाना नहीं है। उसका लक्ष्य तो परिपूर्ति है। ऐसी परिपूर्ति जिसमें मनुष्य व्यक्तिगत रूप से और सामाजिक रूप से अधिकाधिक पूर्णता अनुभव करे।'[1]

फिर सम्मेलन के अन्तिम सत्र में 'द इवोल्यूशनरी विज़न' विषय पर बोलते हुए उन्होंने कहा—

> 'मनुष्य का विकास मनोसामाजिक है, जैविक नहीं। वह सांस्कृतिक परम्परा द्वारा काम करता है, जिसमें मानसिक क्रियाओं और उनके उत्पादनों का संचय, स्वप्रजनन तथा उनका स्वरूपान्तरण अनुस्यूत है। इसीलिए विकास-चक्र तभी चलता है जब ज्ञान में, विचारों में और विश्वासों में फेर-बदल होती है। यह सब सैद्धान्तिक स्तर पर ही सम्भव है, शारीरिक या जैविक स्तर पर नहीं।'....
>
> 'सभी प्रमुख विचारधाराएँ मनुष्य की उन समस्याओं का हल ढूंढ़ने की कोशिश

[1] द इवोल्यूशन ऑव लाइफ: इट्स ऑरिजिन, हिस्ट्री, एण्ड फ्यूचर, वाल्यूम 1 ऑव इवोल्यूशन आफ्टर डारविन, एडिटिड बाइ सोल टैक्स, यूनिवर्सिटी ऑव शिकागो प्रेस, 21।

'करती हैं जो या तो तात्कालिक हों, या उसके दूरगामी उद्देश्यों से सम्बन्धित हों। वे सब मनुष्य के जीवन-लक्ष्य और महत्त्व की एक बोधगम्य तस्वीर की व्याख्या करने में और उसमें मनुष्य की तथा उस संसार की जिसमें उसे रहना है दोनों की स्थिति और भूमिका की व्याख्या करने में दिलचस्पी रखती हैं।....

'एक बार यदि हमें यह विश्वास हो जाए कि मनुष्य का जीवन-लक्ष्य मानवों के लिए अधिकाधिक परिपूर्ति उपलब्ध कराना है तो 'उपयोगिता' शब्द का प्रचलित भाव गौण बन जाता है। भौतिक पदार्थों का उत्पादन मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए तो आवश्यक है परन्तु किसी सीमा तक। उससे आगे तो वह उपभोक्ता का नुकसान ही करेगा, उदाहरण के लिए टेलिविजन सैट, कपड़े धोने की मशीनें, या भोजन को ही लें जिनका वे एक सीमा के बाद मानव-जीवन में ही या तो कोई उपयोग नहीं है और या वे उसके लिए अनावश्यक और अलाभकारी बन जाते हैं। वैसे भी भौतिक पदार्थों का उत्पादन अपने आप में जीवन का एक साधन है साध्य नहीं।'[1]

मनुष्य के जीवन लक्ष्य की उपलब्धि को, अन्ध और अपव्ययी प्रकृति के विकास पर नहीं छोड़ा जा सकता। प्रकृति ने मनुष्य के वर्तमान रूप को प्राप्त कराने में पचास करोड़ वर्ष लिये हैं और इस हिसाब से सिद्ध-पुरुष या पूर्ण मानव को पैदा करने में विकास-क्रम अभी कई अरब वर्ष और लेगा।

हमें प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। तो क्या हम इतने दिन प्रतीक्षा करें? या उसको अभी उपार्जित कर लें? क्या हम प्रकृति की तरंग के साथ बहते रहें तथा अपनी पूर्णता तब प्राप्त करें जब प्रकृति उसे हमें प्राप्त करा दे? या हम अपना जीवन लक्ष्य प्रकृति के हाथ से छीनकर अपने हाथ में ले लें और सम्पूर्णता को यहाँ और अभी प्राप्त कर लें? जूलियन हक्सले हमें बताते हैं कि अपनी बुद्धि, शक्ति और कल्पना सहित मनुष्य में, अपने विकास को दिशा देने तथा अपने में और अपने परिवेश में उसकी गति तेज कर देने की सामर्थ्य है। वह कहते हैं—

'अपने पास एक मन होने के कारण ही मनुष्य इस जगत् का प्रभावी अंश, तथा उसके भावी विकास के दायित्व का कर्ता बन गया है; और उस मन के सम्यक् प्रयोग के द्वारा ही, वह उस दायित्व को सही-सही निभा सकेगा। इस कार्य में, वह बहुत आसानी से विफल हो सकता है; वह सफल तभी होगा जब वह जान-बूझकर उसका सामना करे और अपनी समस्त मानसिक शक्तियों का प्रयोग करे—ज्ञान और युक्ति, कल्पनाशक्ति, संवेदन शक्ति और नैतिकता।'[2]

ये विचार उपनिषदों की मनःस्थिति और चिन्तन के नितान्त समस्वर हैं। तथा आधुनिक विचार को समृद्ध करने और मनुष्य की पूर्ण संसिद्धि के लिए क्रम विकास की गति को तीव्र करने के लिए, उपनिषदों में एक मार्मिक मानवी विरासत

[1] इस्स्यूज इन इवोल्यूशन, वाल्यूम 3 ऑव इवोल्यूशन आफ्टर डारविन, 251–59।

[2] वही, 252।

है। यह दुर्भाग्य है, कि अधिकांश आधुनिक वैज्ञानिक, जिनमें हक्सले भी शामिल है, इस भारतीय विरासत से अनभिज्ञ हैं। उन्हें उस विरासत के नकारात्मक अंशों का ज्ञान है, सकारात्मक अंशों का नहीं। उपर्युक्त भाषण में, हक्सले ने दो बार भारतीय विरासत का उल्लेख किया, किन्तु दोनों बार उसी का, जो उन्होंने अपने भारत भ्रमण में एक हिन्दू को, अपने बच्चे का, काली माई को प्रसन्न करने के लिए, वध करने के बारे में सुना था। पश्चिम में वेदान्त के अबाध प्रसार के साथ, अगले एक या दो पीढ़ियों के पश्चिमी वैज्ञानिक, भारत के उन्नत दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों से भली-भाँति परिचित हो जायेंगे; पश्चिम तब समझेगा इस विरासत की गहराई को, आधुनिक पाश्चात्य विचारों के साथ उसके निकट के नाते को तथा आधुनिक जगत के लिए उसकी अर्थवत्ता को।

हक्सले जैसे वैज्ञानिकों के द्वारा प्रस्तुत आधुनिक विचार, वेदान्त के समान भौतिक परिवेश पर मन का प्रभुत्व मानता है। 'अब से आगे विकास का कर्ता मनुष्य है', जीवशास्त्रियों की इस उक्ति का अभिप्राय यही है। किन्तु मानव विकास की इस प्रगति में, आधुनिक विचार का जोर बाह्य परिवेश के संचालन पर बहुत अधिक है। भीतरी परिवेश के संचालन पर जोर बहुत कम है परन्तु मनोसामाजिक विकास के उच्च स्तरों पर इस भीतरी परिवेश की पूर्ण भूमिका है; इस आन्तरिक परिवेश के संचालन के ज्ञान और तकनीक का बोध आधुनिक विचारकों को उतना नहीं है जितना वह भारतीय दर्शन में व्याप्त है। सच बात तो यह है कि आन्तरिक परिवेश के संचालन की इस तकनीक का नाम ही धर्म है। हक्सले इस बात को स्वीकार करता है :

> 'विकास-क्रम में मानव जिस स्थान पर पहुँचा है उसका सारा श्रेय उसके मन को है। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि मन की उड़ानों से वह अभी भी पूर्णतः अनभिज्ञ सा ही है। आगामी युग में यह मनोवैज्ञानिक छान-बीन बढ़ेगी और उसके परिणाम उतने ही दूरगामी और आश्चर्य पैदा करने वाले होंगे जितने कुछ सदियों पहले पृथ्वी के बारे में भौगोलिक अध्ययनों से हुए थे। मन से सम्बन्धित ये शोध आगे आने वाली पीढ़ियों का जीवन पूर्ण और सुसमृद्ध करने में अधिकाधिक सहायक सिद्ध होंगे।'[1]

अपने हजारों वर्ष के लम्बे इतिहास में अन्तर्जगत की वैज्ञानिक छानबीन भारत का विशिष्ट क्रियाकलाप रही है। अतीत में उपनिषदों के ऋषि, कृष्ण, बुद्ध, शंकर और इन जैसे ही कुछ और आध्यात्मिक चिन्तक, तथा हमारे काल में रामकृष्ण और विवेकानन्द, इसी क्षेत्र में छानबीन और प्रयोग करते रहे हैं। वे मानव के प्रति संवेदनशील रहकर ही उसे प्रेरित करते रहे हैं। वे सब—चाहे वे बन्धन बाह्य हों या आन्तरिक—बन्धनों से उसकी मुक्ति चाहते रहे हैं। वे मनुष्य को आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा पूर्णत्व की ओर जाने का मार्ग दिखाते हैं। वे मुक्ति को ध्येय मानकर चलते हैं और आत्मतत्त्व को प्रकृति तत्त्व के पंजों से छुड़ाना चाहते हैं—पहले मानव स्वभाव को बदल कर

[1] वही, 259–60।

और फिर अनुभवातीत रूप से। स्वामी विवेकानन्द के गूँजते शब्दों में—

> हमारे समस्त दुःख-सुखों, कठिनाइयों और संघर्षों के बीच, एक आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि निःसन्देह हम मुक्ति की ओर बढ़ रहे हैं। वास्तव में प्रश्न यह था : 'यह विश्व क्या है ? कहाँ से यह उत्पन्न होता है ? और किसमें समा जाता है ?' और उत्तर है : 'मुक्ति से वह उत्पन्न होता है। मुक्ति में वह रहता है। और मुक्ति में वह विलीन हो जाता है।[1]

केवल मनुष्य ही वह प्राणी है, जिसे अपना और अपने अन्दर भरी अपार शक्तियों का बोध है। साथ ही वह अपने भीतर की परिसीमाओं के भाव को भी खूब जानता है, इस परिसीमा पर विजय पाने के लिए, वह संघर्ष करता है; इस प्रकार उसका अन्तर, एक वास्तविक कुरुक्षेत्र बन जाता है। बन्धन के बोध और मुक्ति के बोध का यह संघर्ष ही जीवन की मनोहारिता और उत्साह, उसके सुख और दुःख, उसके सपने और सूक्ष्म दृष्टियाँ देता है। वास्तव में मानव के स्तर पर जीवन का यही अर्थ है। किन्तु यह संघर्ष चिरन्तन नहीं है, तथा मनुष्य इस विषम संघर्ष की दलदल में सदैव फँसा रहने के लिए अभिशप्त नहीं है। इसी दौरान, आध्यात्मिक दर्शन के आलोक और देख-रेख में यह संघर्ष, मनुष्य के लिए एक नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा की पाठशाला बन जाता है; मनुष्य आध्यात्मिक बल में, इच्छा-शक्ति में, संकल्प, प्रयोजन और स्पष्टता में उन्नत होता है और अन्त में अपने स्वरूप के आध्यात्मिक साक्षात्कार द्वारा, सच्ची मुक्ति और आनन्द की उपलब्धि करता है। मुक्ति उसका जन्मसिद्ध अधिकार है, तथा वह विकास-क्रम की लम्बी यातना से निकलता हुआ, उसे पुनः प्राप्त करता है।

गतिहीनता का संकट

मानवेतर प्राणी यह नहीं जानते; समस्या और समाधान दोनों उनकी क्षमता से परे हैं। उसके लिए उन्हें प्रकृति माता पर निर्भर रहना पड़ता है। केवल मनुष्य ही सुसंगत रूप से बन्धन अनुभव करने तथा उस पर विजय पाने के लिए संघर्ष करने की क्षमता रखता है। एक पशु, भावोत्तेजक तनावों के सुख और दुःख की, उल्लास और क्षोभ की, प्रेम और घृणा की यातनाओं को, सिवाय क्षणिक अनुभवों के रूप में, कभी अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु मनुष्य ये सब अनुभव करता है; वह इनके विषय में अपनी विकसित बुद्धि द्वारा प्रश्न भी करता है, अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा उन्हें शासित भी करता है, तथा उन्हीं से एक समृद्ध, स्थायी चरित्र एवं व्यक्तित्व घड़ लेता है। और वेदान्त हमको यह बताता है कि इसी में मनुष्य का महत्त्व है; वह निरन्तर प्रगति पथ पर बढ़ सकता है, तथा इसी जीवन में, इसी देह में (न कि प्रगति के क्रम विकास के अन्त में) मुक्त हो सकता है। श्रीमद्भागवत (III. vii. 17) में कहा गया है—

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 2, 125।

यश्च मूढ़तमो लोके, यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते, क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥

केवल दो प्रकार के मनुष्य सुखी और तनाव से मुक्त रहते हैं, एक निरा मूर्ख, और दूसरा वह जो अपने को अतिक्रमण करके अपनी बुद्धि के पार चला गया। (और परमहंस गति प्राप्त कर ली) बीच के सब लोग कुछ न कुछ तनाव और दुःखों के विभिन्न स्तरों पर रहते हैं।

मनुष्यों के उक्त दो वर्ग तनाव का अनुभव नहीं करते, किन्तु और सब, तनाव को जीवन का स्वभाव मानते हैं। वेदान्त बताता है कि यह तनाव जीव का मुक्ति के लिए संघर्ष है; और मनुष्य के बारे में यह तनाव ही है जो उसको आगे ले जाता है। बन्धन का बोध मुक्ति के लिए पहला कदम है। राजनीति में ही देखें, जब तक पराधीन राष्ट्र अपनी परतन्त्रता से अनभिज्ञ रहता है, वह अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण रहता है और तनाव से मुक्त रहता है; किन्तु वह स्वतन्त्रता के आनन्द से भी तो अनभिज्ञ है। एक समय आता है, जब वह पराधीन राष्ट्र महसूस करता है कि दासता से मृत्यु श्रेष्ठ है, और उस क्षण से उसका तनावपूर्ण जीवन और स्वतन्त्रता की ओर उसकी यात्रा, दोनों आरम्भ होते हैं। हमने भारत के अर्वाचीन इतिहास में इस घटना को घटते देखा है।

आध्यात्मिक जीवन में ठीक ऐसा ही घटता है। अनेक लोग यह भी नहीं जानते हैं कि वे बन्धन में हैं। वे थोड़े से वैषयिक जगत् के अनुभवों में परम सुखी रहते हैं। दुःख भी है, किन्तु यदि थोड़ा सा सुख मिला तो उसी से उनका दुःख काफी घट जाता है। वेदान्त उन्हें संसारी कहता है अर्थात् 'गतिरुद्ध जीव'। श्री रामकृष्ण अपनी एक सुन्दर नीति-कथा में संसार शब्द को श्लेष बनाकर गतिहीनता से हमें सतर्क रहने के लिए कहते हैं—संसार शब्द का अर्थ जगत् और सांसारिकता है। श्री रामकृष्ण कहते हैं हम सब संसार में हैं, नाम रूप के जगत् में हैं; ईश्वर भी जब मनुष्य रूप में अवतरित होता है तो संसार में रहता है। किन्तु श्री रामकृष्ण कहते हैं, हम चाहे संसार में रहें किन्तु संसार हममें नहीं रहना चाहिए। नाव पानी में रहनी चाहिए किन्तु पानी नाव में नहीं। संसार में रहने से कोई संसारी नहीं बन जाता। जब संसार या सांसारिकता हमारे भीतर प्रवेश कर जाती है, जब हम इस नाम रूप के संसार को साध्य मान लेते हैं, तभी हम गतिहीन हो जाते हैं, तथा वृद्धि और प्रगति करना छोड़ देते हैं। मानव जीवन में आने वाले इस खतरे की सम्भावना बराबर बनी रहती है और सब कीमत चुका कर इससे बचना चाहिए। आध्यात्मिक उत्साह और तत्परता हमारे सर्वोत्तम रक्षक हैं।

जो वैषयिक दुनिया में पूर्णतः डूबे हैं, वे ही उससे उबरने का प्रयत्न नहीं करते। वेदान्त उसे आध्यात्मिक अन्धावस्था कहता है, वे अन्धकार में रहते हैं और उसी से खुश हैं। वे बन्धन में रहते हैं और उसी में चैन अनुभव करते हैं। किन्तु वेदान्त का आह्वान है, प्रयत्न और संघर्ष का, जीवन के गहरे मूल्यों के लिए, जीवन के उन्नत

स्तरों को प्राप्त करने के लिए, जीवन को निरन्तर खोजते रहने के लिए। उठो, जागो और लक्ष्य-प्राप्ति तक चलते रहो, जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कठोपनिषद् की इस उक्ति का स्वतन्त्र भावानुवाद किया है—

'मनुष्य के लिए उपनिषदों का यह तुरही नाद है। सन्तुष्ट मत बैठे रहो; श्रेष्ठतम तो अभी पाना है। तुमने कदाचित् धन, सत्ता या ज्ञान रूप में उसे प्राप्त कर लिया हो; क्रम विकास की दौड़ में, मानुष जन्म पा लेना भी एक भारी बात है। किन्तु केवल मानव जन्म की प्राप्ति से सन्तुष्ट मत हो जाओ; क्योंकि उस मनुष्य का बहुत सा भाग अभी पशु है; क्रम विकास का आदिम अवपंक अभी उससे चिपका हुआ है। एक संस्कृत उक्ति, इस आधुनिक विचार को व्यक्त करती है—'मनुष्यरूपेण मृगाः चरन्ति'—मनुष्य के रूप में पशु ही विचरता है। हमें यह निरन्तर याद रखना चाहिए कि वह अन्तरात्मा की प्रेरणा ही थी, जिसने समस्त क्रम विकास के स्तरों में से निकाल कर, हमें मनुष्य के वर्तमान स्तर तक पहुँचा दिया है। इस यात्रा को जारी रखना, दूर दृष्टि और पूर्व दृष्टि से निर्देशित, उस विकास सम्बन्धी संघर्ष की गति को तीव्र बनाना, तथा सतर्कता एवं संकल्प द्वारा गतिरुद्ध हो जाने की सब सम्भावनाओं से बचे रहना, हमारा अधिकार है। वर्तमान से तीव्र असन्तुष्टि और आगे ऊँचे शिखरों पर चढ़ने की उत्कट इच्छा, नैतिक और आध्यात्मिक महानता के सच्चे चिह्न हैं। ये जहाँ भी दिखाई दें, वहाँ सच्चा वेदान्तिक भाव और मनःस्थिति विद्यमान है।

हमारी सीमित दृष्टि, वस्तुओं के विभिन्न पहलुओं को एक सीमा तक ही देख सकती है; किन्तु सत्ता की पूर्णता एक सनातन तथ्य है। जब हम इस सीमित दृष्टि को त्यागते हैं, जब हम अपने अन्तर्चक्षु खोलकर देखते हैं, वेदान्त की भाषाएँ अध्यात्म दृष्टि से देखते हैं, केवल तब हम इस सनातन पूर्णता को देख सकते हैं, तब हम उसे अपने सच्चे स्वरूप में अनुभव कर सकते हैं। अभी तो हम अपने आपको, क्षुद्र धूलि-कण के समान, परिस्थितियों के अधीन प्राणी, बाहर से थोड़े से भोग, जरा से सुख के लिए कामना करते हुए क्षुद्र भिखारी के समान इधर-उधर दौड़ते हैं। अनन्त, अमृत, और पूर्णत्व का उत्तराधिकारी होकर भी, मनुष्य एक भिखारी के समान विषयों के पीछे सुख और आनन्द अनुभव करने की लालसा में भागता है। वेदान्त की वैकासिक दृष्टि द्वारा प्रकाशित, मनुष्य की त्रासदी यही है, स्थिति ऐसी ही है जैसे एक राजकुमार अपनी राजकीय विरासत भूलकर सड़कों पर भीख माँगता फिरता हो। यही है मानव स्वभाव जो हम सब में है; और इसे अब बदलना पड़ेगा। मनुष्य का क्या दिव्य स्वरूप है उसको यह बतलाना आवश्यक है। यह आत्म-ज्ञान है, अपने अलग-अलग अहंभाव का ज्ञान नहीं, बल्कि उस एक आत्मा का जो सबकी आत्मा है; 'उनमें हम रहते हैं, और विचरते हैं और अपनी सत्ता रखते हैं।' यही ज्ञान हमें वह स्वतन्त्रता पुनः दिलायेगा, जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। यह स्वतन्त्रता हम प्रकृति से भेंट-स्वरूप नहीं पाते हैं; किसी से भी वह भेंट-स्वरूप नहीं मिलती। हम केवल यह अनुभूति कर लें कि वह सदा हमारी रही है, किन्तु हमारी ऐन्द्रिक अक्षमताओं द्वारा हमें मिलने

से रोक दी गयी है। वेदान्त, विकास की व्याख्या इन ऐन्द्रिक अक्षमताओं का क्रमिक अपसरण के रूप में करता है, जिससे आत्मा की स्वाभाविक पवित्रता और पूर्णता अधिकाधिक अभिव्यक्त होती रहे।

सनातन सत्य की जिज्ञासा

किन्तु उसका साक्षात्कार कैसे करें ? हम अपना वास्तविक स्वरूप भूल चुके हैं। दुनिया के झंझट में हम रास्ता भूल गये हैं। हमें मार्ग कौन दिखाएगा। स्वयं हम ही अपने मार्गदर्शक होंगे। मन जितना अधिक शुद्ध होगा, उतना ही आसानी से वह नियन्त्रित व अनुशासित होता है। तथा एक शुद्ध और अनुशासित मन ईश्वर का मार्ग खोज लेता है। श्री रामकृष्ण कहते हैं—एक चूहा स्वादु भोजन के लोभ में, मृत्यु के पिंजरे में प्रवेश करता है, किन्तु अपने को पकड़ा हुआ पाता है और निकलने के लिए संघर्ष करता है। उसके निकलने के लिए मार्ग खुला है, किन्तु वह इस बात को अनुभव नहीं करता। इसी प्रकार बद्ध मनुष्य के लिए, मुक्ति का मार्ग प्राप्य है, किन्तु बहुत थोड़े लोगों में उसे देखने की दृष्टि होती है। प्राथमिक अवस्था में उन्हें बाहर से मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है। ऐसा ही मार्ग-दर्शन उपनिषद् देते हैं। यह तारक अध्यात्म-विद्या प्राचीन भारत के ऋषियों के विशुद्ध और अनुशासित हृदयों में उदित हुई थी। उन्होंने मनुष्य के लिए प्रेम और करुणा से प्रेरित होकर एक चिरन्तन विरासत के रूप में, एक आशा और शक्ति की परम्परा के रूप में, मनीषा की सनातन पवित्र गंगा के रूप में, भावी पीढ़ियों के लिए उसे छोड़ दिया है।

मानवता के लिए उपनिषदों की चिरन्तन उत्प्रेरणा का रहस्य यह है; वे मनुष्य के लिए उसकी अन्तःप्रकृति के उन गम्भीर सत्यों को उजागर करते हैं जिसकी खोज में वह सदा रहता है। यह है, जो उसे 'सनातन धर्म' बनाता है, या आल्डुअस हक्सले की भाषा में 'चिरन्तन दर्शन'। और ईशोपनिषद् के इस भव्य शान्तिपाठ में यहाँ हमें आश्वासन मिलता है कि मनुष्य की खोज निरर्थक नहीं है और ऋषियों ने विशुद्ध दृष्टि से जिसकी अनुभूति की, हम भी अपनी दृष्टि विशुद्ध हो जाने पर वही अनुभूति कर सकते हैं।

भगवद्गीता भी जीवन की पूर्ण अवस्था का उल्लेख करती है। वह जीवन की एक महान् समुद्र से तुलना करती है; महान् नदियाँ उसकी स्थिरता और ऐश्वर्य में बाधा उत्पन्न किये बिना उसमें समाती रहती हैं। गीता (II. 70) कहती है, जो मनुष्य आत्म-साक्षात्कार कर लेता है वह ठीक उसी समुद्र के समान बन जाता है; वह अपनी तथा दूसरों की इच्छाओं का टकराव होने पर भी पूर्ण और स्थिर रहता है। किन्तु आत्मज्ञान विहीन मनुष्य एक क्षुद्र पात्र होने के कारण, कामना के प्रत्येक झोंके से आसानी से विचलित हो जाता है। इस पूर्णता की उपलब्धि आध्यात्मिक जीवन का चरम शिखर है। वहाँ पहुँचते-पहुँचते मनुष्य को सब कर्मकांड छोड़ देना होता

है। श्री रामकृष्ण मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के इस रूप पर जोर देते हैं। एक भजन जो उन्हें प्रिय था, इस प्रकार है—'यदि दिव्य माँ काली का नाम, हृदय सदैव जपता रहे तो गया, गंगा, प्रभास, काशी या कांची की तीर्थयात्रा को कोई क्यों जाये?'

इस प्रकार हम देखते हैं कि आध्यात्मिक और नैतिक साधना का समस्त क्रम, मनुष्य और प्रकृति के पीछे निविष्ट, उस आध्यात्मिक तत्त्व के बोध की ओर ले जाता है। इन्द्रियों द्वारा हमें विविधता का बोध होता है, किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा हमें इस विविधता के पीछे, एकता का बोध होता है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान उन नियमों का अनुसन्धान करता है, जो इन्द्रिय-जन्य विभिन्न पहलुओं की कड़ी जोड़ते हैं, तत्त्व-दर्शन बाह्य और आन्तरिक प्रकृति के पीछे स्थित तत्त्व की पूर्णता के नियम अनावरित करता है। वह एकत्व 'ब्रह्म' कहलाता है, जिसकी उपनिषदों में इस प्रकार परिभाषा है (तैत्तरीय उपनिषद्, III. 1)—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।
तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।

'जिससे समस्त भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं और अन्त को फिर जिसमें समा जाते हैं; उसे जानो, वह है ब्रह्म।' यह स्पष्ट है कि जब तक हम उसे उत्साहपूर्वक न खोजें यह आध्यात्मिक ज्ञान मिल नहीं सकता। ईसा ने भी इसी सत्य का प्रकाश किया है—

'माँगो तो तुम पाओगे; ढूँढ़ो तो तुम्हें मिलेगा; खटखटाओ तो तुम्हारे लिए द्वार खुल जायेगा। क्योंकि, जो माँगता है वह पाता है; जो ढूँढ़ता है वह पाता है; और जो खटखटाता है उसी के लिए द्वार खुलता है।'

उपनिषद् को समझने के लिए भी एक जिज्ञासु और खोजी मन की आवश्यकता है। उपनिषद् कहते हैं, साधक का मन प्रश्न-परक (जिज्ञासु) होना आवश्यक है। इस मनोदशा के लिए उपनिषदों ने 'जिज्ञासा' शब्द का उपयोग किया है। उपनिषद् ऐसे सब जिज्ञासुओं को उनके सत्य और श्रेष्ठता की खोज में सहायक होंगे। आवश्यकता है लगनपूर्वक उद्देश्य की ओर चलने की। सत्य की खोज में शिथिलता से काम नहीं चलेगा। ईश्वर और सत्य के बारे में निरुद्देश्य प्रश्न करने की सुविधा-परक प्रवृत्ति से भी काम नहीं चलेगा। ऐसा उपागम उपनिषदों के गहन अर्थ खोलने में सहायक नहीं होगा। उपनिषद् के शब्दों में, दूध में मक्खन है, किन्तु उसे बाहर निकालने के लिए मन्थन की आवश्यकता है; इसी प्रकार सत्य भी अनुभूति में छिपा है; उसको भी जिज्ञासा और गहरे ध्यान द्वारा मथकर बाहर निकालना है। इसीलिए आरम्भ में उपनिषदों को रहस्य कहा गया था। ऐसी धारणा थी कि उपनिषदों का केवल गिने-चुने व्यक्ति अध्ययन कर सकते थे, संन्यासी ही, गृहस्थी नहीं। किन्तु आठवीं सदी में महान् दार्शनिक श्री शंकराचार्य आते हैं, और वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस

ज्ञान का द्वार गृहस्थियों के लिए, जनसाधारण के लिए उन्मुक्त कर दिया। उन्होंने अपने विख्यात भाष्य लिखे जो 'ब्रह्मविद्या' और 'आत्म-ज्ञान' की गम्भीरता और गहराई को मानव जाति के समक्ष रखने में सहायक हुए। शंकराचार्य के बावजूद, रहस्य की परम्परा दृढ़ बनी रही और कोटि-कोटि मनुष्य के लिए उपनिषद् का साहित्य मुहरबन्द रहा। वास्तव में इस रहस्य की परम्परा इतनी दृढ़ रही है कि तीस वर्ष पहले भी, मैंने मैसूर संस्कृत कालेज में देखा कि उपनिषद् अध्ययन के समय संन्यासी की नकल करते हुए अपने वस्त्र से विद्यार्थी अपना माथा ढक लेते थे।

पिछली शती के अन्त में जब स्वामी विवेकानन्द अवतरित हुए, तो उन्होंने उपनिषदों के अध्ययन की स्वतन्त्रता न केवल इस देश को, बल्कि सभी देशों को दिला दी। स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि जो कोई जीवन को विवेकपूर्वक समझना चाहता है और स्थायी आध्यात्मिक आधार पर एक उदार और गम्भीर चरित्र-निर्माण करना चाहता है, वह उपनिषद् पढ़ सकता है और महान् लाभ उठा सकता है। सबसे महान् कार्य स्वामी विवेकानन्द ने जो किया वह उपनिषदों की शिक्षा को सरलतम भाषा में व्याख्यित करने का था, तथा पूरब तथा पश्चिम की जनता में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसका व्यावहारिक उपयोग बताने का और आधुनिक मानव की समस्या हल करने की अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन करने का था। तथापि उपनिषदों को रहस्य कहकर वर्णन करने में एक अर्थ है। उपनिषद् गम्भीर हैं, और केवल एक साधक जो अत्यन्त लगन के साथ और दृढ़ संकल्प के साथ उनका अध्ययन करने को तैयार है, वही उनसे लाभ उठा सकेगा। वे इस अर्थ में रहस्य हैं। हर कोई उनका अर्थ नहीं समझ सकता। किसी लापरवाह जिज्ञासु को उपनिषदों का गहन तत्त्व-दर्शन प्रकाशित न हो सकेगा; वह केवल उस उत्साही को प्रकाशित होता है जो निरन्तर जिज्ञासु मन से अपने सत्य की अन्तरतम गहराई में पैठने को तैयार हो।

भोग में सुख का रहस्य

हमारे मन की इस प्रकार तैयारी होने पर, ईशोपनिषद् का प्रथम मन्त्र हमें सत्य की गहराइयों की ओर तुरन्त ले चलता है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

इस परिवर्तनशील जगत् में जो कुछ है वह ईश्वर से आच्छादित है। त्याग के द्वारा अपना पोषण करो। किसी के भी धन का लोभ मत करो।

यह एक बड़ी गम्भीर उक्ति है, असंदिग्ध, फिर भी अति सरल। उसमें बताया है कि समस्त जगत् ईश्वर से व्याप्त है और भिन्नता का अनुभव, विषयगत जगत् का अनुभव, हमें इस नित्य सत्य के आलोक में देखना होगा। एक बुलबुला जल के तल पर उभरता है, उस तल पर एक क्षण नाचता है और अदृश्य हो जाता है। वह कहाँ

से आया, क्या था और कहाँ चला गया ? जल से वह आया; वहाँ से आकर वह अभी जल ही है; और अन्त को जल में ही लौट जाता है। उस क्षणिक बुद्बुद् का वास्तविक स्वरूप जल है। उसी प्रकार इस जगत् का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म है। मन्त्र कहता है उसका साक्षात् करो; क्षणिक इन्द्रिय सुख की क्षुद्र तरंगों में फँसकर, उसे भूल मत जाओ। जीवन के प्रत्येक अंग में यहाँ परिवर्तन है, यहाँ मृत्यु है; यहाँ कोई ऐसा स्थिर आधार नहीं है, जिस पर हम अपने जीवन का भवन निरापद बना सकते हों। किन्तु उपनिषद् कहता है कि अधिक गहराई में देखो मृत्यु के बीच अमृत, विकार के बीच निर्विकार, अनेक के बीच एक को तुम देखोगे। उपनिषदों का महान् सन्देश यह है, हर जगह मर्त्य और विनाशी के पीछे अमर्त्य और अविनाशी आत्मा। कठोपनिषद् (II.ii.13) कहता है :

> नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
> मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
> स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।

वह अनित्यों में नित्य है, चेतनों में चेतन है, वह एक है, किन्तु अनेकों की इच्छा पूर्ति करता है। जो धीर, अपने अन्तर में उसे अवस्थित देखते हैं, शाश्वत शान्ति उन्हें ही मिलती है, दूसरों को नहीं।

यदि अब हम अनित्यों में नित्य का दर्शन कर सकते हैं, और सबको ईश्वर से आच्छादित देख सकते हैं, तो हम विश्व के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं। तदन्तर दूसरा कदम है, जैसा कि इशोपनिषद् हमें बताता है, असद् का त्याग। वेदान्त की भाषा में यदि हम इस जगत् को भोगना चाहें, तो नकारने और स्वीकारने, दोनों की आवश्यकता है। यह मन्त्र कहता है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः', त्याग द्वारा अपना पोषण करो। यह संसार भोगने योग्य है और हमें इसका आनन्द लेकर भोगना चाहिए। जीवन में आनन्द की व्याख्या भगवद्गीता तथा उपनिषदों में आद्योपान्त मिलती है। जिन महान् आचार्यों ने इन सत्यों को खोज निकाला था वे आनन्द के विरोधी नहीं थे; वे मधुर और प्रेमी लोग थे। श्री रामकृष्ण आनन्द से पूर्ण रहते थे तथा भगवान् कृष्ण भी। ईसा भी एक आनन्दमय पुरुष थे (यद्यपि अपने अन्तिम दिनों में परवर्ती हठमतवाद ने उन्हें एक दुःखमय पुरुष बना दिया)।

किन्तु इस संसार को भोग सकने के पहले हमें भोग करने की क्रिया-विधि या तकनीक सीखनी होगी। यह तकनीक भगवद्गीता में विस्तारपूर्वक व्याख्यात है, किन्तु यहाँ ईशोपनिषद् के इस प्रथम मन्त्र में तकनीक को उस एक शब्द 'त्याग' में समेट दिया गया है। जब स्वामी विवेकानन्द अमरीका में थे तो उनकी भेंट प्रोफेसर इंगरसोल से हुई जो उस समय के ईसाई धर्मज्ञों के लिए एक हौव्वा थे, वे एक संशयवादी तथा एक महान् पण्डित और वक्ता थे। अपनी 'इन्स्पायर्ड टाक्स' में स्वामी विवेकानन्द इंगरसोल के साथ अपने वार्तालाप का वर्णन करते हैं।

इंगरसोल ने एक बार मुझसे कहा, 'मैं इस संसार से अधिकतम निकालने में विश्वास करता हूँ, इस नारंगी को निचोड़ कर रसविहीन कर देना चाहता हूँ क्योंकि निश्चित सत्य के रूप में यह जगत् ही हमारे सामने है।' मैंने उत्तर दिया, 'मैं इस जगत् रूपी नारंगी को निचोड़ने की तुमसे अधिक अच्छी एक रीति जानता हूँ, और मैं उसमें से अधिक रस निचोड़ता हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं मर नहीं सकता, इसलिए मुझे कोई जल्दी नहीं है; मुझे कोई भय नहीं है, इसलिए मैं निचोड़ने में आनन्द लेता हूँ। मुझे किसी कर्त्तव्य का, स्त्री का, सन्तान का या सम्पत्ति का बन्धन नहीं है। मैं सब स्त्री-पुरुषों से प्रेम कर सकता हूँ। मेरे लिए सभी ईश्वर हैं। उस आनन्द की कल्पना करो जिसमें मनुष्य से, ईश्वर रूप में प्रेम किया जाता है। अपनी नारंगी इस तरह से निचोड़ो और दस हजार गुना उससे अधिक पाओ। एक-एक बूँद पा जाओगे।'

तो यह तकनीक है जीवन को सुख से भोगने की, जो यह उपनिषद् सुझाता है, और उसके सब व्यावहारिक निहितार्थ विकास करने का काम भगवद्गीता पर छोड़ दिया गया है। भगवद्गीता (II. 49) कहती है—

'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥'

हे अर्जुन, अनासक्त होकर कर्म करने की तुलना में (सकाम) कर्म कहीं छोटा है। इस निष्काम बुद्धि की शरण ले। वे क्षुद्र बुद्धि हैं, जो फल की इच्छा से प्रेरित होकर काम करते हैं।

आध्यात्मिकता और नीतिशास्त्र दोनों में त्याग एक चिरन्तन सूक्ति है। त्याग से पवित्र हुए बिना कोई भोग सच्चा नहीं होता। अपने दैनिक जीवन में, अपने पारस्परिक व्यवहारों में, हम देखते हैं कि अधिकतम आनन्द तब मिलता है जब हम अपने को नकारते हैं न कि जब हम अपने को सकारते हैं। और उपनिषदों की यह शिक्षा इसी अनुभव का सत्यापन करती है। त्याग और अनासक्ति द्वारा हम अमृत एवं दिव्य ब्रह्म के साथ तादात्म्य करते हैं, जो सबका आत्मा है। अपनी विशुद्ध दृष्टि और मन से हम इस विश्व को ब्रह्म के रूप में देखते हैं, और उसको त्यागते हैं जिसको हमारे क्षुद्र भेददर्शी अहम् ने इन्द्रजालवत् बनाकर हमारे ऊपर खड़ा किया था। इस प्रकार यह त्याग, नकारना मात्र नहीं हैं; यह नकारना अधिक सकारने की ओर ले जाता है। उच्च जीवन का द्वन्द्व पर विकास स्वयं क्रम विकास की द्वन्द्वात्मक समीक्षा के समान नकारने-सकारने के एक क्रम के माध्यम से आगे बढ़ता है। इस द्वन्द्वात्मक विकास के सकारात्मक अंशों पर ही नैतिक और आध्यात्मिक जीवन का आनन्द निर्भर है। अन्त में, ईशोपनिषद् का प्रथम मन्त्र बताता है : 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' अर्थात् 'किसी के भी धन का लोभ मत कर।' यह उक्ति बिल्कुल स्पष्ट है, किन्तु इसमें कई नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य अनुस्यूत हैं। समस्त नैतिक और आध्यात्मिक गुरु कहते हैं कि जो कुछ तुमने ईमानदारी से मेहनत करके उपार्जित किया वही

तुम्हारा है; उसी से जीवन भोग करो, तथा जो दूसरे का है उसका लोभ मत करो। शंकराचार्य अपने एक सुन्दर स्तोत्र में मनुष्य को सम्बोधन करते हुए कहते हैं :

मूढ़ जहीहि धनागम तृष्णाम्
कुरु सद्बुद्धि मनसि वितृष्णाम्।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तम्
वित्तं तेन विनोदय चित्तम् ॥

ओ मूर्ख धन की यह अतिकामना छोड़; अपना मन सत् और हित में लगा, तथा निष्काम भाव पैदा कर। अपनी सच्ची मेहनत से जो धन तू कमाता है, उसी से अपना हृदय और मन प्रफुल्लित रखना सीख।

स्वभावतः प्रश्न उठेगा : क्या धन बुरा है ? क्या हम भिक्षुक बन जायें ? 'नहीं'—शंकराचार्य उत्तर देते हैं और कहते हैं, 'अपना मन केवल धर्म में लगाओ और त्यागभाव बढ़ाओ। जो तुम्हारा अपना नहीं, जो तुमने स्वयं नहीं कमाया, उससे मन को हटा लो। जीवन को आनन्द के साथ स्वयं अपनी गाढ़ी कमाई के फलों के साथ भोग करो। लोभ से बचो क्योंकि उससे दूसरों का शोषण करने लगोगे। इससे शोषक तथा शोषित दोनों का नैतिक जीवन ध्वंस हो जावेगा। यदि तुम अपने नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप का, जो जीवन का सच्चा लक्ष्य है, विकास करना चाहते हो, तो सब प्रकार की शोषण-वृत्ति से बचो। यह याद रखते हुए कि जीवन का सच्चा आनन्द नकारात्मक और सकारात्मक द्वन्द्वात्मकता के द्वारा होता है, अहंभाव तथा उसके मूल्यों को नकारते हुए, एवं ब्रह्म के सार्वभौमिक मूल्यों को स्वीकारते हुए हम धन की ओर समर्पण भाव से जाते हैं। जब हम जीवन को स्वार्थी शोषण भाव से मुक्त करके देख सकेंगे, केवल तब ही हम जीवन को सचमुच भोग सकते हैं। यह संसार आनन्दमय ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ और नहीं है; और उसी का भोग करने के लिए हम यहाँ हैं। केवल जब त्याग द्वारा हमारी दृष्टि पवित्र होती है, तब जगत् अपने असली रूप अर्थात् ब्रह्म के आनन्द की तरंगों से बना हुआ दिखाई देता है, जीवन का सच्चा आनन्द यही है, वृद्धि यही है, विकास यही है, मनुष्य की संसिद्धि यही है। क्रम विकास का लक्ष्य अर्थात् पूर्णता यही है।'

तीन

ईशोपनिषद् (क्रमशः)

उपनिषद् के ऋषियों की महानतम और उच्चतम दृष्टि में ईशोपनिषद् के पहले मन्त्र में विश्व के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट किया गया है और बताया गया है कि मानव और प्रकृति के कण-कण में ईश्वर का वास है। दूसरा मन्त्र, जिसका हम अभी अध्ययन करने जा रहे हैं, हमें इस दृष्टि के सहज परिणाम की ओर ले जाता है। क्योंकि यदि यह दृष्टि सही है कि विश्व आद्योपान्त आध्यात्मिक है, तो प्रश्न उठता है कि मैं इस संसार में अपना जीवन किस प्रकार बिताऊँ। इसका उत्तर दूसरा मन्त्र देता है, जो इस प्रकार है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

संसार में सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो, किन्तु कर्म करते हुए ही, कर्म के कलुष से छुटकारा पाने का यही एक उपाय है, दूसरा नहीं।

इन शब्दों में ईशोपनिषद् तुरन्त यह आश्वासन देता है कि इस जीवन का पृथ्वी पर कुछ महत्त्व है, उसकी कुछ अर्थवत्ता है। हमें जीवन से निराश नहीं होना चाहिए, न उसे कम करने का यत्न करना चाहिए, न रो-पीटकर काटना चाहिए। जीवन का अर्थ और मूल्य समझ लेने के पश्चात् हमें जीवन की पूर्ण अवधि जीने का प्रयत्न करना चाहिए, जो वेदों के अनुसार सौ वर्ष है : शतायुर्वैपुरुषः। अपने भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं : 'तावदहि पुरुषस्य परम आयुः निरुपितं।' मनुष्य की परम आयु उतनी ही लम्बी मानी गयी है। यह मान, मानव जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण का फल था। ऋषि इस निर्णय पर आये कि एक व्यक्ति यदि शरीर और मन से स्वस्थ जीवन बितायेगा तो वह सौ वर्ष जियेगा, उन्होंने यह भी देख लिया था कि यदि मनुष्य एक अस्वस्थ जीवन जियेगा, यदि घटिया और अपर्याप्त भोजन करेगा, सफाई का यथेष्ट प्रबन्ध न करेगा, तथा उसके रहने का ढंग दोषपूर्ण होगा, तो उसके जीवन की अवधि

घटती चली जायेगी। इस शती के आरम्भ में भारत में मनुष्य के जीवनकाल की सम्भावना उनतीस वर्ष रह गई थी, किन्तु अब स्वच्छता और स्वास्थ्य के नियमों का प्रबल परिपालन करने से वह बढ़कर पचास के लगभग पहुँच गई है। यदि हम उसे दूसरे उन्नत देशों के समान पचहत्तर या अस्सी तक बढ़ा सके, तो ये प्राचीन वैदिक काल के प्रतिमान के निकट आ जाता है। मानव तब मानव जीवन के मूल्य के वैदिक आदर्श को समझेगा तथा उसे आनन्द और उत्साहपूर्वक जीने का मजा आयेगा।

भारत में सौ वर्ष के जीवन की यह अवधि एक मान्यता-प्राप्त परम्परा है। उदाहरणस्वरूप ब्रह्मचर्य अनुष्ठान यज्ञोपवीत संस्कार के समय, ब्रह्मचारी को इन शब्दों के साथ आशीर्वाद दिया जाता है : 'तुम सौ वर्ष जियो।' विवाह संस्कार के पश्चात् पति-पत्नी मिलकर प्रार्थना करते हैं : 'हम सौ शरद् एक साथ जियें।' किन्तु यह नहीं मान लेना चाहिए कि इस परम्परा में जीवन की केवल लम्बाई अभिप्रेत है। अपने इतिहास के आदिम काल में ही भारत ने जान लिया था कि एक लम्बा जीवन स्वयं में कोई अर्थ नहीं रखता। वह केवल एक परिमाण मात्र है। बढ़िया जीवन तो वही है जो गुणी हो।

इसलिए जीवन को केवल अवधि में दीर्घ होना पर्याप्त नहीं है, किन्तु गुण, ज्ञान और आनन्द से भी भरपूर होना आवश्यक है। और इस दूसरे मन्त्र की अर्थ-वत्ता यही है। उपनिषद् कहते हैं कि हमको सौ वर्ष की पूर्ण अवधि जीने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, किन्तु उसे आनन्द और उत्साहपूर्वक जीना चाहिए। जीवन की यह गुणवत्ता केवल तभी उभरेगी जब हम आत्म-ज्ञान के द्वारा अपने सहज दिव्य स्वरूप को जीवन और कर्म के हर पग पर महसूस करेंगे। जब तक हम यह नहीं करेंगे, हम निरन्तर अन्धकार भोगेंगे; और जितना ही जीवन लम्बा होगा, उतना ही अन्धकार निबिड़ होगा। जिस औद्योगिक सभ्यता के बीच हम आज रह रहे हैं, उसमें तो ज्यों-ज्यों आदमी की आयु बढ़ती है, त्यों-त्यों वह अपने को अकेला-सा महसूस करने लगता है और उसका उत्साह भी क्षीण होता जाता है।

इसलिए ईशोपनिषद् हमको एकदम दो मौलिक विचार देता है, जो मिलकर हमें वेदान्त दृष्टि का साकल्य प्रस्तुत करते हैं। कालान्तर में यही दृष्टि भगवद्गीता में एक व्यापक आध्यात्मिकता के रूप में विकसित हुई है। हमारे अपने समय में स्वामी विवेकानन्द के सन्देश में और अधिक पूर्ण रूप में इस दृष्टि का प्रकाश हुआ है। ये दोनों मौलिक विचार, हमसे जीवन की पूर्ण अवधि जीने की और जीवन में और उसके व्यवहारों में उत्साह और आनन्द के साथ-साथ गहरी रुचि के साथ काम करने की माँग करते हैं। किन्तु इन सबको करना है, एक नवीन दृष्टिकोण के साथ, जिसका आधार मनुष्य तथा विश्व के सच्चे स्वरूप को समझना अर्थात् सबको 'ईश्वर से आच्छादित देखना' है। आलस्य और उदासीनता पर काबू पाकर हमें काम करना चाहिए, अपने लम्बे जीवन को अच्छे सार्थक कर्मों से व्याप्त करना चाहिए, किन्तु वे सब कर्म करने होंगे, ईश्वर के आलोक में, और मानव जो मर्त्य है, इस प्रकार इसी जीवन में

अमर्त्य हो जायेगा।

साधक का हृदय पूछता है : यदि ईश्वर सत्य है, यदि वही सबका आत्मा है, तो मैं इस अपने छोटे से जीवन को किस प्रकार बिताऊँ ? उपनिषद् कहता है : ईश्वर को कण-कण में व्याप्त समझो, और जीवन में इस दृष्टि को उतारो, जीवन का आनन्द भोगो, क्योंकि सबका, प्रत्येक वस्तु का, सत्य वही है। जीवन की सार्थकता और उसमें होने वाली उपलब्धियों का महत्त्व तभी निकलता है जब मनुष्य को निरन्तर ईश्वर की व्यापकता की अनुभूति होती रहे। तभी जीवन के अति तुच्छ पहलू भी उद्देश्य तथा अर्थवत्ता से चमक उठेंगे। श्री रामकृष्ण के सुन्दर शब्दों में, शून्य (0) का अपना कोई मूल्य नहीं, शून्य पर शून्य लगाते रहो और शून्यों की पूरी लड़ी बना लो, फिर भी उनका कोई मूल्य नहीं होगा। किन्तु उसके पीछे संख्या 'एक' (1) रखते ही तुरन्त शून्य अर्थपूर्ण हो जाता है, तथा प्रत्येक शून्य बढ़ाने से संख्या की अधिकाधिक अर्थवत्ता होती जाती है। वह एक ईश्वर है, जो वेदान्त के अनुसार सबका आत्मा है, जिसमें हम रहते हैं और विचरण करते हैं और जिसमें हमारा सत्त्व है।

इस सत्य को समझकर ही जीवन में उत्साह और आनन्द की प्राप्ति होगी। फिर भी इस सत्य को समझने के लिए, हममें एक जिज्ञासा का भाव उत्पन्न होने की आवश्यकता है। महत्तम सत्य जीवन की सतह पर नहीं किन्तु गहराइयों में मिलते हैं। श्री रामकृष्ण कहते हैं : सीपियाँ समुद्र की सतह पर तैरती हैं, किन्तु मोती उसकी गहराइयों में मिलते हैं। इसलिए जीवन की दिव्यता के इस मौलिक सत्य को समझने के लिए अनुसन्धान की आवश्यकता है। अपने आप में जीवन के सतही पहलू इस सत्य का अनावरण नहीं करते। किन्तु ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिनमें जीवन की गहराइयों में गोते लगाने तथा ईश्वर के सत्य को (आध्यात्मिक जीवन के बहुमूल्य मुक्ताओं को) सबके दृष्टिगोचर होने के लिए सतह पर लाने का साहस और सामर्थ्य थी। उपनिषद् इन मुक्ताओं के भण्डार हैं। ईश्वर के इस ज्ञान से प्रबुद्ध, उपनिषदों के ऋषि हमें बताते हैं कि जीवन (जिसमें सतही जीवन भी शामिल है। स्वतः मंगलस्वरूप है, कि हमें उसे आनन्द और उत्साहपूर्वक जीना चाहिए)। इस प्रक्रिया में उस आनन्द के सच्चे स्रोत को भी ढूँढ़ लेना चाहिए। जब जीवन को इस प्रकार सुनियोजित कर लिया जाता है तो उसमें एकरसता और सार्थकता आ जाती है और जीवन की दीर्घता अध्यात्म के मोती चुनने का अवसर बढ़ा देती है।

वेदान्त की इस सुनिश्चित दृष्टि से उपनिषद् और गीता ओत-प्रोत हैं। वेदान्त दर्शन में रोना-पीटना कहीं नहीं है। जीवन के दुखमय स्वरूप की बात कालान्तर में भारतीय मन में डाली गई और जैसे-जैसे हमारा अपना ओज कम हुआ वैसे ही वैसे हम जीवन को दुखमय मानने लगे। भारत को इस वेदान्तिक विरासत का आह्वान करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा :

'मेरे मित्रो ! मेरे देशवासियो, मैं जितना उपनिषदों का अधिक अध्ययन करता

हूँ, उतना ही अधिक मुझे आपके लिए रोना आता है, क्योंकि उनमें महान् व्यावहारिक शक्ति है, हमारे लिए शक्ति। हमें जो चाहिए, वह शक्ति है; कौन देगा हमें शक्ति ? हमें निःशक्त बनाने वाले हजारों हैं, और कथाओं की हमारे पास भरमार रही है। हमारे पुराणों में से प्रत्येक में इतनी कथाएँ हैं कि यदि उन्हें निचोड़ो तो संसार का तीन-चौथाई पुस्तकालय भरने के लिए काफी है। पिछले एक हजार वर्षों से हमारी जाति को निःशक्त बना सकने वाली सभी बातें हो गयी हैं।....इसलिए मेरे मित्रो, आपका सजातीय होने के नाते, जो आपके साथ जियेगा और आपके साथ मरेगा, मैं बताना चाहता हूँ कि हमें आवश्यकता है शक्ति की, और हर समय शक्ति की। तथा ये उपनिषद् शक्ति की महान् खान हैं। उनमें समस्त विश्व को ओजस्वी बनाने की काफी शक्ति है, उनके द्वारा सब विश्व अनुप्राणित, सशक्त और ऊर्जित हो सकता है। वे समस्त जातियों के, समस्त मतों के, समस्त सम्प्रदायों के, दुर्बलों को, दुखितों को और पददलितों को तूर्यनाद से अपने पैरों पर खड़े होकर, मुक्त होने के लिए आह्वान करेंगे; स्वतन्त्रता : भौतिक स्वतन्त्रता, मानसिक स्वतन्त्रता तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता उपनिषदों के ये मूल मन्त्र हैं।'[1]

दुर्बलों के हाथों में पड़कर सच्चे धर्म की क्षति हो जाती है। भगवद्गीता के अपने भाष्य में शंकराचार्य इस बात का उल्लेख करते हैं। गीता (IV.1–2) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस योग का सम्मानपूर्वक अभ्यास विवस्वत से मनु और मनु से इक्ष्वाकु तक, अनेक लोगों ने किया था, वह मन्द होकर नष्ट हो गया। भगवान श्रीकृष्ण की इस लघु उक्ति पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि यह महान् विद्या और आध्यात्मिक जीवन की कला, शरीर तथा मन से दुर्बल और अजितेन्द्रिय मनुष्यों के हाथों में पड़कर मन्द होकर नष्ट हो गयी। उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने शौर्य-विहीन धर्म के आराम-पसन्द रूपों के अस्तित्व का कारण भारतीय जनता की सामान्य दुर्बलता बताया है। उन्होंने फिर एक बार जाति को शक्ति और अभय का वेदान्तिक सन्देश दिया और उपनिषदों में प्राप्त आध्यात्मिक ऊँचाइयों को समझने और उन पर चलने का आह्वान किया। मानव की सेवा के द्वारा इच्छा-शक्ति और चरित्र का विकास कर लेने के बाद ही मनुष्य इन आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक पहुँचेगा। कितनी ही बार उन्होंने अपनी जाति से सशक्त होने के लिए आग्रह किया है—

> मेरे युवा मित्रो ! तुम शक्तिशाली बनो, तुम्हारे लिए मेरी सलाह यही है। गीता अध्ययन की तुलना में तुम फुटबाल का खेल खेलकर मुक्ति के अधिक निकट पहुँच सकोगे। ये शब्द तुम्हें अटपटे लगेंगे, किन्तु मुझे कहने पड़े, क्योंकि मैं तुम्हें प्यार करता हूँ....तुम्हारे भुजदण्ड, तुम्हारी माँसपेशियाँ जब अधिक बलवान होंगी, तुम गीता को तब अधिक अच्छी तरह समझोगे। जब तुम्हारे भीतर कुछ अधिक सशक्त रक्त बहेगा, तब तुम कृष्ण की प्रकाण्ड प्रतिभा और प्रचण्ड शक्ति को अधिक समझ सकोगे। जब तुम्हारा शरीर अपने पाँवों

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 3, 238।

पर दृढ़ता से खड़ा हो सकेगा और तुम सचमुच अपने को मनुष्य अनुभव करोगे, तब उपनिषदों को और आत्मा के महात्म्य को अधिक अच्छा समझ सकोगे ।[1]

जीवन में स्फूर्ति

स्वामी विवेकानन्द के ये शब्द हमें उपनिषदों के उस वातावरण में ले जाते हैं, जो भावात्मक विचार का, स्फूर्ति का, ओज का, और आनन्द का वातावरण है। उपनिषदों में बहुत से ऐसे अवतरण हैं, जहाँ आपको आनन्द, और ओज का वातावरण मिलेगा। आनन्द और उल्लास उपनिषदों के दृष्टिकोण की विशेषता है, जिसको विलियम जेम्स 'स्वस्थ-चित्तता' कहता है। उपनिषदों में ईश्वर का नाम ही आनन्द है। तैत्तिरीय उपनिषद् (II.7) में दिव्य स्वरूप की कैसी भव्य व्याख्या मिलती है—

रसो वै सः; रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

यह रस ही है, इस आनन्द (रस) को पाकर मनुष्य आनन्दित होता है? यदि यह अनन्त आनन्द न होता तो यहाँ कौन रहता और कौन साँस लेता।

यह उपनिषद् कहता है, ईश्वर का स्वरूप ही आनन्द है और थोड़े बहुत आनन्द जो हम जीवन में अनुभव करते हैं, ऐन्द्रिक जीवन में भी, इस ईश्वर के उसी आनन्द के कण मात्र हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् मानव आनन्द के स्वरूप का इसके आगे विवेचन करता है। एक प्रभावशाली प्रारम्भिक उक्ति—'सैषानन्दस्यमीमांसा भवति', अर्थात् आनन्द के स्वरूप की खोज आरम्भ होती है। हम जिसे आनन्द का गणितीय ज्ञान कह सकते हैं, वह अब आरम्भ होता है। सामान्यतः धर्मतन्त्रों में आनन्द की व्याख्या का आरम्भ स्वर्गीय आनन्द से किया जाता है। परन्तु उपनिषदों के बारे में यह बात जानना जरूरी है कि उनमें आनन्द का आरम्भ एक युवा पुरुष के माध्यम से व्यक्त किया गया है। उपनिषद् (II.8) कहता है—

युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक
आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं
पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्।
स एको मानुष आनन्दः।

एक युवक को लीजिए जो साधु, सुशिक्षित, आशावान, मन से दृढ़, शरीर से बली है। इस पृथ्वी की सम्पूर्ण समृद्धि का स्वामित्व भी उसे मिलने दीजिए, यह मानव सुख की इकाई है।

यह इकाई स्थापित करके उपनिषद्, इसी इकाई के आधार पर, एक युवक

[1] वही, 242।

के आनन्द के अपवर्त्य रूप में, मानवीय और दैवी—सब प्रकार के आनन्दों को मापना और स्थापित करना शुरू करता है, किन्तु मानव आनन्द की इकाई, एक युवक से शुरू करते हुए, उपनिषद् चाहे किसी भी युवक को स्वीकार नहीं कर लेता। कोई भी युवा या युवती केवल आयु के कारण इकाई का काम नहीं देख सकता। आज हमें, अपने चारों ओर देखने पर बड़ी मात्रा में ऐसे युवक मिलते हैं, जो मानव आनन्द की इकाई नहीं बनाये जा सकते, यद्यपि वे शरीर से युवा हैं, उनमें बहुत हैं जो क्लान्त और मरियल हैं, वे जवानी शुरू होने से पहले ही बूढ़े हो चले। इसलिए वे मानव सुख की इकाई बनाने में काम नहीं दे सकते। युवावस्था के अलावा उपनिषद् और छः बातें गिनाते हैं। साधुभाव, दूसरे नम्बर पर आता है। तीसरा है, शिक्षा, रचनात्मक शक्ति को प्रेरणा और विस्तार देने वाली। चौथा है, आशा और आकांक्षा, उल्लासपूर्ण भविष्य का आमन्त्रण। पाँचवाँ है, मन और उद्देश्य की दृढ़ता, एक अनुशासित संकल्प शक्ति। तथा छठा है, शारीरिक बल, सामान्य शारीरिक स्वास्थ्य। उपनिषद् इन छः से सन्तुष्ट नहीं है, सातवाँ एक और जोड़ देता है—धन, यौवन, साधुता, शिक्षा, आशा, मन और शरीर का बल, ये सब, उपनिषद् सोचता है, इनके साथ धन को जोड़े बिना सदा अधूरे रहेंगे; अपने आनन्द को पूर्ण करने के लिए, संसार यात्रा सुगम बनाने के लिए, युवक का धन पर अधिकार होना आवश्यक है।

अब, अन्त को मानव आनन्द की इकाई निश्चित कर लेने पर, उपनिषद्, आनन्द के दूसरे प्रकारों को, इस इकाई के शत अपवर्त्य में आकलन करना शुरू करता है; इस आरोहण क्रम में, देवदूतों, देवताओं तथा अन्य उच्च कोटि के सत्वों से लेकर प्रजापति विराट् पुरुष तक का आनन्द आ जाता है, किन्तु मानव आनन्द की इकाई निश्चित कर लेने के पश्चात् उपनिषद् आरोही क्रम में आनन्द का आकलन करते हैं; और बताते हैं कि इस क्रम में दैवी आनन्द, यहाँ तक कि विराट् पुरुष प्रजापति का आनन्द सर्वोपरि है। परन्तु उस पुरुष का आनन्द, जो अपनी इन्द्रियों और मन का दास न रहकर ब्रह्म की अनुभूति कर लेता है उन सभी आनन्दों से जो उस युवक से प्रजापति तक प्राप्त होते हैं, श्रेष्ठ है। आध्यात्मिक अनुभूति से मानव का सम्बन्ध आनन्द के सागर ब्रह्म से हो जाता है और फिर उसे आनन्द की कमी कहाँ? यह मानव का परम श्रेय है।

एक क्षण उस आनन्द की कल्पना कीजिए जिसका अनुभव श्री रामकृष्ण, प्रभु ईसा या भगवान् बुद्ध ने किया। क्या है संसार में जिसकी उनके आनन्द से तुलना की जा सके? वे उतने ही आनन्द में हैं जितने कि स्वर्ग में देवदूत और देवता तथा उतने ही आनन्द में हैं जितना कि पृथ्वी पर एक युवा। एक युवा उनके सामने अपने को दीन अनुभव करेगा, क्योंकि उन्होंने सबमें आत्मा का दर्शन कर लिया है। वह सबके समतुल्य बन गये हैं, किन्तु उनके तुल्य कोई भी नहीं है। इसका वर्णन शंकराचार्य इस प्रकार करते हैं (विवेक चूड़ामणि, श्लोक 543)—

निर्धनोऽपि सदा तुष्टोप्यसहायो महाबलः ।
नित्य तृप्तोप्यभुञ्जानोप्यसमः समदर्शनः ।।

धनहीन होने पर भी सदा तुष्ट, असहाय होते हुए भी महाबली, इन्द्रिय सुख लिए बिना भी नित्य तृप्त, समदर्शी किन्तु उसके समान कोई नहीं (ऐसा है आत्मज्ञानी) ।

न कोई बड़ा है न कोई छोटा, क्योंकि वही आत्मा सबमें है । जिसने इस सत्य की अनुभूति कर ली है, हम उसे आध्यात्मिक विराट् पुरुष मानते हैं । इतना ऊँचा और महान् है वह । श्री रामकृष्ण सबके साथ मैत्री और समान भाव रखते थे परन्तु अन्य सब यह अनुभव करते थे कि वे सबसे कहीं बड़े हैं । उपनिषद् कहते हैं, ब्रह्मज्ञानी की यही नित्य महिमा है । मनुष्य के लिए यह आनन्द की चरम सीमा है ।

भारतीय प्रसंग में, मनुष्य उपनिषदों में बताये मानव आनन्द की मौलिक इकाई से अभी बहुत दूर है, उसे आर्थिक और सामाजिक सुधार के उपायों द्वारा तथा एक कुशल शिक्षा प्रणाली द्वारा (जिसका उद्देश्य है, विवेकानन्द के शब्दों में, मनुष्य में पहले से विद्यमान पूर्णता की अभिव्यक्ति) समाज के सद्‌गुण और शालीनता, आनन्द और आह्लाद अभी प्राप्त करने शेष हैं । विवेकानन्द के अनुसार, यह मनुष्य के आध्यात्मिक प्रशिक्षण की प्रथम अवस्था है, जिसे वह मानव-निर्मायक कहते थे । धर्म, अन्तस्थ आत्मा का साक्षात्कार, ईश्वर के आनन्द की प्राप्ति, इसके बाद ही आती है । देवत्व मानवत्व की परिपूर्ति है, उसका निरसन नहीं । दिव्य आनन्द के पीछे भागने से पहले मनुष्य को चाहिए कि मानवीय आनन्द प्राप्त कर ले नहीं तो धर्म सस्ता बन जायेगा, और उसके द्वारा प्राप्त आनन्द एक ढोंग । इसलिए स्वामी विवेकानन्द ने अपने देशवासियों से अनुरोध किया था :

> 'आओ ! मनुष्य बनो ! अपने संकीर्ण बिलों में से निकलकर एक बार भारत के बाहर देखो । देखो कि जातियाँ किस प्रकार बढ़ी जा रही हैं । क्या तुम मनुष्य से प्रेम करते हो ? क्या तुम अपने देश से प्रेम करते हो ? तो आओ हम उच्च और श्रेष्ठ वस्तुओं के लिए संघर्ष करें—गरीबों से सहानुभूति और उनके भूखे पेट के लिए रोटी, जनसाधारण के लिए ज्ञान तथा उनको मनुष्य बनाने के लिए आमरण संघर्ष, जिनको तुम्हारे पूर्वजों के अत्याचार ने पशुओं के स्तर पर पहुँचा दिया है ।'[1]

जीवन तथा धर्म के प्रति यह भावात्मक, आह्लादमय, प्रसन्न मनोवृत्ति है, जो आधुनिक मानव उपनिषदों से सीखेगा । सच्ची आध्यात्मिकता का जिन्हें पता नहीं वे लोग, विद्वान् हो या साधारण, धर्म को अनेक प्रकार की अपसामान्यताओं से सम्बद्ध करते हैं, और ऐसी ही किसी अवस्था का नाम धर्म रख देते हैं । किन्तु जैसा कि हमने देखा, उपनिषद् यौवनपूर्ण आनन्दों की परिपूर्ति और समापन को ही आध्यात्मिक आनन्द मानते हैं ।

यौवन में रस है । साधारणतया धर्म जीवन से इस रस को लुप्त करने वाला

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 5, 10–11 ।

समझा जाता है। परिणाम यह होता है कि जीवन स्वकेन्द्रित बनने लगता है, उसकी सुरुचिपूर्णता कुण्ठित हो जाती है और व्यक्तित्व क्षीण होने लगता है। परन्तु सच्चा धर्म ऐसा नहीं होने देता। वह उस रस को पवित्र करके उसमें वृद्धि करता है। धर्म के जीवन में पदार्पण करने से पहले रस का स्रोत केवल मनुष्य का शारीरिक बल, महत्वाकांक्षा और स्वार्थी प्रवृत्ति ही होते हैं। परन्तु धर्म जीवन को एक नई दिशा और दृष्टि देता है। धर्म से मनुष्य अपने बाह्य जीवन में समता का भाव और अन्तर्मन में ईश्वर की अनुभूति का अहसास करने लगता है। जिस क्षण मैं अन्य सबके साथ ऐक्य अनुभव करता हूँ एक नवीन रस मुझमें उत्पन्न होता है, जो अधिक निखरा हुआ और शुद्ध है। दूसरों को आनन्दित करना मेरा आनन्द है, दूसरों की सेवा करना तथा दूसरों को अपने जीवन की सार्थकता प्राप्त कराने में सहायक होना मेरी सार्थकता है। उपनिषदों तथा भगवद्गीता की यह सारभूत शिक्षा है—यह है नीतिशास्त्र और धर्म का आधार, तत्त्वमीमांसा (आध्यात्मिक) की नींव।

आनन्दपूर्ण वृद्धावस्था

उपर्युक्त भावों के सन्दर्भ में, हम ईशोपनिषद् के दूसरे मन्त्र की अर्थवत्ता का अधिक स्पष्ट बोध पाते हैं—'इस संसार में सौ वर्ष जीने की इच्छा करो, किन्तु केवल कर्म करते हुए।' अपने शरीर को मनुष्य, कर्म करने का उपकरण बनावे, तथा कर्म द्वारा बाहर सौन्दर्य, सम्पत्ति और मंगल उत्पन्न करे, और अन्तर में नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास। वह हमको उच्चतम आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने में सहायक हो सकता है। मानव शरीर की उपनिषदों में, एक अत्यन्त मूल्यवान उपकरण के रूप में व्याख्या की गई है। इस उपकरण से सर्वश्रेष्ठ संगीत पैदा हो सकता है, शर्त यह है कि इसकी ताल और लय ठीक-ठाक मिलाई जाये, अर्थात् जीवन अनुशासित और प्रशिक्षित कर लिया जाये। श्रीमद्भागवत (XI. xxix. 22) में 'ईश्वर' मनुष्य से इस प्रकार कहते हैं—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेने मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

यह बुद्धिमानों की बुद्धि है, मनीषियों की मनीषा है, जो यहाँ (इस जीवन में) सत्य को अनृत (असत्य) द्वारा मुझे अमृत को मर्त्य (मनोदैहिक जीव) के द्वारा पा लेता है।

धर्म की यही तकनीक है। इसीलिए देह की सही सार-सम्भाल और मन की पवित्रता, दोनों बातों पर जोर दिया गया है। मानव के इस मनोदैहिक संयंत्र को और अनुशासित रखने से ही मुक्ति के द्वार तक पहुँचा जा सकेगा।

उपनिषदों और भगवद्गीता ने हमें यह दृष्टि दी है। किन्तु बहुत सी सदियों के बाद राष्ट्र इन बातों को भूलने लगा। ऐसा पहले धर्म के क्षेत्र में हुआ और बाद को हमारे राष्ट्रीय जीवन के सब पहलू उससे ग्रसित हो गये। प्रयत्न और संघर्ष की

भावना, का स्थान आलस्य और झूठी सन्तोष भावना ने ले लिया। प्रत्येक उपलब्धि के लिए राष्ट्र को एक कीमत चुकानी होती है। राष्ट्र उस रास्ते से हट गया। भौतिक और धार्मिक जीवन के आचरण में छिछोरापन प्रवेश कर गया। उद्यम करने से ही चरित्र बनता है और किसी ऊँचे लक्ष्य की प्राप्ति होती है, उस रास्ते को राष्ट्र ने जोड़ दिया। ऊपर चढ़ने के रास्ते में जो मेहनत पड़ती है और जो आनन्द मिलता है ये दोनों चीजें हमारे जीवन से अन्तर्ध्यान हो गयीं। उसका स्थान विषाद् ने ले लिया। अकर्मण्यता में आनन्द खोजा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र जिन्दा होते हुए भी मुर्दा हो गया। स्मरण रहे उपनिषदों ने तो मृत्यु में भी जीवन की कल्पना की है। इसका यथार्थ वर्णन इन पंक्तियों में हुआ है—

'मधुर है निद्रा, मृत्यु उससे अच्छी,
किन्तु सबसे अच्छा है जन्म ही न होता।'

सोचकर आश्चर्य होता है कि यह दुर्बल पराभवी मनोभाव भारतीय वातावरण में सदियों से व्याप्त रह सका, जिसको न केवल अज्ञ लोगों ने बल्कि विज्ञ लोगों ने भी अपनाया, तथा वह भी उपनिषदों के निर्भय तथा स्फूर्तिदायक दृष्टिकोण के रहते हुए। किन्तु अब, उपनिषदों के उत्तेजक शब्दों को एक बार फिर सुनकर भारत धीरे-धीरे इस मनोवृत्ति पर काबू पा रहा है, और जीवन और ज्योति के जगत में, जाग्रत हो रहा है। भारत और दुनिया के लिए स्वामी विवेकानन्द का यह महान् अवदान है। वे मनुष्यों के एक उद्‌बोधक थे। उन्होंने पूरब और पश्चिम में शक्ति और अभय का, प्रेम और सेवा के वेदान्तिक सन्देश का प्रचार किया। अपने सहज दिव्य स्वभाव के ज्ञान से जो शक्ति आती है, उसे लेकर, हमारे युवकों का शौर्य चमकेगा और हमारे वृद्ध प्रफुल्लित रह सकेंगे।

मानव जीवन को समृद्ध करने में ये आध्यात्मिक विचार, आज न केवल भारत में ही, बल्कि सर्वत्र, कितना बड़ा योगदान कर सकते हैं। अपनी चमक-दमक अपने आमोद-प्रमोद के बावजूद, आधुनिक औद्योगिक सभ्यता अपनी परिमार्जित सतह के नीचे बहुत विषाद्‌पूर्ण गीत है। उस सभ्यता के नीचे एक भयंकर कराह है। इसके भयानक स्पर्धाशील बाह्य वातावरण में, उन सहस्रों के लिए, जो जीवन में विफल हो जाते हैं, कोई स्थान नहीं रह जाता, और न उसमें वृद्ध और लाचारों के लिए, जो अब उत्पादन योग्य नहीं रहे, कोई स्थान है। स्वयं वृद्ध भी, इससे पहले कि दूसरे उनमें विश्वास खो दें, अपने में विश्वास खो बैठता है। चारों ओर से उसे फुसफुसाहट मिलती है—तुम्हारी आवश्यकता नहीं रही। वह अपने को जीवन के रेगिस्तान में खड़ा महसूस करता है। वह निचड़ा हुआ और मानो कूड़े के ढेर पर फेंका हुआ, अपने को मान लेता है तथा विषाद्, निराशा, नितान्त एकाकीपन उस पर छा जाते हैं।

उपनिषद् यह नहीं होने देंगे। वृद्धावस्था कोई अवहेलना की वस्तु नहीं है, उसके अपने लालित्य हैं। युवा और वृद्ध दोनों के भीतर दिव्यज्योति है; तथा केवल

यही बात मनुष्य में सच्चा मूल्य पैदा करती है। दिव्य ज्योति का यह तत्त्व अविनाशी तथा अपरिहार्य है कर्म और विलास के लिए शारीरिक सामर्थ्य मानव मूल्य की कसौटी नहीं बन सकते। ये आते जाते हैं, किन्तु मनुष्य का आत्मा आवरण के परिवर्तन और संयोग से अप्रभावित रहता है। उपनिषद् युवा और वृद्ध को इसी आलोक में देखते हैं (श्वेताश्वतर उपनिषद्, IV.3)—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि कुमार त्वं उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

तुम ही स्त्री हो, तुम ही पुरुष हो, तुम ही कुमार और कुमारी भी, तुम ही डण्डे के सहारे चलने वाले वृद्ध हो, तुम अनेक रूपों में रूपायित हो।

एक स्वस्थ समाज वह है, जो अधिकाधिक संख्या में अपने युवकों को तथा वृद्धों को, इस दिव्य स्वरूप का बोध देता है। आधुनिक सभ्यता को दो बड़ी समस्याएँ सता रही हैं : एक है वृद्धावस्था की समस्या, दूसरी है फुरसत की। वेदान्त ने मानव हृदय में दिव्य सन्देश फूँका है तथा दिव्य आत्मा के साक्षात्कार को जीवन का लक्ष्य बताकर, मानव को आज के समाज में एक नयी आशा दी है। यदि ऐसा जीवन जीना, उसके लिए उचाट और नैराश्य में भरा होता, तो वेदान्त, मनुष्य से सौ वर्ष की पूरी अवधि जीने की इच्छा करने को न कहता। उस एक दर्शन से, जिसमें जीवन और फुरसत का अर्थ केवल तीन 'उ'ओं की आवृत्ति हो, अर्थात् उल्लास, उत्तेजना तथा उत्श्रान्ति हो, और क्या आशा की जा सकती है ? मनुष्य के सामने वेदान्त एक और आदर्श प्रस्तुत करता है—वृद्धि, विकास और अनुभूति, जिसके आलोक में श्रम और फुरसत रचनात्मक बन जाते हैं। 'त्याग द्वारा भोग करो' यह ईशोपनिषद् कहता है, क्योंकि केवल यही मार्ग है, जिससे हमारे कर्म हमारे बन्धनों को अधिक न बढ़ा सकें, जिससे हम सचमुच मुक्त हो जाते हैं। इस आध्यात्मिक प्रयोजन और दिशा को पाकर प्रत्येक गतानुगत वर्ष में, जीवन समृद्ध होता जाता है तथा फुरसत जीवन को अधिक गहन बनाने का, श्रौर उसे अधिक आनन्द और उल्लास देने का साधन बन जाता है। इस प्रकार जीवन से अधिकतम उपार्जन की बात भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद दोनों में समान है। किन्तु इस प्रकार जो प्राप्त होता है, उन दोनों के बीच बहुत बड़ा भेद है।

जीवन से जूझना

ईशोपनिषद् के दूसरे मन्त्र पर विचार करते समय एक और बात है, जो ध्यान देने योग्य है, एक और कारण है, जीवन से अधिकतम उपार्जन की ओर अपनी शक्तियाँ लगाने का। वह यह है कि उपनिषद् कहते हैं कि सत्य की अनुभूति केवल मनुष्य शरीर में और मनुष्य शरीर द्वारा हो सकती है। हम स्वर्ग जा सकते हैं और एक देवता के समान, आनन्दों का उपभोग कर सकते हैं, किन्तु सत्य की अनुभूति वहाँ

कभी नहीं कर सकते। जो पुण्य हमको वहाँ ले गया था, वह अर्थशास्त्र की भाषा में, अनर्जित वृद्धि के समान, एक घटती हुई राशि बन जाता है, किन्तु वह टिकता नहीं। देर-सबेर पुण्य बराबर हो जायेंगे, वहाँ नये पुण्य अर्जित नहीं होते; और यथासमय हमें मानव जगत में वापस आना पड़ता है, तथा एक बार फिर सत्य और पूर्णता की ओर अपनी यात्रा आरम्भ करनी पड़ती है। इसलिए उपनिषद् कहते हैं, क्यों नहीं सत्य की अनुभूति यहाँ और अभी कर लें ? जीवन गतिहीन हो जाय, यदि उसका अर्थ, संसार में या स्वर्ग में विलासों का एक आवर्तन मात्र हो। वह रचनात्मक तभी होता है, जब वह सत्य की ओर, पूर्णता की ओर, चलता है। आधुनिक जीव-विज्ञान कहता है कि प्रकृति ने बहुत लम्बी पीड़ा सहन करके मानव शरीर को विकसित किया है। हिन्दू शास्त्र कहते हैं, बहुत पुण्य करने पर ही अमूल्य मानव चोला प्राप्त होता है। यह शरीर बड़े साध्यों को प्राप्त करने का साधन है—अभ्युदय-समाज के सुख; निःश्रेयस-आध्यात्मिक मुक्ति। इसीलिए उपनिषद् कहता है कि सौ वर्षों का लम्बा जीवन मनुष्य को स्थिरता से और पूर्णता से जीवन में आत्म-साक्षात्कार करने का अवसर देता है।

वास्तव में यह कोई आसान काम नहीं है; बुद्धि और इच्छा-शक्ति को इस महान् उपलब्धि से युक्त किये बिना यह (सफल) नहीं होता। शंकराचार्य अपने एक स्मरणीय स्तोत्र में कहते हैं (चर्पट मंजरिका, स्तोत्र 7)—

बालस्तावत् क्रीड़ासक्तः, तरुणस्तावत् तरुणी सक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः, परे ब्रह्मणि कोऽपि न रक्तः॥

बालपने में खेल-कूद में मस्त रहे, जवानी में भोग में लीन रहे, वृद्धावस्था में चिन्ताओं ने घेरा, परब्रह्म में, हाय ! कभी अनुरक्ति नहीं की।

जीवन की यह दारुण त्रासदी है। जीवन के मूलभूत अभिप्राय को, विस्मृत और उपेक्षित करके, हम शरीर और मन को जीवन के गौण अभिप्रायों के अर्पण कर देते हैं। काल यों ही बीत जाता है। उपनिषद् कहते हैं कि जीवनयापन करने का एक और भी ढंग है। वह ढंग अन्त तक हमें अपना यौवन-उत्साह सुरक्षित रखने देता है; प्रश्नों और प्रयत्नों द्वारा जीवन को संघर्षमय बनाता है, तथा समस्त अनित्य वस्तुओं के पीछे, नित्य वास्तविकता के साथ हमारा सम्पर्क स्थापित कराता है। जीवन का यह रूप मानव बुद्धि के लिए एक बड़ी चुनौती है। उपनिषदों में अभिव्यक्त, मानव बुद्धि ने, इस चुनौती को स्वीकार किया और मानव जाति को परमश्रेय का अपना गहन दर्शन दिया है। वेदान्त इस चुनौती और दर्शन, दोनों को प्रस्तुत करता है। यह एक इतनी महत्त्वपूर्ण चुनौती है, जो मानव मन को निरन्तर आनन्दित करती है और वेदान्त, इस बीसवीं सदी में भी उसी ताजगी से अपनी बात कहता है जैसी वह उस समय कहता था जब उपनिषदों का सृजनकाल था। इस साहित्य में इतने सारे मन्त्र ऐसे हैं जो जीवन का महान् आनन्द हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। इससे हमारी अनुभूति गहरी होती जाती है। और फिर ज्यों-ज्यों हमारा जीवन आगे बढ़ता है हमारे सामने जीवन का सौन्दर्य नये-नये रूप लेकर मुखरित

होता जाता है।

जैसे-जैसे वेदान्त का यह सन्देश हमारे जीवन में परिपक्वता लायेगा, वैसे-वैसे हमारे अन्दर करुणा का भाव बढ़ेगा, अहम्मन्यता की भावना समाप्त होगी, और हम दूसरों के सुख-दुःख में उनके हमदर्द हो सकेंगे। मनुष्य में आध्यात्मिक तत्त्व बढ़ने का यही पैमाना है। फिर ज्यों-ज्यों मनुष्य बूढ़ा होगा उसकी आन्तरिक शक्ति बढ़ती जायेगी और वह क्षीणकाय होता जायेगा। श्री रामकृष्ण इसकी तुलना मूर्ति-निर्माण की क्रिया-विधि के साथ किया करते थे। पहले सांचा सावधानी से बनाया जाता है। फिर उसमें पिघला हुआ धातु उँडेला जाता है। ठण्डा होने पर, वह जम जाता है। भीतर जब मूर्ति-निर्मित हो जाती है, बाहर का सांचा, उससे काम निकल जाने पर, बिना दुःख-दर्द अनुभव किये, तोड़कर फेंक देते हैं।

तो इस जीवन संघर्ष का रहस्य क्या है? यह उपनिषद् इस प्रश्न का जो उत्तर देता है, वह यह है : कर्म करो, किन्तु निष्काम भाव से। यह गूढ़, सूत्र-प्राय: उक्ति औपनिषदिक शिक्षा की विलक्षणता है। अपने इस महान् सन्देश को विस्तार से बताने का उपनिषदों के पास अवसर नहीं था। ऋषियों के हृदय भरे थे, क्योंकि उन्होंने गहन और महान् अन्तर्दृष्टि पायी थी। वे मानव को संक्षिप्त, सरल तथा स्पष्ट भाषा में अपना सन्देश पहुँचाना चाहते थे। अपने विचारों का ब्योरेवार विकास उन्होंने आगामी चिन्तकों के लिए छोड़ दिया था; यह उपनिषद् कहता है कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति के लिए, आधारभूत बात यह है कि हम क्या करते हैं और कैसे करते हैं? आजीवन हम इतने कर्मों में लगे रहते हैं, शैशव काल से मृत्यु काल तक, हम किसी न किसी काम में निरन्तर लगे रहते हैं और यदि अपने जीवन के अन्त में, इनका लेखा-जोखा देखें, हम पाते हैं कि बन्धन से मुक्त करने के बजाय, उन्होंने केवल हमारे बन्धन बढ़ाए ही हैं। इसलिए जीवन से जूझने की रीति है प्रत्येक कर्म को प्रत्येक अवसर को, उस बन्धन से अपने को मुक्त करने का साधन बनाना। यदि हम अपने कर्मों तथा जीवन को, जीवन में छिपे गहरे अर्थ और अर्थवत्ता की निरन्तर खोज का क्षेत्र बना लें, तो प्रत्येक कर्म, उस बन्धन को थोड़ा तोड़ने में मदद करेगा और मनुष्य को सच्ची मुक्ति का स्वाद आयेगा। जीवन पर तात्त्विक ज्ञान या मनीषा का यह प्रभाव होता है। भगवद्गीता (IV.37) में कहा गया है —

'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही, हे अर्जुन! ज्ञान की अग्नि, सब कर्मों को भस्म कर देती है।

तत्त्वदर्शन या मनीषा कर्मों का नाश नहीं करती, किन्तु उनके बन्धनों को हटाती है, मनीषा जीवन और कर्म को पवित्र करती है। भगवद्गीता के अगले श्लोक में यही कहा गया है —

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

'प्रज्ञा के समान इस संसार में पवित्र करने वाली (वस्तु) और कुछ नहीं।'

श्री रामकृष्ण कहते हैं, कि रस्सी जल जाने के बाद किसी को बाँध नहीं सकती, यद्यपि उसके रस्सी होने का आभास बना रहता है। इसी प्रकार कर्म मनुष्य को बाँधते हैं, किन्तु उन्हें प्रज्ञा की अग्नि में जला दो, तब उनका रूप तो कर्म का सा रह सकता है, किन्तु अब उनमें बाँधने की शक्ति नहीं रहेगी। भगवद्गीता (IV.33) कहती है कि जो ऊर्जा कर्म रूप में व्यक्त हुई थी, यह ज्ञान और प्रज्ञा में समा जायेगी—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते—

समस्त कर्म, हे पार्थ ! ज्ञान (प्रज्ञा) में पर्य्यवसित होते हैं।

तो हम ज्ञान या प्रज्ञा की, उस ज्वलन्त अग्नि को किस प्रकार पैदा करें, जिसमें अपने कर्मों को जला सकें ? इसका उत्तर मिलता है, वेदान्त के सन्देश में, उपनिषदों की शिक्षाओं में, और भगवद्गीता में। यदि उत्तर हम चाहते हैं तो समस्या का सामना करना पड़ेगा। कर्म से भागने पर, हम कर्म से बच नहीं सकते। पशु का मुकाबला करो, जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने, लन्दन में वेदान्त पर एक भाषण में, भारत में, अपने परिव्रजण काल को याद करते हुए, एक बन्दरों के झुण्ड का सामना करने के अनुभव में, बयान किया था। पहले उन्होंने भागने का प्रयत्न किया, किन्तु बन्दरों ने उनका पीछा किया, उसी समय एक राही ने उनसे पुकार कर भागने को मना कियां बल्कि पशुओं का सामना करने को कहा। उन्होंने वैसा ही किया। जैसे ही वे घूमकर उनके सामने आये, बन्दरों में भगदड़ मच गयी। आँख बन्द कर लेने से या भागने से, पाश्विक वृत्ति समाप्त नहीं हो जाती। अपनी आँख जब खोलेंगे, वह हमारी ओर घूरती हुई मिलेगी। जीवन की समस्याओं को टालना नहीं चाहिए, उनका सामना करना आवश्यक है। उपनिषदों में, इसलिए पलायनवाद नहीं सिखाया जाता, बल्कि उन समस्याओं का स्वीकरण, जीवन से जूझना, जीवन की चुनौती को तत्त्वदर्शन की चुनौती के साथ, अध्यात्म की शक्ति के साथ, मुकाबला करना सिखाया जाता है। व्यावहारिक रूप से जीवन ऐसे ही जिया जाता है। वेदान्त केवल गम्भीर तत्त्वमीमांसा नहीं, बल्कि एक अत्यन्त व्यावहारिक विज्ञान तथा जीवन की कला भी है : ब्रह्म विद्या और योगशास्त्र। यदि हम उसके सन्देश का एक अंश भी पालन करें तो भगवद्गीता (II.40) में कहा गया है काफी हद तक हम निर्भय हो सकेंगे :

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्—

थोड़ा सा भी यह धर्म हमें महान् भय से बचा लेगा।

लोगों को हम बहुधा कहते सुनते हैं, 'मैं इस सब तत्त्वमीमांसा और धर्म में विश्वास नहीं करता, मैं भलाई करने में विश्वास करता हूँ। मेरे जीवन का दर्शन यही है।' यह केवल एक सीमा तक ही ठीक है। भलाई करने का दर्शन बहुधा मनुष्य को अहंभावी और हृदयहीन बना देता है। इस विचार सरणि का उल्लेख करते हुए डॉ० सर्वपल्लि राधाकृष्णन् कहते हैं—'आधुनिक पुरुष या आधुनिक स्त्री धर्म में विश्वास नहीं करते। केवल उसमें विश्वास करते हैं जिसे वे कहते हैं, 'भलाई करते घूमना।'

किन्तु उनमें, घूमना अधिक है, भलाई करना कम। भलाई करने का तत्त्वदर्शन गहन नहीं है। जो इसको अपने जीवन का आधार बनाने की कोशिश करते हैं, वे जीवन में धक्के और कठिन परीक्षाओं का सामना होने पर, शीघ्र ही उसकी अनुपयुक्तता महसूस कर लेंगे। ऐसे अवसरों पर संसार की भलाई करने वाली, मनःस्थिति से वे भाग खड़े होते हैं। ऐसी मनोवृत्ति वह आध्यात्मिक शक्ति नहीं देती, जो मन को सफलता या विफलता, सुख या दुःख की सब परिस्थितियों में दृढ़ रख सकती है। सब से बड़ी शक्ति हमें प्राप्त है, आत्मा जो अपने दिव्य स्वरूप के ज्ञान से, मिलती है। केनोपनिषद् कहता है :

आत्मना विन्दते वीर्यं—

आत्मा (के ज्ञान) से शक्ति मिलती है।

एक चेतावनी

इशोपनिषद् के अगले पाँच स्मरणीय मन्त्रों में, आत्मा के स्वरूप तथा उसके साक्षात्कार का फल वर्णित है। किन्तु इससे पहले, अपने तीसरे मन्त्र में, उसने चेतावनी दी है। जो मन्त्र इस प्रकार है :

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः,
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।

घोर अन्धकार से पूर्व असुरों के लोक में, वास्तव में वे जाते हैं, जो आत्म-घाती हैं।

इस मन्त्र में हमारे लिए चेतावनी है, कि यदि हम आत्मा को भूलें और उसकी अवेहलना करें, उसकी उपेक्षा करें, और केवल क्षुद्र जीवन बितावें, तो क्या होता है। एक गहरा आध्यात्मिक सत्य यहाँ रहस्यात्मक और प्रतीकात्मक भाषा में सज्जित किया गया है। अपने दिव्य स्वरूप की चेतना बिना जीवन जीना क्षुद्र है, वैसा एक जीवन अन्धकारमय और दुःखपूर्ण है। इस मन्त्र में प्रयुक्त 'अन्धकार' शब्द का अर्थ, भौतिक अन्धकार नहीं है, वह अज्ञान का अन्धकार है, वह आध्यात्मिक अन्धकार है। मन्त्र इस अन्धकार की तुलना नरक से करता है। पुराण कथाओं में, नरक असुरों का वासस्थान माना गया है। एक वैकल्पिक पाठ है 'असूर्या' जिसका शाब्दिक अर्थ है, आलोक-विहीन, अर्थात् घोर अन्धकार। एक कन्दरा की कल्पना कीजिए जो आदि काल से अन्धकारपूर्ण है, एक स्थान जहाँ सूर्य की किरणें कभी प्रवेश नहीं कर सकीं। उस मनुष्य की दशा क्या होगी, जिसे यदि आजीवन ऐसी कन्दरा में रहना पड़े? जो अपना जीवन अपने दिव्य स्वभाव के लेश-मात्र ज्ञान बिना, व्यतीत कर देता है, उसकी ऐसी ही दशा होती है। किसी एक व्यक्ति में से, नैतिक मनुष्य का, आध्यात्मिक मनुष्य का, विकास यही ज्ञान करता है। आत्मा के इस नित्य प्रस्तुत तत्त्व की अवेहलना करना आलोक से दूर रहने के समान ही है।

मन्त्र हमें आगे यह बताता है कि जो ऐसे आध्यात्मिक अन्धकार में रहना पसन्द करते हैं वास्तव में, वे अपनी आत्म-हत्या कर रहे हैं। 'आत्म-हनोजना:' का अर्थ है, अपनी हत्या करने वाले मनुष्य। साधारण आत्महत्या में हम केवल शरीर का नाश करते हैं, जो हमारे बाहर की चीज है, किन्तु यहाँ तो हम अपनी हत्या, अपनी सच्ची आत्मा की हत्या करते हैं। शरीर की मृत्यु इतनी संगीन नहीं होती, जितनी आत्मा की। अपने सच्चे स्वरूप की अवहेलना करके, उसकी उपेक्षा करके, हर समय अनात्म की छाया को पकड़ते रहकर, हम एक अत्यन्त गम्भीर प्रकार की हत्या करते हैं।

शंकराचार्य, मन्त्र के अपने भाष्य में इस असाधारण प्रकार की हत्या के उस स्वरूप की व्याख्या करते हैं, जो संसार में अति व्यापक रूप में देखी जाती है। वह कहते हैं :

अविद्यादोषेण विद्यमानस्य आत्मनः तिरस्करणात् आत्महन इत्युच्यते—
अविद्या दोष के कारण मनुष्य अपने नित्य आत्मा की अवेहलना करता है इसलिए कहा जाता है—'वह आत्मघाती है।'

विषयगत अनुभव की परछाइयों को पकड़ते रहकर, उन्हें तत्त्व की समग्रता मानकर मनुष्य अपने ही व्यक्तित्व की अनन्त अमृत विभा की अवज्ञा करता है। संसार, सांसारिकता का अर्थ यह है, जहाँ मनुष्य अपने अनुभव की दृश्य वस्तुओं में डूब जाता है और दृक्, उसकी सच्चा आत्मा, अज्ञान के अन्धकार में आवृत्त हो जाता है, यही है आध्यात्मिक हत्या। जैसा कि हमने पहले देखा, संसार में रहना वही बात नहीं है जो संसारी होना है। जैसा श्री रामकृष्ण अपनी एक नीति कथा में बताते हैं—हम सब संसार में रहते हैं। सन्त और पापी दोनों इसमें रहते हैं, ईश्वर का एक अवतार भी इस संसार में रहता है। श्री रामकृष्ण आश्वासन देते हैं, इसमें कोई दोष नहीं, किन्तु यह भी कहते हैं कि संसार को, सांसारिकता को, हमारे अन्दर नहीं रहना चाहिए। नाव को जल में होना चाहिए, किन्तु जल को नाव में नहीं, क्योंकि नाव के लिए वह स्थिति भयावह है।

जिस व्यक्ति में सांसारिकता होगी उसमें आत्मिक अनुभूति नहीं हो सकती। पशु योनि तो विषयों के भोग के लिए है, पदार्थों के बोध के लिए नहीं। यह तो मानव देह में ही सम्भव है कि वहाँ पदार्थों का ज्ञान और भोग दोनों हों। मानव देह मिलने पर ही आत्म और अनात्म का भेद सामने आता है। शुरू-शुरू में आत्म छोटा होता है और अनात्म बड़ा अर्थात् मनुष्य अहंकार से पूर्ण रहता है। उसका यह अहंकार बाह्य जगत् की देन है। और जब तक वह अन्धकार में आवर्त्त रहता है, मनुष्य होते हुए भी उसकी योनि पशु ही की होती है। अन्तर एक ही है कि वह जब चाहे तब अपने इस अहम् के आवरण को उतार सकता है, अपने से दूर कर सकता है। अपने आत्म तत्त्व की अनुभूति कर सकता है, परन्तु उसके लिए इस मनोदैहिक व्यक्तित्व का अनुशासित होना आवश्यक है। इतना सब होते हुए भी यदि वह आत्म

ज्ञान के मार्ग पर नहीं चलता और सांसारिक उपलब्धियों को ही अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य बनाये रखता है तो उसे मूर्ख की संज्ञा देना अनुचित न होगा। यह आध्यात्मिक आत्मघात ही है। उपनिषद् बार-बार यही कहते हैं कि 'हे मानव ! तू अपने सच्चे स्वरूप को पहचान, और उसी के अनुसार तू अपनी देह को कार्य में लगाकर आगे बढ़।' कठोपनिषद् (III. 14) में स्पष्ट कहा गया है। उसी का उद्घोष स्वामी विवेकानन्द ने इन शब्दों में किया था : उठो ! जागो ! और जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाये, रुको मत।

जो इस आह्वान की अवहेलना करते हैं, उनकी दशा का वर्णन ईशोपनिषद् के तीसरे मन्त्र में है। आध्यात्मिक अंधता होने पर हमारा जीवन इस प्रकार ढल जाता है, जहाँ हमें सच्चे स्वरूप, आत्मा, का लेशमात्र भी आभास नहीं मिलता। कदाचित् कुछ लोग हैं, जिन्हें अन्धकार में रहने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु अधिकांश लोग तो प्रकाश में रहना पसन्द करते हैं। उनमें जो प्रकाश पसन्द करते हैं, उनकी उपलब्धियों के विविध स्तर और अवस्था हैं। जीवन-भर निरी सांसारिकता तो शायद किसी में ही मिलेगी। बहुत लोग अपने जीवन में कभी न कभी वर्ड्सवर्थ के शब्दों में, 'अमृतत्त्व की सूचना पाते हैं।'

ऊष्ण मरु प्रदेश में गिरी हुई वर्षा की बूंदों के समान वह अनुभव चाहे क्षणिक ही हो। इसी प्रकार ज्ञान आता है और जाता है। थोड़ी देर के लिए बादल फट जाते हैं, और सूर्य चमक उठता है। किन्तु एक बार फिर बादल घिर आते हैं और दृश्य विलीन हो जाता है। इसी प्रकार हमारे दिन बीतते जाते हैं। किन्तु जीवन में ये सब अनुभव करके, अपने जीवन को गति और दिशा देकर, हम उस दैवी प्रकाश के क्षण अधिक बढ़ा सकते हैं, तब ही 'अमृतत्त्व की राह पर हम बढ़ सकेंगे।'

तभी तो आध्यात्मिक प्रगति का रहस्य है, अपने दिव्य स्वरूप, आत्मा, के बोध का अधिग्रहण। वह अधिग्रहण भी अपने जीवन के सब अनुभवों में होकर निरन्तर करना। यह बोध है जो सांसारिक व्यक्ति और आध्यात्मिक साधक का भेद बताता है। वचनामृत में श्री रामकृष्ण एक सच्चे साधक के और सांसारिक मनुष्यों के लक्षणों को गिनाते हैं। एक सजीव शब्द-चित्र में, श्री रामकृष्ण एक संसारी मनुष्य की मृत्यु का दृश्य वर्णन करते हैं। कुछ ही क्षण में एक वृद्ध मरने वाला है। उसके पुत्र और नाते-रिश्ते के लोग, चिन्तित होकर चारों ओर जमा हैं। बूढ़ा अपनी दृष्टि इधर-उधर डालता है। एक कोने में दो बत्ती वाला लैम्प जल रहा है उस पर उसकी दृष्टि पड़ती है। यह देखकर कि तेल अधिक जल रहा है, वह अपने बेटे से, क्षीण स्वर में, एक बत्ती बुझाकर, अनावश्यक तेल का खर्च बचाने के लिए कहता है। आजीवन वह धन से आसक्त रहा, और व्यय करने की कला कभी नहीं सीखी, कभी धन से अलग होना पसन्द नहीं किया। अब मौत दरवाजा खटखटा रही है, उसे सब धन छोड़कर जाना पड़ेगा, किन्तु यह बात उसके ध्यान में नहीं आती। उसका सांसारिक सम्मोह संकट काल में भी ईश्वर के या जीवन के उच्च मूल्यों को सोचने नहीं देता, वह केवल अपनी

गाढ़ी कमाई के धन की ही सोचता है, प्रज्ञा का उदय एक क्षण मात्र के लिए नहीं होता। इससे अधिक दयनीय बात और क्या हो सकती है ? जब हम दृश्य पर विचार करते हैं तो मन पूछता है—मानव क्या इसीलिए बना है ? मानव बुद्धि और सामर्थ्य की पहुँच की क्या यही सीमा है ? सोचकर ही दिल बैठ जाता है, यदि मनुष्य की यही सर्वोच्च उपलब्धि है, धिक्कार है मानव जाति को। किन्तु हमारा हृदय आश्वासन देता है कि स्थिति ऐसी नहीं है। वह जीवन, धन और मान से युक्त होते हुए भी पराजय का जीवन है। ऐसा मनुष्य पराजित इसलिए है कि वह जीवन की कला खोज नहीं पाया। जीने का आनन्द अनुभव नहीं कर पाया।

विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क होने से विषय-सुख मिलता है, किन्तु आनन्द आत्मा की आन्तरिक गहराइयों से बाहर निकलता है। आनन्द का शाश्वत स्रोत हृदय के अन्तर में है। उसकी अनुभूति जीवन की परिपूर्णता है, सार्थकता है, जो ज्ञान और अनुभव का फलित है—प्रज्ञा है। इसलिए कि इस प्रज्ञा को, तथा उसके अनुगामी शान्ति और आनन्द को, अपने जीवनों में अभिव्यक्त करना ही जीने की कला है। ईसा की लघु कथा—स्वर्ग के राज्य (ल्यूक, vxii. 20–21) सदृश्य प्रज्ञा, जीवन से दूर किसी स्थान विशेष में प्राप्त नहीं होती, बल्कि स्वयं जीवन में मिलती है। ईसा ने कहा था, 'देखो, ईश्वर का राज्य तुम्हारे अपने भीतर है।'

श्री रामकृष्ण ने जीवन में 'मथकर प्रज्ञा ऐसे निकालने को कहा है जैसे दूध मथकर मक्खन निकालते हैं। उन्होंने कहा यदि तुम दूध और पानी मिलाओ, तो उसे तुम बहुत प्रयास करके ही अलग कर सकोगे। किन्तु पहले दूध का मक्खन बना लो और मक्खन को पानी में रक्खो, वह मिलेगा नहीं।' यह जीने की तकनीक का ठीक वर्णन है। प्रज्ञा जीवन में से मथकर निकालनी चाहिए, तथा इस प्रज्ञा से सज्जित होकर हम संसार के साथ खूब मिल सकते हैं, किसी भी क्रिया-कलाप में भाग ले सकते हैं, तथा किसी भी स्थिति में, क्षीण हो जाने या खो जाने के भय बिना रह सकते हैं। यह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है, यह पूर्णता है। ईसा अनुरोध करते हैं (मैथ्यु, v.48) : 'इसलिए जैसे तुम्हारे पिता, जो स्वर्ग में हैं, पूर्ण हैं, तुम भी पूर्ण हो जाओ।' वेदान्त कहता है यह पूर्णता प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बालक का जन्मसिद्ध अधिकार है।

आत्मा का स्वरूप, जो मनुष्य की जन्मजात दिव्यता है, जिसका साक्षात्कार क्रमविकासी प्रक्रिया की चरम अवस्था निश्चित करता है, ईशोपनिषद् के अगले पाँच मन्त्रों का विषय है, जिसका हम अगले अध्याय में अध्ययन करेंगे।

चार

ईशोपनिषद् (क्रमशः)

ईशोपनिषद् का तीसरा मन्त्र, आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को, उस अन्धकार और दुःख से सतर्क करता है, जो जीवन को आत्मा के ज्ञान से विहीन रहकर व्यतीत करने का प्रयत्न करने पर अवश्यम्भावी है। अगले पाँच मन्त्रों में, उपनिषद् आत्मा के स्वरूप का वर्णन करता है, उस दिव्य अन्तरात्मा का, जो सबकी आत्मा है, तुममें और मुझमें है, और जो इस संसार में सबको आच्छादित किये है, यद्यपि उसको हम इन्द्रिय स्पर्श नहीं कर सकते हैं। चौथा तथा पाँचवा मन्त्र यह है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

'आत्मा एक है, वह अचल है, फिर भी उसकी गति मन से भी तीव्र है, इस तीव्र गति के कारण वह इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है। सदा स्थिर, वह भागते हुए सबसे आगे है। उसकी उपस्थिति मात्र से, ब्रह्माण्डीय ऊर्जा, प्राणियों की क्रियाओं का पोषण करने में समर्थ होती है।'

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

'वह चलता है, वह नहीं चलता। वह दूर है, अति निकट भी है। वह इस सबके भीतर है, सबके बाहर भी है।'

इस मन्त्र में, तथा आगामी तीन में, कितने गम्भीर विचार भरे हैं। जितना ही अनुभव गम्भीर होता है, उतना ही वह अवर्णनीय हो जाता है, भाषा काम नहीं देती, विचार भी हार जाते हैं। खाली संकेत और सुझाव शेष रह जाते हैं। इसलिए ये मन्त्र समझने कठिन हैं। ये पेचीदा हैं तथा विरोधाभासी भी। फिर भी इन्हीं में ये गहन विचार हैं, जिनसे अमृतत्त्व की सूचनाएँ मिलती हैं, जो सत्य की ओर हमारा मार्ग-दर्शन करती हैं।

मन्त्र कहता है, आत्मा एक है। यहाँ, तथा अन्य कई पदों में उपनिषद् घोषणा करते हैं कि मनुष्य और प्रकृति में परमतत्त्व एक ही है, दो नहीं। आत्मा अनन्त और अमर है, वह है जिसकी कोई सीमा नहीं। तो उसका वर्णन कैसे हो सकता है ? जिसका हम इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं, उसका विशेष संदर्भों में वर्णन हो सकता है। हम उसकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, भार, रंग आदि का संकेत कर सकते हैं। समस्त परिभाषा परिसीमन है, क्योंकि एक वस्तु की परिभाषा करके हम सीमा बाँधते हैं। यह कहने से कि एक वस्तु के अमुक-अमुक गुण हैं, यह भी संकेत मिलता है, कि उसमें अमुक-अमुक दूसरे गुण नहीं हैं। इसलिए एक असीम वस्तु की परिभाषा बिल्कुल नहीं हो सकती, क्योंकि हम नहीं कह सकते कि उसका अन्त होता कहाँ है और इस प्रकार दूसरी वस्तुओं से उसका अलग निर्धारण कैसे हो सकता है।

जिस किसी वस्तु का हम अनन्त होने का दावा करते हैं उसका स्वरूप यह है; किन्तु एक परिभाषा के अभाव में वह दुर्बोध है। आत्मा यदि अनन्त है, तो उसे समझें कैसे ? अनुभव में एक चीज़ है, जो आत्मा को समझने में हमारी सहायक हो सकती है, वह है आकाश का भाव; किन्तु जब हम आकाश की परिभाषा करने का प्रयत्न करते हैं तो भी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, उसमें विस्तार और महानता के तत्त्वों का समावेश है। किन्तु हम उसका स्थान निर्देश नहीं कर सकते। देखें तो, स्थान की धारणा का असली आधार आकाश ही है। आकाश यहाँ है, वहाँ भी है, भीतर है, बाहर भी है। वेदान्त की भाषा में, इसलिए आकाश को, अनन्त और निरपेक्ष ब्रह्म का, आत्मा का, निकटतम प्रतीक माना जाता है।

देश-काल सांतत्यक

गत शती में, वैज्ञानिक चिन्तन देशत्व की विषय-वस्तु का वर्णन करने में, 'ईथर' या आकाश शब्द प्रयोग करता था, तथा वह विधान में एक मुख्य प्रत्यय माना जाता था। किन्तु जब वैज्ञानिकों ने यह समझने की कोशिश की कि स्वयं 'ईथर' या आकाश क्या है, उनके सामने इतनी कठिनाइयाँ आयीं, किन्तु अन्त को उन्होंने उसे वैज्ञानिक शब्दावली से ही बहिष्कृत कर दिया। किन्तु बीसवीं शती में आकाश की धारणा नए बाने में विस्तृत अर्थ लेकर वापस आ गयी। दूर की क्रिया जैसी घटनाओं की व्याख्या करने के लिए उन्नीसवीं शती के विज्ञान ने, जिस अनिर्देश्य तत्त्व (आकाश) का आह्वान किया था, उसके स्थान में बीसवीं शती का विज्ञान आकाश को, अपने नए तत्त्व देशकाल-सांतत्यक के दो घटकों में से एक में घटा होता है, जिसका दूसरा घटक है काल। इस देश-काल सांतत्यक की नयी धारणा में, आधुनिक वैज्ञानिक विचार, वेदान्त के अनन्त अनिर्वचनीय अमर आत्मा के निकटतम आ गया है। आत्मा, अवश्य ही देश-काल सांतत्यक नहीं है, किन्तु यह वैज्ञानिक धारणा, आत्मा का निकटतम और सर्वोत्तम प्रतीक मानी जा सकती है। वास्तव में, वेदान्त के ऋषियों ने

आकाश की धारणा को, उसके असीम, नित्य शुद्ध और अविनाशी लक्षणों के कारण, ब्रह्म का सर्वोत्तम प्रतीक माना था।

मानव मन अनुभव के जगत की वस्तुओं और घटनाओं की, देश और काल के सन्दर्भ में व्याख्या करता है। किन्तु यथार्थ में देश और काल क्या है ? आधुनिक वैज्ञानिक विचार हमें बताता है कि देश और काल स्वयं कोई निरपेक्ष तत्त्व नहीं है, वे सापेक्ष धारणाएँ हैं, वे जोड़कर जब एक कर दी जाती हैं, और देश-काल बन जाती हैं, केवल तब बीसवीं शती के विज्ञान के लिए, उपयोगी धारणाएँ बनती हैं। सर जेम्स जीन्स कहते हैं :

> प्रकृति पृथक् रूप से, देश और काल के विषय में कुछ नहीं जानती क्योंकि वह सम्बन्धित है केवल चतुर्विमा सांतत्यक से, जिसमें देश और काल अविभाज्य रूप से जुड़े हैं। हमारे मानवी चश्मे उसका विभाजन देश और काल में करते हैं, और उनके बीच एक मिथ्या भेद पैदा करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे एक अबिन्दुक चश्मा, एक स्वस्थ मनुष्य की दृष्टि को खड़ा और पड़ा, दो क्षेत्रों में विभाजित कर देता है, और इन दिशाओं में एक मिथ्या भेद पैदा कर देता है। एक अबिन्दुक चश्मा चढ़ाए हुए हम यदि अपना माथा झुकाते हैं, तो जो दृश्य हमारे सम्मुख है उसे हम पुनर्व्यवस्थित होता देखेंगे जबकि हम जानते हैं कि दृश्य की वस्तुओं को कुछ नहीं हुआ। ये बाह्य चीजें वस्तुनिष्ठ हैं, चश्मे में होकर हमारा उनको देखना स्वनिष्ठ है।[1]

अपने अनुभव की किसी वस्तु या घटना की इस दृष्टि से परिभाषा करने का अर्थ है देश-काल सांतत्यक के सन्दर्भ में परिभाषा, जिसमें सब वस्तुएँ और सब सत्त्व बदल कर घटना हो गए हैं। विज्ञान की भाषा में आज, एक घटना देश-काल का ही संरूपण या विन्यास मात्र है। देश और काल, जो सच्ची वस्तुओं और सच्ची घटनाओं के निश्चय करने में पृथक् संकेत बिन्दु थे अब देश-काल रूप में एकमात्र तात्त्विकता रह जाते हैं, जो समस्त प्राणियों को, वस्तुओं को, और घटनाओं को अपने ही क्षणिक विन्यासों में बदल लेता है।

इस प्रकार, देश-काल की यह धारणा, हमारे उस तत्त्व के भाव के निकटतम आ जाती है, जो नित्य आध्यात्मिक अनन्त है, तथा सीमित सत्त्वों में और घटनाओं में है तथा उनके परे भी है। स्वयं देश-काल का वर्णन भी, आधुनिक विज्ञान बहुत कुछ उसी भाषा में करता है, जिसमें ईशोपनिषद् के ये मन्त्र आत्मा का वर्णन करते हैं। वह सबके भीतर है, सबके बाहर है। वह चल है। वह अचल है। वह एक है और अविभाज्य है, किन्तु इन्द्रिय अनुभव में ये घटनाएँ अविभाज्य नहीं मालूम पड़तीं।

मन से भी तीव्र

इन दो मन्त्रों में उपनिषदों का स्पष्ट घोष है कि आत्मा एक है और सर्वत्र

[1] सर जेम्स जीन्स, द न्यू बैकग्राउण्ड ऑव सायन्स, दूसरा संस्करण, 104।

है। वह अनेक के पीछे एक है, और अनेक का पोषण करता है। यह नहीं कि तुम्हारा आत्मा है, मेरा आत्मा है, और प्रत्येक व्यक्ति का एक पृथक् आत्मा है। हाँ, साधारण रूप से समझा यही जाता है, किन्तु उपनिषद् कहते हैं कि सूक्ष्म रूप से देखने पर यह बात ऐसी नहीं है। भगवान बुद्ध ने भी यही कहा था। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर, आत्माओं की पृथक्ता अन्ततोगत्वा कल्पना मात्र रह जाती है, और एक आत्मा प्रकाशित होता है। जब हम शरीर और इन्द्रियों को परिसीमितताओं में होकर देखते हैं तो वह एक आत्मा, बहुरूप में दिखाई देता है, अनन्त और सर्वव्यापी होने के कारण वह अचल है, किन्तु चलायमान मन और इन्द्रियों के साहचर्य के द्वारा वह चलता हुआ मालूम होता है (जैसा कि जीन्स कहता है, 'मानव चश्मे' के द्वारा देखने से चलता हुआ मालूम होता है)। वह तब मन से तीव्र है। 'वह अचल है और तब भी मन से तीव्रतर है।'

कदाचित् हममें से कुछ लोग, इस उक्ति को परस्पर विरोधी कहकर अस्वीकार करेंगे, यह कहना कि यह एक गतिहीन वस्तु है, और फिर भी मन से तीव्रतर है, बिल्कुल युक्तिहीन लगता है। किन्तु प्रकृति ऐसी है कि हम जितना उसकी गहराई में जाते हैं, ऐसी युक्ति-हीनताएँ अधिकाधिक प्रकाश में आती हैं। तर्क सत्य की गहराइयों को समझने के लिए वास्तव में एक अपूर्ण उपकरण है। तर्क दो और दो साथ रख सकता है, लेकिन पहले दो और दो लाना तो पड़ेगा। पहले तथ्य, फिर तर्क और यदि तथ्य तर्क में ठीक नहीं बैठता तो तर्क त्यागा जाएगा। तर्क का सहारा एक सीमा तक ही लिया जा सकता है। जहाँ तक इन्द्रिय-अनुभव-तथ्यों का प्रश्न है तर्कपरता से कार्य चल जाता है। परन्तु उसके आगे अनुभव के गहरे स्तरों पर तर्क से कार्य नहीं चलता। भौतिक जगत् के विद्युदणुओं (इलेक्ट्रोन) और प्रोटॉनों के स्तर पर भी, तर्क का सहारा नहीं लिया जा सकता। कोई आश्चर्य नहीं कि मन और आत्मा के स्तर पर तर्कपरता अधिकांशतः अनुपयुक्त हो जाती है।

इस विचार को, इस मन्त्र ने, सुन्दर ढंग से, यह कहकर व्यक्त किया है कि न इन्द्रियाँ और न मन ही आत्मा को पकड़ सकते हैं, क्योंकि वह दोनों से तीव्रतर है। यहाँ हम एक ऐसे गहरे विरोधाभास के सामने हैं, जिसका परिचय आज हमसे अणु-भौतिकी करा रही है। अणुभौतिकी में एक विद्युदणु का वर्णन एक कण और एक तरंग कहकर किया गया है। आत्मा अचल और सदा स्थिर है, फिर भी सब दौड़ने वाले, उसके पीछे रह जाते हैं। यह भाषा हमें 'एलिस इन वण्डरलैण्ड' की याद दिलाती है। एलिस और रानी एक दूसरे का हाथ पकड़े भाग रही थीं, और तेज, और तेज भागती जा रही थीं, इतनी तेज कि हवा में तैरती दिखाई दे रही थीं। फिर जब वे रुकीं, साँस फूला हुआ था, एलिस को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे दोनों अभी तक वहाँ ही हैं, जहाँ से वे चली थीं। किन्तु लाल रानी की व्याख्या थी—'देखो ! यहाँ एक स्थान पर टिके रहने के लिए यथाशक्ति दौड़ते रहना पड़ता है।'

इसलिए आत्मा की गति मन से तेज है, फिर भी अचल और अटल है। इन्द्रियाँ तेज भागती हैं, फिर भी उसे पकड़ नहीं सकतीं। इन्द्रियाँ, जैसा कि हम अब

जानते हैं तन्त्रिका आवेग द्वारा चालित हैं। भौतिक जगत में प्रकाश की तीव्रतम गति मानी जाती है। सापेक्षता सिद्धान्त, भौतिक जगत में, प्रकाश की चाल को अन्तिम सीमा मानता है, फिर भी मन या विचार प्रकाश से तीव्रतर है। इन्द्रियाँ भी बहुत तेज चलने वाली मानी जाती हैं। जब शरीर का कोई भाग जैसे कि टाँग, किसी बाह्य वस्तु से स्पर्श करती है, स्पर्श स्थान से मस्तिष्क को एक आवेग प्रेषित होता है। स्पर्श के क्षण और छह फुट दूर मस्तिष्क में सूचना मिलने के क्षण के बीच लगभग ·01 सेकण्ड का काल विलम्ब रहता है। किन्तु यह चाल बहुत तेज नहीं है, एक जेट वायु यान से धीमी है। किन्तु विचार एक बल है जो तन्त्रिका आवेग से सूक्ष्मतर है, प्रकाश से भी सूक्ष्मतर, तथा दोनों से तीव्रतर। किन्तु आत्मा की चाल इन्द्रियों से, प्रकाश से, तथा मन से भी तीव्रतर है। भौतिक विज्ञान के देश-काल सांतत्यक के समान, जिसमें समस्त गति-मन्द या तीव्रविन्यास मात्र हैं, आत्मा विश्व की समग्र शक्तियों की सर्वव्यापी तथा अनन्त पृष्ठभूमि है। शुद्ध सत्त्व और शुद्ध चित् रूप में आत्मा, सकारी और नकारी मन से भी आगे भागने वाला है। शंकराचार्य इस मन्त्र की प्रबोधक व्याख्या में कहते हैं :

तस्मिन् मनसि ब्रह्मलोकादीन् द्रुतं गच्छति सति, प्रथमप्राप्त इव आत्मचैतन्याभासो ग्रह्यते, अतो मनसो जवीय इत्याह।

मन जब ब्रह्म लोक, जैसे दूरतम लोकों की ओर तेजी से चलता है, तो वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा को वहाँ पहले से ही उपस्थित पाता है, इसलिए कहा जाता है कि वह मन से तीव्रतर है।

तत् त्वम् असि

छान्दोग्य उपनिषद् (VI.8.7 से VI.16.3) में गुरु शिष्य से बारम्बार कहते हैं कि समस्त विश्व आत्मा में केन्द्रित है :

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं,
तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।

संसार की समस्त वस्तुओं का सूक्ष्म तत्त्व यह आत्मा है, वह सत्य है, वह आत्मा है, और तू वह है, श्वेतकेतु।

ईशोपनिषद् के चौथे और पाँचवें मन्त्र भी यही सन्देश देते हैं। ब्रह्माण्ड की समस्त क्रियाएँ इसी आत्मा में संपोषित हैं। ब्रह्माण्डीय ऊर्जा, जिसमें प्रकृति की सब शक्तियाँ एकत्रित हैं, आत्मा का ही अपने भीतर एक अति सूक्ष्म विलास मात्र है। प्रकृति में यह एक समष्टीय स्थिरांक है, जो उसकी सब गतियों और प्रक्रियाओं पर नियन्त्रण करता है। बार-बार कठोपनिषद् (II.2.8) आत्मा के बारे में कहता है :

तदु नात्येति कश्चन। एतद् वै तत्।

यह वह है, जिसके परे कोई नहीं जा सकता।

उपनिषद् कहते हैं, निरपेक्षसत्, निरपेक्षचित् भी है, ब्रह्म, आत्मा है।

मनुष्य का अध्ययन करते हुए, उपनिषद् के ऋषियों ने पाया कि हम उसकी गहराई में जितना जाते हैं, परिसीमित मनुष्य, अधिकाधिक सूक्ष्म होता जाता है, अन्त को एक लोकातीत और अनन्त तत्त्व उसके सच्चे आत्मा रूप में प्रकाशित होता है। हममें से प्रत्येक, बाह्य जगत् के लिए—परिसीमित व्यक्ति है, किन्तु उस परिसीमित मनुष्य के पीछे एक अनन्त और नित्य मनुष्य है। ज्ञात मनुष्य के पीछे है 'अज्ञात मनुष्य' और यह 'अज्ञात मनुष्य' एकवचन है, जबकि 'ज्ञात मनुष्य' बहुवचन है, तथा मनुष्य सार रूप से वह एकवचनीय तत्त्व है। एक महान् शिला-खण्ड समुद्री सतह से बाहर निकला होता है, और हम उसकी बहिर्विष्ट नोक भर देखते हैं, किन्तु शिलाखण्ड स्वयं एक महान् आकार है, जो समुद्र की ठीक तलहटी तक पहुँचता है। इसी प्रकार मनुष्य भी है, हममें से प्रत्येक, एक परिसीमित प्रस्तुति है, किन्तु है गहराई में अपरिमित। 'तत् त्वम् असि'—वह तू है; यह कहकर यही बात उपनिषद् की इस ओजस्वी भाषा में, प्रकट की गई है। उपनिषद् मनुष्य से कहते हैं, कि वह परिसीमित नहीं है, कि वह परिसीमित कटा-छँटा रूप जो अपने को समझता है, वह नहीं है। वह परिसीमित इसलिए मालूम होता है, कि या तो वह स्वयं अपने को, या दूसरे उसे, देह और इन्द्रियों की परिसीमितताओं द्वारा देखते हैं। किन्तु अपने मूल स्वरूप में वह शुद्ध सत् शुद्ध चित् और आनन्द है, सत्-चित्-आनन्द और इसलिए वह सबके साथ एक है। शुद्ध चैतन्य का विभाजन नहीं हो सकता, शरीर और मन के प्रकट करने वाले माध्यमों से वह विभक्त जैसा दिखाई देता है। किन्तु जैसा मन्त्र कहता है, वह सदा एक और अचल है—'अनेजत् एकम्'।

महान् भौतिकी-विशारद इर्विन श्रोडिंगर कहता है :

> चित् का अनुभव, बहुवचन में कभी नहीं होता, केवल एकवचन में होता है; चित् एक ऐसा एकवचन है, जिसका बहुवचन अज्ञात है; वस्तु केवल एक है तथा जो बहुत्व दिखाई देता है, वह केवल (भारतीय माया) से उत्पन्न इसी एक वस्तु के विभिन्न पहलुओं का क्रम मात्र है।[1]

अन्तःभेदन

ईशोपनिषद् का पाँचवाँ मन्त्र, इस विचार का विस्तार करता है, 'वह चलता है, और नहीं चलता। वह दूर है, और वह निकट है। वह इस सबके भीतर है, और वह सबके बाहर भी है।' यह मन्त्र बताता है कि आत्मा, जब विकारी दृश्यमान विश्व के पहलुओं में होकर देखा जाता है, तो उसे चलता हुआ कह सकते हैं, किन्तु अपने सच्चे स्वरूप में वह बिल्कुल नहीं चलता। आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन में, ऊर्जा के दो रूप माने जाते हैं—बोतल बन्द (बद्ध) ऊर्जा, निर्मुक्त ऊर्जा; जो गति हम जानते हैं वह निर्मुक्त ऊर्जा ही है। श्री रामकृष्ण तत्त्व के इन दो पहलुओं का अक्सर

[1] इर्विन श्रोडिंगर, व्हॉट इज लाइफ ?, एपिलॉग, 90–91।

उल्लेख किया करते थे। एक पहलू ब्रह्म है, जो निरपेक्ष और अनन्त, अचल और (इसीलिए) अव्यक्त है। दूसरा पहलू है शक्ति, दिव्य ऊर्जा, अनन्त की सृजन शक्ति, जो कम्पन या गति में व्यक्त होती है। श्री रामकृष्ण ने सर्प की उपमा दी है। ब्रह्म एक कुण्डलीबद्ध सर्प है, अचल; शक्ति वही सर्प चल अवस्था में है, उसकी विनिर्मुक्त ऊर्जा। इस प्रकार ब्रह्म और शक्ति, ईश्वर और विश्व, एक-दूसरे से पृथक् दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं, बल्कि एक और उसी चीज के दो पहलू एक ही तत्त्व को दो भिन्न दृष्टिकोणों से देखा हुआ। इसलिए इस तथ्य की व्याख्या करने के प्रयत्न में यह उपनिषद् एक अत्यन्त विरोधाभासी भाषा की शरण लेता है, जब वह यह कहता है कि 'वह दूर है वह निकट है, वह इस सबके भीतर है, इस सबके बाहर भी है।'

बीसवीं सदी में जैसा देखा जा रहा है, अब विज्ञान में भी ऐसी विरोधाभासी भाषा का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। उन्नीसवीं शती के अन्त तक विज्ञान, ऐसे तत्त्वों की बात करता था जो परिसीमित थे, और जो अपने मुख्य और गौण गुणों के सन्दर्भ में स्पष्ट निर्धारित हो सकते थे। किन्तु बीसवीं शती में, विज्ञान ने अपनी इस सीमा को तोड़ दिया है, और जो निष्कर्ष निकले हैं, वे साधारण अनुभव से इतनी दूर हैं कि विज्ञान की अतिपरिमार्जित भाषा भी, अब उसको उस रूप में व्यक्त नहीं कर सकती। उदाहरणस्वरूप, प्रकाश के विद्युदणु या फोटॉन के स्वरूप का वर्णन करने के प्रयत्न में, बीसवीं शती के वैज्ञानिक अपने को ऐसी भाषा में ही व्यक्त करते हैं, जो विसंगतियों से भरी है। एक फोटॉन, जो प्रकाश की अल्पतम इकाई है, कभी कण के समान, तो कभी तरंग के समान व्यवहार करता है। तो वह क्या है—एक कण है या तरंग? दोनों में से कोई शब्द उसका पर्याप्त वर्णन नहीं कर सकता, इसलिए एक नया नाम घड़ना पड़ा। यह तरंगकण कहलाया।

इस बात का यह एक उदाहरण है कि जब विज्ञान प्रकृति की गहराई में जाकर अनुभव के स्तरों पर पहुँचता है, जहाँ चालू संज्ञाएँ और परिभाषाएँ निकम्मी हो जाती हैं, तो क्या होता है? त्रिविमात्मक जगत का तर्क चतुर्थ विमा में व्यक्त किया जाने लगता है, या जैसा कि वेदान्त कहता है, जाग्रतावस्था का तर्क स्वरूपावस्था में पहुँचने लगता है। नाभिकीय क्षेत्र में, विज्ञान घटना के गहरे स्तरों को छू चुका है, तथा ये बातें, तार्किक भाषा में, असन्दिग्ध यान्त्रिक रूप से वर्णित नहीं हो सकतीं। सर जेम्स जीन्स की भाषा में :

> उन्नीसवीं शती के अन्त में प्राचीन दर्शन निकम्मा हो गया, और बीसवीं शती का भौतिकशास्त्री अपने लिए एक नवीन दर्शन घड़ रहा है। उसका सारांश यह है कि वह प्रकृति को अब अपने से बिल्कुल भिन्न नहीं देखता। कभी-कभी वह वह है, जो वह स्वयं रचता है, चयन करता है या पृथक् करता है, और कभी वह वह है, जिसका वह विनाश करता है।
>
> ····प्रकृति को हम केवल अपने ही बनाये बादलों से धुँधलाए (रूप में) देख सकते हैं।····इस प्रकार बीसवीं शती के विज्ञान का इतिहास नितान्त मानवी

दृष्टिकोण से मुक्त और दूर हो गया है।....
जो भौतिकशास्त्री अपने मानवी दृष्टिकोण को छोड़ सकता है, और उस विचित्र नई रोशनी को देखता है, वह अपने को एक अपरिचित जगत में रहता हुआ महसूस करता है। यह ऐसा जगत है, जिसको पहचानने में उसके निकट-तम पूर्वज भी विफल हो जायेंगे।[1]

ठीक यही होता है, जब हम मनुष्य के स्वरूप की खोज करते हैं। मनुष्य क्या है? क्या वह परिभाष्य सत्त्व है? जब हम किसी व्यक्ति का वर्णन करते हैं, हम कहते हैं कि वह स्त्री है या पुरुष है, उसकी आयु, वजन, रंग, उसकी शिक्षा-योग्यता, उसके क्रिया-कलाप, उसकी राष्ट्रीयता, आदि बताते हैं। इस प्रकार हम एक व्यक्ति के यथा-शक्य ब्यौरों को देकर उसका वर्णन करते हैं, फिर भी यह प्रश्न सामने है, क्या वह इतना ही है? क्या इनमें से किसी एक वर्णन से या सबको मिलाकर भी वह निःशेष हो गया? कुछ है, हमारे हृदय में, जो कहता है, अभी नहीं। उसका अभी कुछ है जो रह गया। परिभाष्य पहलू पर ही केवल विचार हुआ है, अभी अपरिभाष्य भाग अछूता है, जो उसके सत्त्व का रहस्यमय और गम्भीर गहरा भाग है। विमा में वह अनन्त है। यह अनन्त मानव, जिसे अलेक्सिस केरॅल 'अज्ञात मानव' कहते हैं; परिसीमित मानव, 'ज्ञात-मानव' के गहन अध्ययन द्वारा प्रकट होता है।

उपनिषद् सर्वश्रेष्ठ साहित्य है, जो अनुभव के इस गहनतम स्तर का विचार करते हैं। उनका विषय है, मनुष्य का अनन्त, प्रकृति का अनन्त, तथा दोनों की एकात्मता। 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ; 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'—यह सारा विश्व ब्रह्म ही है। मनुष्य को, उसके इस रहस्य को उद्‌घाटन करने के प्रयत्न में, तथा अपने अनन्त का बोध प्राप्त करने में सहायता देना, उपनिषदों का परम ध्येय है। उपनिषदों के मन्त्रों द्वारा मनुष्य उस प्रज्ञा से परिचित होता है, जो उसके जीवन की तुच्छताओं और क्षुद्रताओं से, उसे ऊपर तथा उसके दैनिक जीवन के नीरस कार्यक्रम के अधिष्ठाता, परिमित अहं से, ऊपर उठाता है, हमारे एक नगर की अन्धेरी तथा संकरी गली के रहने वाले को, जैसा एक जेट वायुयान में आकाश के अनन्त विस्तार में अबाध यात्रा की स्वतन्त्रता और आनन्द मिलता है, वैसे ही उपनिषदों द्वारा परिसीमित मनुष्य भी है, जिसको उसके विषय-बद्ध जीवन से, उसके सत्त्व की, अनन्तता की, सच्ची स्वतन्त्रता और आनन्द में उठा दिया गया है।

ठीक इस स्थान पर, जैसा कि अगले दो मन्त्रों, छह और सात, में वर्णित है, ईशोपनिषद्, हमें मानव बुद्धि के उच्चतम शिखर पर उठा देता है:

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

वह प्रज्ञावान जो सब प्राणियों को अपने में ही देखता है तथा सब प्राणियों में अपनी ही आत्मा देखता है, इस दर्शन के कारण किसी से घृणा नहीं करता।

[1] सर जेम्स जीन्स, उपर्युक्त, 2–6।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

उस ज्ञानी को कौनसा मोह, कौनसा शोक हो सकता है, जो प्राणियों को अपनी आत्मा का स्वरूप जानकर, सब प्राणिग्रों के एकत्व का साक्षात्कार करता है।

जब उपनिषद् साधक को इस विचार के परिणाम के सम्मुख करता है कि अनन्त आत्मा उसका सच्चा स्वरूप है, प्रत्येक पुरुष और स्त्री का सच्चा स्वरूप है। जो मनुष्य स्वयं को आत्मा अनुभव करता है, वह यह भी अनुभव करता है कि वह सब प्राणियों के साथ एक है, कि उससे पृथक् कोई नहीं। तो कौन किस से घृणा करेगा? वह, ज्ञाता, आत्मा सबके साथ एक है; इस दृष्टि की, जीवन में अभिव्यक्ति, केवल विश्वप्रेम और मुक्त सेवा में है; प्रेम एक्य में बाँधने वाली शक्ति है, जबकि घृणा उत्पन्न होती है, पृथक् भाव से। आधुनिक तथा प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनुसार, यह साक्षात्कार, मानव श्रेष्ठता का सर्वोच्च बिन्दु माना जाता है। ये दो मन्त्र सर्वोच्च आध्यात्मिकता का संदेश देते हैं; यही सर्वोच्च दर्शन है और यही चरित्र की सर्वोच्च कसौटी है। भारत के समस्त महापुरुषों ने इन दो मन्त्रों का पूर्ण हृदय से अनुमोदन किया है। हमारे देश के सन्त और ऋषि, विद्वान् और भक्त, इस आध्यात्मिक उपलब्धि को सर्वोच्च स्थान देते हैं। इस अनुभूति द्वारा मनुष्य सब मनुष्यों के साथ अपनी मूलभूत एकता अनुभव करता है, और इसके द्वारा ही वह अपने जीवन की पूर्णता तक पहुँचता है।

'ततो न विजुगुप्सते'—इसके कारण वह घृणा नहीं करता। 'विजुगुप्सा' का अर्थ घृणा है, इसका अर्थ संकीर्णता और गोपन भाव भी है। संकीर्णता, गोपनीयता तथा घृणा सब पृथकत्व भाव से उत्पन्न होते हैं। पृथकत्व भाव, कई प्रकार की स्वार्थी इच्छाओं को जन्म देता है, दूसरों से अपने विचार और सम्पत्ति गुप्त रखने की इच्छा किसी पर अधिकार करने या शोषण करने की इच्छा, इत्यादि। किन्तु जब वह पृथकता का भाव जाता रहता है तो उससे प्रत्युत्पन्न ऐसे भाव भी जाते रहते हैं। उनके स्थान पर दूसरे प्राणियों के प्रति व्यापक मैत्री और कल्याण भावना आ जाती है तथा अपने भीतर ऐश्वर्य और शान्ति आ जाती है। इसीलिए सातवाँ मन्त्र इस प्रश्न के साथ समाप्त होता है :

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।

उस मनीषी को जो एकत्व अनुभव करता है, कौनसा मोह कौनसा शोक हो सकता है।

भिन्न दृष्टि की भूल और उसका सुधार

इस सीमित देह और मन के साथ तादात्म्य करने के फलस्वरूप हमें दुःख और मोह मिलते हैं। इस प्रकार अपने व्यक्तित्व के अनात्म पहलू के साथ तादात्म्य करने पर हम अपने को निर्बल, असहाय, सीमित, दूसरों से विच्छिन्न अनुभव करते हैं, तथा उस निर्बल अवस्था में हम अनेक प्रकार की भूल करते हैं, सब प्रकार के तनाव

और दुःख अनुभव करते हैं और सब प्रकार के पाप करते हैं। ये सब पृथकत्व के भ्रम के प्रत्यक्ष परिणाम हैं। समस्त सदाचार, नैतिकता और आध्यात्मिकता बताते हैं कि हम सब एक हैं, मौलिक रूप से एक। ईसा कहते हैं, 'अपने पड़ौसी से अपना जैसा प्यार करो।' उपनिषद् इतना और जोड़ते हैं 'क्योंकि तुम ही अपने पड़ौसी हो।' तत्त्व दर्शन ही है, जो हमारे लिए प्रमाणित करता है कि भिन्नत्व का भाव सत्य भाव नहीं है, वह हमको एकता का ज्ञान देता है, तथा इस ज्ञान के साथ सदाचार और नैतिकता आते हैं, तथा हम प्रत्येक स्त्री व पुरुष व समस्त प्रकृति के साथ अपना सच्चा नाता जान जाते हैं। श्री रामकृष्ण कहते हैं, ज्ञान एकता की ओर ले जाता है, और अज्ञान भिन्नता की ओर। इसलिए आध्यात्मिक ज्ञान का उद्देश्य है, भिन्नत्व के भेद का नाश, अज्ञान के 'मूल पाप' का नाश जो हमें जीवन की मुख्य धारा से अलग कर देता है। एक नदी जो अपनी मुख्य धारा से अलग हो जाती है, अवश्य गतिरुद्ध हो जायगी, तथा जीवन की मुख्य धारा से कटा मनुष्य भी गतिरुद्ध और भ्रष्ट हो जाता है तथा वह भूल, दुःख और भ्रम में गिरता है। सातवाँ मन्त्र उसकी महिमा का गान करता है, जिसने एकत्व अनुभव करके भूल, दुःख और भ्रम को जीत लिया है :

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः

'जिस ज्ञानी ने सब प्राणियों को अपनी आत्मा में ही अनुभव कर लिया'—इस समता भाव को अनुभव करने की सामर्थ्य, नागरिक रूप से सामाजिक बोध में अनुशासन द्वारा, और आध्यात्मिक साधक रूप से अन्तर्मुखी भाव से अनुशासन द्वारा मानव मन को प्राप्त होती है। यह समग्र अनुशासन, वेदान्त के अनुसार धर्म है। 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'—ब्रह्म दोषरहित और सब में समान है, ऐसा गीता (V.19) में कहा गया है। इस साम्य भाव की प्राप्ति को गीता में मानव-जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि की संज्ञा देकर उसका गुणगान किया गया है। उपनिषदों के अनुसार ज्ञानी इस मौलिक एकता के बोध में निरन्तर जीता है, और इसलिए वह भिन्नत्व के भ्रम से मुक्त होने के कारण किसी से घृणा नहीं कर सकता।

समस्त औपनिषदिक साहित्य में, वास्तव में भारत के समस्त आध्यात्मिक साहित्य में, भिन्नत्व भाव की यह निन्दा मिलती है; समस्त सृष्टि के साथ मनुष्य की आध्यात्मिक नातेदारी के भाव पर बार-बार जोर दिया गया है। यह मौलिक एकता, यह अभिन्नता, आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन का भी विषय है। विज्ञान का सबसे बड़ा आविष्कार भौतिकी और जैविकी में भी यह है, प्रकृति की वस्तुओं तथा बलों की एकता का, तथा मनुष्य और प्रकृति की एकता का भाव। भौतिकी पार्थिव व खगोलिक घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का आविष्कार करती है। जैविकी जीव संरचनाओं के बीच, और जीवों तथा इनके प्राकृतिक परिसरों के बीच, शृंखलाबद्धता स्थापित करती है। एक जीव संरचना दूसरी के साथ एक जैव-सांतत्यक में शृंखलाबद्ध है। जहाँ तलदृष्टि भिन्नता देखती है, गहरी वैज्ञानिक दृष्टि शृंखलाबद्धता देखती है।

जैविकी में, सिद्धान्त रूप से आरम्भ होकर, क्रम विकासवाद, आज, ब्रह्माण्डीय हो गया है, तथा समस्त विज्ञान की महान् योजना प्रस्तुत करता है। लिंकन बारनेट कहते हैं :

> सदियों से, आविष्कार, सिद्धान्त शोध, और युक्ति के विभिन्न प्रवाह, मिलते और आगे बढ़ते रहे हैं। पहली बड़ी प्रगति थी जगत के बहुविध पदार्थों को 92 भौतिक तत्त्वों में घटाना। फिर ये तत्त्व कुछ मूलभूत कणों में घटा दिए गए। साथ ही साथ जगत की विभिन्न 'शक्तियाँ', एक-एक करके विद्युत चुम्बकीय शक्ति की विविध अभिव्यक्तियाँ मानी जाने लगीं, तथा ब्रह्माण्ड के विकिरण के सब विभिन्न प्रकार, प्रकाश, ताप, क्ष-किरण, रेडियो तरंग, गामाकिरणें, भी बदलती हुई तरंग दैर्घ्य और आवृत्ति की विद्युत-चुम्बकीय तरंगों से अधिक कुछ नहीं मानी गयीं। अन्त को, विश्व के रूप, कुछ मौलिक मात्राओं में अर्थात् देश, काल, द्रव्य, ऊर्जा तथा गुरुत्वाकर्षण रूप में आसवित हो गए। किन्तु विशिष्ट सापेक्षता सिद्धान्त में, आइंस्टीन ने द्रव्य और ऊर्जा का तुल्य राशित्व प्रमाणित किया, और व्यापक सापेक्षता सिद्धान्त में देश-काल सान्तत्यक की अविभाज्यता दिखाई और चरमोत्कर्षित कर दिया है। क्योंकि उसके इस प्रतापशाली परिप्रेक्ष्य में समस्त ब्रह्माण्ड एक तात्त्विक क्षेत्र रूप में प्रकट होता है, जिसमें प्रत्येक तारा, प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक घुमन्तु पुच्छलतारा, और मन्दगामी तारामण्डली और उड़ता हुआ विद्युत कण आधारभूत देश-काल एकत्व में, एक उर्मिका या सूजन मात्र ही दिखाई पड़ता है और इस प्रकार प्रकृति की सतही जटिलता का स्थान एक गम्भीर सरलता ले लेती है। गुरुत्वाकर्षण, बल और विद्युत चुम्बकीय बल के, द्रव्य और ऊर्जा के, विद्युत आदेश और क्षेत्र के, देश और काल के आपस के प्रभेद, उनके नवीन आविष्कृत सम्बन्धों के आलोक में, फीके पड़ गये हैं। विघटित होकर ये जाते हैं चतुर्विमात्मक सांतत्यक के विन्यासों में, जो यह ब्रह्माण्ड है। इस प्रकार मनुष्य की समस्त विश्व-सम्बन्धी प्रतीतियाँ और तत्त्व का समस्त अमूर्त अन्तर्बोध अन्त में एक रूप में विलीन हो जाते हैं। यही तो वह आधारभूत एकता तत्त्व है जो ब्रह्माण्ड के पीछे है।[1]

आज विज्ञान का प्रत्येक विभाग, अनगिनत रीतियों द्वारा ब्रह्माण्डीय एकता को मानव के सामने लाने में लगा है। उपनिषदों ने, इस मौलिक एकता को, मन के अध्ययन द्वारा, और अन्तर में ध्यान द्वारा पाया था। आधुनिक विज्ञान ने आरम्भ तो बाह्य प्रकृति के रहस्यों की खोज से किया था, किन्तु आज वह उस छोर पर जा पहुँचा है जहाँ मानव मन का रहस्य उसके सामने है। यहाँ हम प्राचीन वेदान्त और आधुनिक विज्ञान, इन दो महत्तम मानव साधनाओं के सुस्थिर संगम को देख सकते हैं। वेदान्त का यह दृढ़ विश्वास रहा है कि भिन्नता में एकता प्रकृति की योजना है, तथा मनुष्य इस एकता के पास बाहर से भी और भीतर से भी पहुँच

[1] लिंकन बारनेट, द यूनिवर्स एण्ड डाक्टर आइंस्टीन, मेंटर एडिशन, 120–22।

सकता है। बीसवीं सदी की भौतिकी या जैविकी के दृष्टिकोण से, स्वयं मनुष्य ही प्रकृति का सबसे बड़ा रहस्य बनकर उभरता है। बारनेट के शब्दों में :

> वैज्ञानिक विचार के विकास में एक तथ्य बिल्कुल स्पष्ट है—भौतिक जगत का कोई रहस्य नहीं जो अपने परे किसी दूसरे एक रहस्य की ओर संकेत न करता हो। बुद्धि प्रतिभा के सब राजमार्ग सिद्धान्त तथा कल्पनाओं के सब उपमार्ग, अन्त को एक ऐसे गर्त पर पहुँचाते हैं, जिसको पाटना मानवपटुता के द्वारा नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्य अपने सत्त्व की स्थिति से, अपनी परि-सीमितता से, और प्रकृति से उलझा होने से, स्वयं जकड़ा हुआ है। अपने दिगन्तों का जितना अधिक विस्तार करता है, उतना स्पष्ट ही वह भौतिक-विज्ञानी नील्स बोटर के इस कथन को समझता है कि 'हम दुनिया के महान् नाटक में दर्शक और अभिनेता दोनों ही हैं।' इस तरह मनुष्य स्वयं अपना सबसे बड़ा रहस्य है। वह जिस विशाल गुप्त ब्रह्माण्ड में डाल दिया गया, उसको वह इस कारण नहीं समझता कि वह अपने आपको नहीं समझता।[1]

प्रकृति के विज्ञानों का अध्ययन, अवश्य ही मनुष्य के विज्ञान के अध्ययन की ओर ले जाता है। मनुष्य में, प्रकृति ने, करोड़ों वर्षों के अन्ध क्रम-विकास के बाद स्वबोध और स्वतन्त्रता पायी है। मनुष्य में बोध के इस केन्द्र का अध्ययन आज गम्भीर वैज्ञानिक चिन्तन को आकृष्ट करने लगा है। एडिंग्टन कहते हैं :

> आज हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि हम ज्ञान की प्रकृति से परिचित हों तो ज्ञान का अर्जन हमारे लिए सरल हो जायेगा।[2]

प्रिंस लुइ द ब्रोगली यान्त्रिकी के विश्व-विख्यात विद्वान् हैं। उन्होंने अपने एक लेख में ब्लेज़ पास्कल का यह उद्धरण दिया है :

> देश की दृष्टि से जब मैं सोचता हूँ तो इतने विशाल ब्रह्माण्ड में मैं एक क्षुद्र बिन्दु नजर आता हूँ। परन्तु जब मैं विचार की दुनिया में होता हूँ तो सारा विश्व मुझ में समा जाता है।

इसकी व्याख्या करते हुए 'पोयट्री ऑव सायन्स' शीर्षक लेख में वे कहते हैं :

> उस भव्य श्लेष में सौन्दर्य, शुद्ध विज्ञान का काव्य, तथा उसका उच्च बौद्धिक मूल्य निहित है।

अपनी पुस्तक 'स्पेस, टाईम एण्ड ग्रेविटेशन' का समापन करते हुए, एडिंगटन प्रकृति के रहस्य के अध्ययन से मनुष्य के रहस्य के उभरने के विषय में लिखते हैं :

> सापेक्षता सिद्धान्त ने भौतिकी की सारी विषयवस्तु का पुनरवलोकन कर लिया है। उसने उन बड़े नियमों का एकीकरण कर लिया है, जिनसे अपने सूत्रीकरण की असंदिग्धता और उनके प्रयोग की यथातथ्यता द्वारा मानवज्ञान में उस सम्मानित स्थान को पा लिया है जो आज भौतिक विज्ञान का है। और फिर

[1] वही, 126–27।

[2] एडिंग्टन, द फिलॉसफी ऑव फिजिकल सायन्स, 5।

भी वस्तुओं के स्वरूप के सम्बन्ध में, यह ज्ञान केवल खोखली सीपी है—प्रतीकों का एक रूप। वह ढांचे का ज्ञान है, अन्तर की वस्तु का नहीं। भौतिक जगत में अवश्य ही सर्वत्र वह अज्ञात विषय-वस्तु ओतप्रोत है, जो हमारी चेतना का उपादान है। यहाँ हमें भौतिकी के जगत की गहराई के पहलुओं के संकेत मिलते हैं। किन्तु जो भौतिकी की प्रक्रियाओं द्वारा अप्राप्य है। इसके अतिरिक्त हमने यह भी मालूम किया है, कि जहाँ विज्ञान ने अधिकतम प्रगति की है, मन ने केवल उसे ही पुनः प्राप्त किया है, जो उसने प्रकृति को दिया था। अज्ञात कूल पर हमने अपरिचित पदचिह्न पाए हैं। हमने उसकी उत्पत्ति का कारण जानने के लिए एक के बाद एक, अनेक गम्भीर सिद्धान्त बनाये। अन्त को हम उस प्राणी का पुनर्सृजन करने में सफल हुए, जिसने यह पदचिह्न छोड़ा था। और आश्चर्य है, यह (पदचिह्न) तो हमारा ही है।

वेदान्त के अनुसार मनुष्य के रहस्य के अध्ययन में, एक वैज्ञानिक अध्ययन के सब गुण हैं जिसमें सत्यापनीयता का महत्त्वपूर्ण गुण भी शामिल है। वह सुव्यवस्थित तथा सम्यक् भी है, जो जिज्ञासु को व्यक्तित्व के बाहरी छिलकों या कोशों में होकर, मनुष्य के शाश्वत अन्तरतम आत्मा तक जो विश्व का भी अन्तरतम ब्रह्म है, पहुँचाता है। 'ब्रह्मज्ञान सर्वात्मभाव है'—अर्थात् आत्मा का सबके आत्मा रूप में साक्षात्कार। मनुष्य के लिए शक्ति का परम स्रोत है : 'आत्मना विन्दते वीर्यम्'—आत्मज्ञान द्वारा मनुष्य ऊर्जा प्राप्त करता है, इस शक्ति, इस ऊर्जा का अनुपम गुण यह है कि वह नितान्त रचनात्मक और कल्याणमय है, क्योंकि वह प्रेम की शक्ति है।

व्यावहारिक प्रयोग

उपनिषदों की यह प्रज्ञा है, तथा ईशोपनिषद् के ये दो मन्त्र—छठे और सातवें—इस प्रज्ञा को सुस्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं। कुछ शतियों पश्चात् भगवद्गीता ने साम्य की इस दृष्टि पर, व्यावहारिक अध्यात्म विज्ञान की रचना की थी। गत तीन सौ वर्षों से आधुनिक जगत राजनीतिक, आर्थिक, तथा साम्य के अन्य रूपों के साथ इसका प्रयोग कर रहा है। मानव विचार में साम्य अभी तक एक अनुसुलझी पहेली बना हुआ है। केवल एक साम्य है, जो युक्ति और इतिहास की प्रज्ञा से नहीं लड़ेगा, वह है आध्यात्मिक साम्य। मनुष्य के आध्यात्मिक बोध बढ़ाने के द्वारा, तथा इस ज्ञान के द्वारा कि वह आत्मा है, साम्य एक सामाजिक तथ्य हो सकेगा। एक समतावादी सामाजिक परिसर के स्थापन के लिए, सामाजिक-राजनीतिक कार्यवाहियाँ उचित और आवश्यक हैं। किन्तु उनकी पहुँच सीमित है। इतिहास प्रतिदिन मनुष्य को यही सिखा रहा है।

ऐसा लगता है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों साम्य के उद्देश्य की ओर अग्रसर हुआ है

त्यों-त्यों मानव-स्वतन्त्रता का ह्रास हुआ है। यह सामाजिक विरोधाभास तभी दूर किया जा सकता है, जब सामाजिक-राजनीतिक कार्यक्रमों के साथ-साथ मनुष्य को अध्यात्म की शिक्षा भी अधिकाधिक रूप में दी जावे (जिसे वेदान्त आत्मज्ञान कहता है)। यही था, जो स्वामी विवेकानन्द ने पूरब और पश्चिम को सिखाया। इस ज्ञान के सामाजिक प्रभाव के विषय में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

> लोगों को भय है कि इस ज्ञान से कि तत्त्व केवल एक है, प्रेम के झरने सूख जायेंगे।....लोग शांत होकर यह नहीं सोचते कि जिन्होंने अपने व्यक्तित्व पर सबसे कम ध्यान दिया, वे ही जगत् में महानतम कार्यकर्त्ता हुए हैं। मनुष्य केवल तभी प्रेम करता है जब वह जानता है कि उसके प्रेम का पात्र कोई नीच क्षुद्र मर्त्य चीज नहीं है। मनुष्य केवल तभी प्रेम करता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र मिट्टी का ढेला नहीं है, बल्कि वास्तव में स्वयं ईश्वर है। स्त्री पति से अधिक प्रेम करेगी, जब वह जानेगी कि पति स्वयं ईश्वर ही है। पति स्त्री से अधिक प्रेम करेगा जब जानेगा कि स्त्री स्वयं ईश्वर है। वह माता बालकों से अधिक प्रेम करेगी, जो समझेगी कि बालक स्वयं ईश्वर है। वह मनुष्य अपने सबसे बड़े बैरी से भी प्यार करेगा, जो यह जानता है कि वह बैरी भी ईश्वर है। वह मनुष्य एक सन्त से प्यार करेगा, जो यह जानता है कि सन्त स्वयं ईश्वर है। वही मनुष्य बड़े से बड़े पापियों से भी प्यार करेगा, क्योंकि वह जानता है कि अधमाधम पापियों में भी ईश्वर का वास है।
>
> ऐसा मनुष्य जगत् को हिला देने वाला बन जाता है, जिसका क्षुद्र अहं मर चुका है, और उसका स्थान परम तत्त्व ने ले लिया है। उसके लिए सारे विश्व का रूपान्तरण हो जाता है।.... वहाँ फिर वह प्रतिदिन रोटी के टुकड़े के लिए संघर्ष नहीं करता, दुनिया उसके लिए एक कैद न होकर एक लीला-स्थल बन जाती है। यह विश्व तब कितना सुन्दर हो जाता है? केवल ऐसे मनुष्य को खड़े होकर यह कहने का अधिकार होगा—कैसा सुन्दर है यह विश्व....। केवल उसको कहने का अधिकार है कि यह सब शिव है? ऐसी अनुभूति से जगत का यह भारी उपकार होगा, बजाए इसके कि यह जगत संघर्ष और युद्ध करता रहे। सब मानवता यदि उस महान् सत्य के एक अंश की अनुभूति भी कर ले, समस्त जगत का नक्शा ही बदल जाय तथा लड़ने और झगड़ने के स्थान पर शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाए।
>
> यदि जगत में रहने वाले स्त्री-पुरुषों में से एक छोटा-सा अंश भी कुछ क्षण केवल बैठकर यह कहे, 'हे मनुष्यो! तुम सब ईश्वर हो, तथा तुम पशुओं और जीवित प्राणियो! तुम सब एक ही जीवन्त दिव्यता की अभिव्यक्तियाँ हो, तो सारा जगत आधे घण्टे में बदल जायगा। प्रत्येक कोने में घृणा के भयानक स्फोटक बम फेंकने के बजाय, ईर्ष्या और दुर्भावना की तरंगें भेजते रहने के स्थान पर, सब देशों के वासी समझने लगेंगे कि यह सब ईश्वर ही है।'[1]

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 2, 286–87।

कैसे आश्चर्य की वात है कि वेदान्त का जन्म-स्थान होने पर भी किसी और देश की अपेक्षा भारत में मानव मानव के बीच भेदभाव और अलगाव सबसे अधिक पनपा है। इसीलिए देश सदियों तक पराधीन रहा। स्वामी विवेकानन्द को इसके लिए गहरा खेद था, तथा इस दशा का अन्त करने के लिए उन्होंने प्राणपण से प्रयत्न किया। लाहौर में 1897 ई० में वेदान्त विषय पर अपने भाषण में उन्होंने कहा :

> इसलिए, अपने में विश्वास रखो, यदि तुम भौतिक सम्पत्ति चाहते हो, उसके लिए यत्न करो, वह मिलेगी। यदि तुम बुद्धिमान होना चाहते हो, बुद्धि के स्तर पर यत्न करो, और अवश्य तुम बुद्धिशाली बनोगे। और यदि स्वतन्त्रता पाना चाहते हो, आध्यात्मिक स्तर पर यत्न करो, अवश्य स्वतन्त्र होगे तथा परमशान्ति, निर्वाण, प्राप्त करोगे।
>
> गलती यह हुई कि अद्वैत दर्शन का प्रयोग केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही होता रहा। अब समय आ गया है कि उसे हम अन्य क्षेत्रों में भी व्यवहार में लाएँ। वह अब ऐसा रहस्य नहीं रहा है जो कन्दराओं में, अरण्यों में और हिमालय में ही रह सके, उसे अब जनता के दैनिक जीवन में व्यवहृत करना पड़ेगा, उसका प्रयोग—राजा के महल में, संन्यासी की कन्दरा तक में होगा, उसका प्रयोग निर्धन की झोपड़ी में, गली के भिखारी द्वारा, अब सर्वत्र और कहीं भी हो सकेगा।
>
> इसलिए डरो मत, चाहे तुम स्त्री हो या शूद्र, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह धर्म इतना महान् है कि उसका थोड़ा सा आचरण भी बहुत कल्याण-कर है। इसलिए आर्यपुत्रो ! बेकार मत बैठो। जागो, उठो और लक्ष्य-प्राप्ति करने तक रुको मत। वह समय आ गया है जब इस अद्वैत का व्यावहारिक प्रयोग होना चाहिए। आओ अब उसे स्वर्ग से पृथ्वी पर उतार लाएँ। इस युग की माँग यही है।[1]

मनुष्य-मनुष्य के बाहरी भेदों के नीचे उसकी जन्मजात आध्यात्मिक एकसूत्रता है; तथा व्यक्ति की शिक्षा में उस पर बल देना चाहिए। वेदान्त इन दृष्टव्य भेदों से इनकार नहीं करता; वे हैं, लेकिन सतही हैं, नीचे गहराई में एकता है। मनुष्य चाहे कुछ भी काम करे, उसका जीवन में कोई भी पद हो, प्रत्येक मनुष्य में एक समग्र मूल्य होता है, जिसका माप उसकी कमाई या उसके सामाजिक कार्य से नहीं हो सकता। समग्रमूल्य एक आध्यात्मिक मूल्य है, जो आत्मा से मिलता है। उसके स्वरूप का अहरणीय अंग होने से, वह उसकी सच्ची मान-मर्यादा और आत्म-गौरव का आधार है। चमार और मेहतर, मछुआ और शिल्पी समाज के वैसे ही सारपूर्ण कार्य करते हैं, जैसे कि प्राध्यापक या डाक्टर; वकील या शासक। इन विभिन्न सामाजिक कार्यों के माध्यम से मनुष्य की ऊँचाई नहीं नापी जा सकती। उसकी ऊँचाई देखने के लिए तो हमें दूसरा माध्यम अपनाना पड़ेगा, वह है उसका सहज आध्यात्मिक स्वरूप, उसका सच्चा सत्त्व, आत्मा जिसमें उसका विस्तार अनन्त है। समाज में सब तरह के कार्य हैं; उन्हें

1 कम्पलीट वर्क्स, भाग 3, 427।

करते हुए ही छोटे बड़ेपन का, असमानता का भान शुरू होता है। आध्यात्मिक शिक्षा से ही यह असमानता का भाव दूर किया जा सकता है। ऐसी शिक्षा, प्रत्येक व्यक्ति को, सामाजिक दृष्टि से वह बड़ा हो या छोटा, अपने एक सम्पूर्ण मूल्य और गौरव का भाव, अपने को, आत्मा समझने के बोध से उत्पन्न एक भाव पैदा करती है।

इस आध्यात्मिक शिक्षा के बिना आधुनिक औद्योगिक सभ्यता, आधुनिक जनतन्त्र के दावों के रहते भी, मनुष्य मनुष्य के बीच भेद ही बढ़ायेगी। विद्या, निपुणता और सत्ता से पैदा हुए भेदों को उसके बिना रोकना सम्भव नहीं है, अन्यथा उन लाखों मनुष्यों में तुच्छता के भाव को और बढ़ावा ही मिलेगा। ये लोग पहले से ही उनके विज्ञान और तकनीकी से बने, विशाल यन्त्रों के समीप खड़े होने से अपने को क्षुद्र अनुभव कर रहे हैं। ऐसी शिक्षा के बिना मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण केवल बढ़ेगा; कई प्रकार के सूक्ष्म शोषण पैदा हो जाएँगे, जो प्राचीन आर्थिक शोषण की अपेक्षा अधिक घातक होंगे। मानव प्रकृति की रुक्षता के कारण, अधिकाधिक तकनीकी कुशलता तथा धन और सुभीतों में वृद्धि के रहते भी सर्वसाधारण मानव के सुख और हित का यह आदर्श पीछे हटता चला जाएगा। आध्यात्मिक शिक्षा के बिना, मनुष्य को अपना स्वामी बनकर जीवन भोगने की सामर्थ्य नहीं मिलेगी; वह तो उसका दास बना रहेगा। मनु के शब्दों में :

न हे अनधात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते

आत्मज्ञान विहीन मनुष्य अपने परिश्रम का फल नहीं भोग सकता।

भौतिक सम्पत्ति और सामाजिक कल्याण में समाज जितना उन्नत होगा, उतना ही यह दुःखी होगा। दुःख केवल अपना रूप परिवर्तन कर लेता है, अधिकाधिक सूक्ष्म हो जाता है, इसलिए अधिकाधिक असहनीय होता है। साठ वर्ष पहले, स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य जगत को चेतावनी दी थी कि जब तक मनुष्य अपने आध्यात्मिक स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है, यह होगा और होकर रहेगा।

पश्चिम में ऐसे विचारकों की कमी नहीं है, जिन्हें मानव स्वभाव की इस प्रक्रिया के खतरे का बोध है। ऐसा एक विचारक रीडर्स डाईजेस्ट में लिखता है :

> आज वातावरण में एक भयानक धमकी है····दूसरों द्वारा हमारे लिए सोचे जाने की, शासन किये जाने की, नियन्त्रण किये जाने की, चारों ओर घुमाए जाने की, हमें वस्तुएँ बना देने की धमकी। इसके विरोध में केवल एक हथियार है, आत्मा। वह अनुपम गणनातीत मानवजीव।[1]

'अपने बारे में सत्य क्या है' एडिंगटन ने बी० बी० सी० पर प्रसारित एक भाषण में पूछा, और स्वयं उत्तर देने लगे, 'हम कई उत्तर सोच सकते हैं—हम एक पथभ्रष्ट तारे का खण्ड हैं। हम एक जटिल भौतिक यन्त्र हैं—कठपुतलियाँ हैं, जो नीचे से लगे काल के हाथों की क्रिया द्वारा फुदकती हैं, बोलती हैं, हँसती हैं और मरती हैं। किन्तु याद रखो कि एक मौलिक अनिवार्य उत्तर है—हम वह हैं जो प्रश्नकर्ता है।'

[1] एरिक मैनर्स, 'द आर्ट ऑव बीइंग नोबडी', रीडर्स डाईजेस्ट, मई 1953।

कितनी गम्भीर उक्ति है यह—'हम वह हैं, जो प्रश्नकर्त्ता है।' वेदान्त को भाषा में कहा जाए तो उसका अर्थ है, कि हम दृक हैं, न कि दृश्य; विषयी, न कि विषय; आत्मा न कि अनात्मा। यदि हम स्नायु विकारों तथा मानसिक तनावों के दुःख-दर्द से बचना चाहते हैं, तो हमें इस तथ्य में शिक्षित होना पड़ेगा कि हम हैं, 'आत्मा, नित्यशुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वभाव परमात्मन्' जैसा कि वेदान्त कहता है। यह ज्ञान हमको विषयबद्ध जीवन की क्षुद्रताओं से तुरन्त ऊपर उठा लेगा तथा हमें असंकीर्ण दृष्टि और सहानुभूति प्रदान करेगा। यह महान् कार्य है, जो वेदान्त ने आधुनिक युग में अपने करने के लिए निश्चित किया है।

ईशोपनिषद् का अगला मन्त्र आठवाँ है जो परमतत्त्व के स्वरूप का प्रभावशाली और काव्यमय वर्णन करता है :

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ् शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

वह स्वयंभू (ईश्वर) सर्वत्र है, शुद्ध है, (सूक्ष्म) कायारहित, दोषरहित, मांसपेशियाँ (स्थूल शरीर) रहित, पवित्र, पापरहित, कवि (क्रान्तदर्शी), सर्वज्ञ, सर्वव्यापी है वह। उसने चिरन्तन प्रजापतियों को अपने-अपने काम सौंप दिये हैं।

आत्मा का स्वरूप पवित्र और शुद्ध है, पाप के कलुष से विहीन मानव की जगद् व्यापक मुक्ति के लिए भारत का यही शाश्वत सन्देश है। वेदान्त नहीं मानता कि कोई ऐतिहासिक घटना विशेष, मानव की मुक्ति के लिए जगद्-व्यापी सन्देश बन सकती है। मानव स्वभाव से प्राप्त सन्देश ही केवल मुक्ति का सर्वमान्य सन्देश बन सकता है। जब ईसा ने सिखाया 'स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है' तो उनका आशय यही था।

आत्मा का एक और सुन्दर विशेषण यहाँ है—कविः, ऋषि, क्रान्तदर्शी। यह महान् कवि है, संसार उसकी कविता है, जो तुकों और पद्यों में बँधी निकल रही है। कवि शब्द का अर्थ कविता बनाने वाला नहीं है, बल्कि वह जो दूरदर्शी है, क्रान्तदर्शी है, जैसा कि शंकराचार्य कहते हैं, जिसमें सूक्ष्म दृष्टि है, तथा जो वस्तुओं के आन्तरिक महत्त्व को देख और समझ सकता है। संसार के बड़े कवि आत्मा के साथ इस गुण में भागीदार हैं। जो साधारण रसहीन मन के लिए सामान्य और अर्थहीन लगता है, कवि के लिए वह, अर्थ और महत्त्व से भरा है।

कवि के लिए प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक अनुभव, प्रत्येक घटना, काव्य के सुझाव से भरी है। उसका संवेदनशील मन उनमें अर्थ और महत्त्व देखता है। प्रकृति में कोई वस्तु या घटना नहीं जो विश्व की आत्मा के साथ आत्मसात् न करती हो। एक ओर जब कवि, दिव्यता के साथ क्षणिक नाता जोड़कर, प्रकृति के दिव्य स्पंदन को अनुभव करता है, साधारण व्यक्ति केवल शुष्क, विच्छिन्न तथ्यों और घटनाओं को देखता है।

मन्त्र कहता है, यह प्रकृति में व्यवस्था आत्मतत्त्व के कारण ही आयी है—'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।' ब्रह्माण्ड के अपरिवर्तनीय नियम उसके दैवी आधार के परिचायक हैं। विश्व नियमों द्वारा शासित है। सूर्य, चन्द्र, तारे, नीहारिकाएँ, अग्नि, विजली, वर्षा—प्रकृति की प्रत्येक वस्तु नियम का पालन करती है। नियम वही है जो सबको मर्यादा में रखता है, ताकि वे मर्यादा उल्लंघन न करें और अव्यवस्था पैदा न कर सकें।

अंग्रेजी कवि शैली कहता है कि कवि संसार का अनजाना नियामक भी होता है। सब कवियों में श्रेष्ठतम कवि अर्थात् ईश्वर, महत्तम नियामक है, वह अपने नियम में अपने को प्रकट करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (IV.4.22) कहता है :

स वा एष महानज आत्मा····सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय

वस्तुतः यही वह महान् अजन्मा आत्मा है····एक तटवंधन (पुश्ता) जो लोकों को पृथक् रखने की सीमा का काम देता है।

वेदों में विधिनियम की इस धारणा को 'ऋत' कहकर वर्णन किया है, जिसका अर्थ है—व्यवस्था। प्रकृति के अन्तर में व्यवस्था है, यद्यपि तल पर प्रत्येक वस्तु भले ही अव्यवस्थित या अस्त-व्यस्त दिखाई देती हो। एक लड़का किसी मशीन को भीतर से देखने के लिए, यदि खोलेगा, तो उसे तारों का एक अस्त-व्यस्त गड़बड़झाला दिखाई देगा, किन्तु एक कुशल व्यक्ति को तारों के विन्यास में व्यवस्था दिखाई देगी क्योंकि वह प्रत्येक की अर्थवत्ता और क्रिया को समझता है और अपने ज्ञान के द्वारा उसके संचालन का नियन्त्रण भी करता है। उसी प्रकार प्रकृति में प्रत्येक वस्तु नियमानुसार काम करती है, तथा यह नियम अन्तर में दिव्यात्मा का प्रकाश करता है। प्रकृति के हृदय में यह दिव्यात्मा एक द्वैत धारणा नहीं है, बादलों से ऊपर वैठा हुआ वहाँ से विश्व का शासन करने वाला एक ईश्वर नहीं। वह आत्मा है, मनुष्य और विश्व का आत्मा, जिसकी सूक्ष्म उपस्थिति, मनुष्य का मानव मन, विश्व की वस्तुओं और घटनाओं में और उनके नियमों में, जो उन्हें एक साथ बाँधते हैं, उनमें ढूँढ़ता है और अनावृत करता है।

ईशोपनिषद् इस घोषणा के साथ आरम्भ हुआ कि विश्व आद्योपान्त आध्यात्मिक है—ईशावास्यमिदं सर्वम्। उसने फिर मनुष्य को पूरी आयु जीने की इच्छा करना सिखाया, तथा उसे इस सत्य की अनुभूति करने के लिए उपयोग करके स्वतन्त्र होना सिखाया, इस अनुभूति के बिना उसने चेतावनी दी कि जीवन अन्धकार और दुःख से कटेगा, तथा निरर्थक और बांझ हो जाएगा। फिर उसने मनुष्य में तथा प्रकृति में दिव्यता की उपस्थिति की व्याख्या की है, और दिखाया कि किस प्रकार उसका साक्षात्कार, मनुष्य के हृदय में से भ्रम और दुःख का आवरण पूर्णतया उठा देता है, और उसे शान्ति तथा आनन्द देता है, और विश्व को कल्याण का निकेतन बना देता है।

इस सर्वव्यापी आध्यात्मिक तत्त्व को उपनिषद्, आत्मा नाम से पुकारते हैं,

तथा यह तत्त्व, सबका आत्मा होने से शब्द और विचार से परे है। किन्तु, वह 'इदम्' भी है। यह, अर्थात् यह विश्व, और इसलिए, समस्त शब्द और विचार का विषय भी है। इस प्रकार वह वस्तुओं का, पियरे तेलहार्द-द-शारदां के शब्दों में, 'अन्तर' और 'बाह्य' भी है, लोकातीत और अन्तर्व्याप्त दोनों। किन्तु विश्व के 'अन्तर' अर्थात् विश्व के प्रत्येक तत्त्व का, मानव व्यक्तित्व—जो स्वयं एक लघुब्रह्माण्ड है—के गहरे अध्ययन द्वारा, आविष्कार करने की छाप 'आत्मा' शब्द पर है। उपनिषदों द्वारा विश्व के 'बाह्य' के अध्ययन ने, ब्रह्म की धारणा को और शब्द को जन्म दिया था, ब्रह्म है अनेक के पीछे एक। यह धारणा विभिन्न स्तरों में होकर स्पष्ट और पुष्ट होती गयी, उसका अर्थ प्रार्थना हुआ; उसका अर्थ प्रकृति से बाहर स्थित अद्वय ईश्वर हुआ; उसका अर्थ सापेक्ष विश्व के पीछे एक युक्तिसंगत निरपेक्ष तत्त्व हुआ। अन्त में, उपनिषदों ने, उसे वस्तुओं के 'अन्तर', आत्मा की दृष्टि से देखकर, 'बाह्य और अन्तर' की एकता को, एक तत्त्व ब्रह्म-आत्मा रूप में अनुभूत किया, जो लोकातीत और अन्तर्व्याप्त दोनों है। वह एक अनुभव में मिला हुआ तथ्य है, केवल धारणा या तार्किक पूर्वकल्पना नहीं। वस्तुओं के 'अन्तर' आत्मा के ज्ञान के द्वारा उपनिषदों ने ब्रह्म की धारणा को, एक बाह्यस्थित एकेश्वरवादी देवता और युक्तियुक्त निरपेक्ष तत्त्व से एक आध्यात्मिक अनुभव में परिणत कर दिया। 'अनुभव अवसानम्'—जैसा कि ब्रह्मसूत्र भाष्य (I.ii.2) में, शंकराचार्य ने व्याख्या की है।

इसी प्रकार चित्, ज्ञान और संवित् तथ्यों की गहरी खोज द्वारा, उपनिषदों ने आत्मा शब्द की धारणा को, जिसका अर्थ जीव होता था, एक तत्त्व, जिसका गुण चित् है और बहुत्त्व का जिसमें समावेश था अन्तरात्मा शब्द द्वारा, जो मनुष्य का शुद्ध असंग अन्तर है, और जिसमें बहुत्त्व का भी समावेश है, परमात्मन् या सर्वात्मन् में परिणत कर दिया, जिस शब्द का अर्थ, शुद्ध और पूर्ण, नित्य और अद्वैत, सबका और विश्व का आत्मा है। आत्मा शुद्ध सत् और चित् है, ब्रह्म शुद्ध सत् और चित् है, दोनों एक हैं। चित् और चित् का विषय अभिन्न है, जैसे मन और उसकी कल्पनाएँ हैं। जैसे भौतिक विज्ञान में देश-काल सांतत्यक में वस्तुएँ, सत्ताएँ और घटनाएँ बदलते हुए विन्यास हैं, और देश-काल सांतत्यक ही केवल तात्त्विकता है, ऐसे ही विश्व को समग्रता मान लेने पर, मन तथा द्रव्य का, जीवों और शरीरों का जगत्, चिद्घन या विज्ञानघन रूप में, शुद्ध चैतन्य रूप में दिखाई देता है। भौतिक और अभौतिक जगत् की, सब वस्तुएँ सत्ताएँ और घटनाएँ बदलते हुए विन्यास बन जाते हैं।

आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों की ये युगान्तरकारी घटनाएँ उपनिषदों के कुछ प्रसिद्ध मन्त्रों में अंकित हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (II.4.12) में कहा गया है :

इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव

यह महद्भूत, महान् सत्ता (ब्रह्म) अनन्त और अपार है। वह केवल विज्ञान या चित् का घनत्व है।

छान्दोग्य उपनिषद् (VIII.3.4) कहता है :

एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति

यह ब्रह्म अमृत और अभय है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् (III.4.1) मानव की अन्तरात्मा रूप में ब्रह्म को अनुभव में मिला हुआ तथ्य घोषित करता है :

यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व

सब (प्राणियों) का अन्तरात्मा, जो साक्षात् और अपरोक्ष ब्रह्म है, मेरे लिए उसकी व्याख्या कीजिए ।

कठोपनिषद् (II.1.15) आत्मा के एकत्व के साक्षात्कार का वर्णन करता है :

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ।

जिस प्रकार शुद्ध जल शुद्ध जल में मिलाने पर शुद्ध जल ही रहता है, हे गौतम ! उसी प्रकार है—उस सज्जन की आत्मा, जिसने ब्रह्म को जाना है ।

और माण्डूक्य उपनिषद् एक प्रभावशाली मन्त्र (मन्त्र 2) में विश्व की आध्यात्मिक एकता का वर्णन करता है :

सर्वंह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म

ये सब (विश्व) ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है ।

यदि ब्रह्म और आत्मा एक ही है, और यह जगत् आद्योपान्त आध्यात्मिक है, तो मनुष्य के जीवन और लक्ष्य के लिए कुछ निष्कर्ष निकलते हैं, तुरन्त, वह मनुष्य जीवन के क्षेत्रों के बाह्य तथा आन्तरिक, लौकिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों को, संयुक्त कर देता है । विज्ञान तथा धर्म को संयुक्त कर देता है । इस समग्र दृष्टि के आलोक में, तत्त्व की आंशिक दृष्टि से उत्पन्न विषमताएँ और विरोध विलय हो जाते हैं, जिससे एक व्यापक आध्यात्मिकता सम्भव होती है जिसमें आस्तिक और नास्तिक, ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी, धार्मिक और वैज्ञानिक चिन्तक और श्रमिक, सत्य के पथ पर सहयात्री बन जाते हैं ।

दर्शन के इस प्रभाव से मनुष्य का जीवन और कर्म के प्रति दृष्टिकोण कैसे बदलता है, स्वामी विवेकानन्द ने अपने 'विश्व धर्म का आदर्श' शीर्षक भाषण में, इसकी व्याख्या की है :

> उच्च या निम्न दर्शन द्वारा, अतिप्रतिष्ठित या अपरिष्कृत पुराण कथाओं द्वारा, अति परिष्कृत कर्मकाण्ड या कुख्यात जड़पूजा द्वारा, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जाति, प्रत्येक धर्म, ज्ञात या अज्ञात, ऊपर, ईश्वर की ओर, जाने के लिए संघर्ष कर रहा है; मनुष्य के सत्य का प्रत्येक दर्शन, ईश्वर का ही दर्शन है, और किसी का नहीं ।[1]

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 2, 381 ।

इस सर्वसमावेशी दृष्टि की व्याख्या करते हुए, स्वामी विवेकानन्द आगे कहते हैं :

> मैं जिसका प्रचार करना चाहता हूँ, वह ऐसा धर्म होगा, जो समान भाव से सर्वमान्य होगा, उसे उतना ही दार्शनिक, उतना ही भावात्मक, उतना ही गूढ़ अध्यात्म-अनुभवी और उतना ही कर्म-प्रेरक होना चाहिए। यदि कालेजों से अध्यापक आते हैं, वैज्ञानिक तथा भौतिक-विज्ञानी आते हैं, वे युक्तियुक्तता को ही समझेंगे। किन्तु एक विन्दु आयेगा, वे सोचेंगे, जिसके परे वे युक्ति से अलग हुए बिना नहीं जा सकेंगे। उसी प्रकार यदि आध्यात्मिक अनुभवी आता है तो उसका स्वागत कीजिए, उसे मनोविश्लेषण विज्ञान देने को तैयार रहिए तथा उसके सामने व्यावहारिक प्रयोग कर दिखाइए। और यदि भावात्मक लोग आते हैं, हमें चाहिए कि उनके साथ बैठकर, भगवान् का नाम लें, हँसें और रोयें, हमें 'प्रेम का प्याला पीकर मतवाला हो जाना चाहिए।' यदि उत्साही कार्यकर्त्ता आता है, हमें उसके साथ यथाशक्ति काम में लग जाना चाहिए। यह समुच्चय विश्व धर्म के आदर्श के निकटतम होगा। इन चारों दिशाओं में सामंजस्य रखकर सन्तुलन करना मेरे धर्म का आदर्श है।

ईशोपनिषद् के आगामी छः मन्त्र हमारे सामने धर्म, जीवन और चरित्र पर इस वेदान्त दर्शन का प्रभाव बतायेंगे। धर्म चर्चा में प्रायः यह देखा गया है कि धर्म समर्थकों के दो दल बन जाते हैं और वे आपस में एक-दूसरे की बात मानने से परहेज करते हैं। रहस्यवादी धर्म-समर्थक कर्मठ धर्म-समर्थक की बात नहीं मानेगा और इहलोक की चर्चा करने वाले को परलोक की चर्चा नहीं सुहायेगी। इन मन्त्रों का आशय इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक व्यवहार को समाप्त करना है। परन्तु यहाँ सब कुछ सूत्र रूप में ही कहा गया है। भगवद्गीता में इसे विस्तार से समझाया गया है।

पाँच

ईशोपनिषद् (क्रमशः)

हम देख चुके हैं कि ईशोपनिषद् के चौथे से आठवें मन्त्रों में, जीवन की वेदान्तिक दृष्टि की बात कही गयी है। सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति के दृष्टिकोण से जीवन कैसा दिखाई देता है? उपनिषद् ने हमें बताया कि जब मनुष्य आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, वह उसी अन्तरात्मा को प्रत्येक प्राणी में देखता है और उस अनुभूति के कारण, वह किसी से घृणा नहीं करता, क्योंकि तब उससे कोई पृथक् नहीं रहता। वह सर्वत्र समदृष्टि प्राप्त कर लेता है। इस अनुभूति के फलस्वरूप, वह शोक तथा मोह से मुक्त हो जाता है। शोक तथा मोह के कारण ही मनुष्य को अलग होने में दुःख अनुभव होता है। परन्तु जब वह संसार में आध्यात्मिक एकरसता अनुभव करता है, तो शोक और मोह के दुःख से छूट जाता है।

मैं बता चुका हूँ कि भारत का समस्त दार्शनिक चिंतन यही महान् शिक्षा देता है—अनेक के पीछे एक, अनेक में एक की अनुभूति। एक-तत्त्व का दर्शन तत्त्वदर्शन है। उस ज्ञान से सुसज्जित होकर हम अनेक का अति कुशलतापूर्वक संचालन कर सकते हैं। श्री रामकृष्ण हमसे कहते हैं—'अद्वैत ज्ञान आचले बेंधे जा इच्छा ताई करो'—अद्वैत ज्ञान को आंचल में बाँधकर जो इच्छा हो करो। हमारा कार्य-क्षेत्र कुछ भी हो, हमारे जीवन का ढंग कुछ भी हो, हम लक्ष्यच्युत कभी नहीं होंगे। मनुष्य के सच्चे स्वरूप के इस ज्ञान से, महान् उपनिषद् हमें प्रभावित करना चाहते हैं। सातवें मन्त्र में कैसी गूँजती हुई घोषणा है:

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

सच्ची उदारता

इस गहन दृष्टि के फलस्वरूप, मानव समाज को एक नवीन एकीकरण प्राप्त

होगा । आज भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की हम बात करते हैं, किन्तु क्या एकीकरण एक राष्ट्र तक सीमित है ? वेदान्त की एकीकरण की धारणा, केवल राष्ट्र के परे जाकर, एकता की व्यापक दृष्टि में समस्त मानवता को समा लेना चाहती है । उसका विश्व-व्यापी सम्बन्ध है । इसीलिए, इन पाँच मन्त्रों के भाव, पूरब और पश्चिम के सभी चिन्तकों को प्रिय और मान्य हैं । किन्तु वेदान्त में यह एक गहरा आध्यात्मिक दर्शन है, कोई धारणा या कार्यसाधक कार्यक्रम नहीं । वह पुरुषों तथा स्त्रियों द्वारा व्यक्तिगत सार्वभौमिकता की उपलब्धि है । मनुष्य उसकी उपलब्धि तब करता है जब उसको अपने क्षुद्र अहं से छुटकारा मिले ।

धर्म, नैतिकता और सामाजिकता का उद्देश्य इस अहं को ज्ञानातीत बना देना है । वेदान्त सिखाता है कि विश्वात्मत्व अनुभव से प्राप्य है । उसी में मनुष्य का सच्चा आत्म भाव है । किन्तु वह अपने अज्ञान में संकीर्ण घरोंदे बनाकर इस तत्त्व की सर्वव्यापकता भूल जाता है । वह उसे जाति और सम्प्रदाय की सीमित निष्ठाओं में बाँट देता है । अहंनिर्मित इन सीमाओं को हटा दो । सर्वव्यापी तत्त्व अपने पूर्ण शुद्ध रूप में स्वयं भासित होगा । वेदान्त के अनुसार सब शिक्षा, सब दीक्षा, सब संस्कृति, केवल एक ही बात को सिखाती हैं कि इस सर्वव्यापी तत्त्व को पाने के लिए मानव मन की अस्थाई परिसीमाओं से कैसे मुक्त हुआ जाये । मनुष्य जितना अधिक शिक्षित और संस्कृत होगा, उतना ही अधिक वह सबके पीछे एकतत्त्व के दर्शन करता है । यह गहन दृष्टि जीवन में प्रेम, करुणा तथा सेवा के भाव भरती है । सच्ची संस्कृति का लक्षण उदारता और करुणा है । हिंसा तथा दुष्टता, शोषण तथा अहंभाव संस्कारहीनता तथा संकीर्णता के लक्षण हैं, वेदान्त इन्हें मन के ओछेपन तथा चरित्र की क्षुद्रता के प्रतिफल बताता है । एक बहु-उद्धृत संस्कृत श्लोक में यही बात बताई गयी है, विषय यही है—मनुष्य की क्षुद्रता तथा महानता :

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्,
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्—

यह मेरा देशवासी है, यह परदेशी है—ऐसी दृष्टि केवल ओछे मन वालों की है, एक उदारमन के लिए सारा संसार कुटुम्ब है ।

मनुष्य के व्यक्तित्व की मर्यादा कहाँ है ? क्या त्वचा उसकी सीमा हो सकती है ? क्या शरीर उसकी सीमा हो सकता है ? क्या, सम्प्रदाय और मतवाद, धर्म संघ और राष्ट्रीयता उसकी सीमा हो सकते हैं ? क्या कभी उसके सच्चे स्वरूप के विस्तार को ये मर्यादित कर सकते हैं ? उसका व्यक्तित्व तभी तक सीमित रहता है जब तक वह अपने सच्चे स्वरूप से अनभिज्ञ है । किन्तु जैसे-जैसे हम अपने अज्ञान पर विजय पाते हैं, वैसे-वैसे ही हम इन सीमाओं को भी पार करते जाते हैं । हम अपने अनन्त और अमर वास्तविक स्वरूप को पहचानने लगते हैं । मनुष्य का यह अनन्त व्यक्तित्व शरीर और इन्द्रियों द्वारा, राजनीतिक और सामाजिक तन्त्रों द्वारा, धार्मिक सम्प्रदायों और मतवादों द्वारा सीमित दिखाई देता है । किन्तु वह इनमें से किसी एक

से भी सीमित नहीं हो सकता। वह उनके अन्तर में भी है, और उनके ज्ञानातीत भी है। मनुष्य अपनी क्षुद्रता त्यागने पर ही अपने को आत्मा के रूप में देखता है, तथा अनन्त और नित्य रूप में अनुभव करता है।

मनुष्य के विषय में यही वेदान्त की शिक्षा है। वेदान्त प्रत्येक व्यक्ति में निविष्ट इस सर्वव्यापक मूल्य से उसको अनुभूत कराना चाहता है। आज विश्व को इस प्रकार की शिक्षा की बहुत आवश्यकता है। समस्त आधुनिक सभ्यता और संस्कृति का झुकाव इस विश्वात्मैकता की ओर है—विश्वमानव के उभार की ओर, और यह दर्शन है, जो ऐसे सब प्रयत्न और संघर्षों का समर्थन करता है। यही कारण है कि वेदान्त, सब देशों में सब चिन्तनशील लोगों के लिए इतना मनोहारी है। तुच्छता का, सीमाबन्धन का, परिमितता का, पृथक्ता का कोई भाव उसकी भाषा और विचार को दूषित नहीं करता। वह मनुष्य की बात, मनुष्य रूप में करता है, न कि मतवादों, सम्प्रदायों और राजनीतिक तन्त्रों में कटे-छटे मनुष्य की। मनुष्य की कितनी सुन्दर कल्पना है यह। वह सुन्दर है, क्योंकि सत्य है; और इसीलिए वह शिव भी है, मंगल भी है। वेदान्त की भाषा में वह सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् है। यहाँ मनुष्य तथा उसकी महानता के नये स्वरूप का आश्वासन मिलता है। सर्वत्र मनुष्य द्वारा उस महानता, उस विश्वात्मत्व को प्राप्त करने के लिए निश्चित प्रयत्न करने का मार्ग-दर्शन भी इसी से प्राप्त होता है।

विश्वात्माएँ

दो प्रकार के मन होते हैं—एक, लघुचेतस्; तथा दूसरा, उदारचरित्। उदार-चरित् की प्रशंसा केवल हमारे साहित्य तक सीमित नहीं है, किन्तु हमारे इतिहास में ऐसे स्त्री-पुरुषों की भरमार है जिन्होंने विश्वव्यापकता के इस गुण को अपने जीवन तथा चरित्र में प्रकाशित किया है। अतीत में, उपनिषदों के ऋषि, कृष्ण, बुद्ध, शंकर, चैतन्य, नानक, कबीर तथा अनेकानेक अन्य अल्पज्ञात महापुरुष और हमारे अपने युग में राममोहन राय, रामकृष्ण, विवेकानन्द, तथा गाँधी, ऐसे ही उदारचरित् लोग थे। अपने को वे सर्वदा समस्त संसार को मानते थे। इस प्रकार से मनुष्य के बारे में यह उदार कल्पना भारत में, केवल कल्पना नहीं रह गयी, बल्कि स्त्री-पुरुषों की जीवनी में बार-बार हाड़-मांस का रूप लेकर खड़ी हुई, जिन्हें राष्ट्र अपना सच्चा नेता और आदर्श मानव मानकर पूजता है।

ईसा मसीह जब हमसे कहते हैं, 'अपने पड़ौसी से अपना जैसा प्यार करो', हम इसी के सदृश उक्ति के सान्निध्य में होते हैं। नीति तथा सदाचार की यह सबसे बड़ी शिक्षा है। इस शिक्षा को हम सुनते हैं, स्वयं में वह स्पष्ट है, किन्तु मनुष्य का हृदय जो इसे ग्रहण करता है, सदा स्वच्छ नहीं होता। इस उक्ति को सुनकर मानव हृदय अपने से एक प्रश्न फुसफुसाता है—मेरा पड़ौसी कौन है? और जो उत्तर उसे

मिलता है, वह उसकी मनुष्य के बारे में अपनी धारणा पर निर्भर है। एक अहं केन्द्रित मनुष्य के लिए, उसका पड़ौसी वास्तव में वह स्वयं ही है—दूसरे सब उसके अपने अनुचर हैं, अपने मतलब के लिए शोषण योग्य अपरिष्कृत मानव हृदय का इस प्रश्न का उत्तर यही है। कच्ची अवस्था में एक मानव यहाँ है; उसको उस महान् तथा उदारभाव में शिक्षित और दीक्षित होने की आवश्यकता है, जहाँ वह सर्वत्र सबमें अपना पड़ौसी देखता हो, तथा सबसे प्रेम करता हो, सबकी सेवा करता हो। यह शिक्षण एक लम्बा क्रम है, मनुष्य को जो पदे-पदे आगे ले जाता है। उसके प्रतिवेशी बोध को यह अपने आप से परिवार में, परिवार से वंश में, कुल में, वर्ण में, और राष्ट्र में, होकर अन्त में समस्त मानव-जाति में ही नहीं, समस्त दुनिया में विस्तृत करके पहुँचाता है। समस्त सीमाएँ लांघकर पड़ौसी भाव सारे विश्व को व्याप्त करता है। इस बाह्य रूप के पीछे मानव का भीतरी भाव भी है, जो उसे क्षुद्र सीमित अहं से सर्वव्यापी आत्मा की ओर ले जाता है। मनुष्य के अहं भाव का यह सीमारहित विकास उसके परिज्ञान और सहानुभूति का अनन्त विस्तार ही उसे उदारचरित् बनाता है। मनुष्य जब इसको प्राप्त कर लेता है, उसका व्यक्तित्व भी विराट हो जाता है। वह एक राष्ट्र का नागरिक नहीं रह जाता, वह समस्त विश्व का नागरिक बन जाता है। भारत की उपलब्धियों में यह एक महत्तम उपलब्धि रही है जिसे रोमें रोलां ने 'विश्वात्माओं' का अवतरण कहकर सम्बोधित किया है। वह रामकृष्ण और विवेकानन्द का उल्लेख करते हुए इस प्रकार कहते हैं :

> इन दो व्यक्तियों ने मेरा मन जीत लिया है, क्योंकि उन्होंने अतुलनीय मनोहारिता और शक्ति के साथ, विश्वात्मा की इस अतिसुन्दर स्वरसंगति में जीवन की लय बैठा ली है।[1]

जब स्वामी विवेकानन्द अमरीका में थे बहुत लोग उन्हें अपने में से एक समझते थे। 19 फरवरी 1896 में भारत की, एक पत्रिका को हास्यभाव में एक अमरीकन शिष्य ने इस प्रकार लिखा था :

> हाँ, और एक बात यह है कि भारत शीघ्र ही स्वामी पर अपना अधिकार स्पष्ट कर ले। क्योंकि शीघ्र ही यहाँ अमरीका के राष्ट्रीय विश्व कोश के लिए उनका एक जीवन वृत्त तैयार करने वाले हैं, इस प्रकार वह अमरीका के नागरिक बना दिये जायेंगे। कदाचित् ऐसा भी समय आ जाय जैसा कि होमर को जन्म देने के गर्व पाने का संघर्ष, सात नगरों के बीच हो रहा था, हमारे गुरु को जन्म देने के गर्व का दावा सात देश करने लगें। और एक श्रेष्ठ सन्तान को जन्म देने के गौरव से भारत वंचित हो जाये।[2]

भारत के महापुरुषों ने विश्वात्मकता के इस मूल्य से भारतीय सांस्कृतिक प्रयोग को बहुत प्रभावित किया है, और यही कारण है कि भारत का निरन्तर

[1] रोमें रोलां, लाइफ ऑव रामकृष्ण, 8।

[2] 'लाइफ ऑव स्वामी विवेकानन्द' बाई हिज ईस्टर्न एण्ड वैस्टर्न डिसाइपल्स, 393।

अस्तित्व और उसकी जीवन-शक्ति बनी हुई है। भारत यदि किसी तुच्छ और संकीर्ण दृष्टि को अपनाता तो वह कभी का विनष्ट हो जाता। उसने मनुष्य को मनुष्य के स्वभाव और जीवन लक्ष्य के सम्बन्ध में एक शुद्ध, महान्, और निडर दृष्टि दी है। ऐसे ही मानवी महत्त्व की अभिव्यक्ति, हमारे युग में श्री रामकृष्ण में हुई, जो कलकत्ता से लगभग चार मील दूर, दक्षिणेश्वर मन्दिर में रहते थे। कुछ दशाब्द हुए, वहाँ विश्वात्मकता का एक शक्तिशाली नाटक अभिनीत हुआ, जहाँ से अत्यन्त रचनात्मक और बलशाली विचार आरम्भ हुए, जो आधुनिक युग में मनुष्य के चित्त विक्षोभ शान्त करने की सामर्थ्य रखता है। 'विश्वात्माओं' का साहित्य और विचार जो कि उपनिषद् हैं, सैद्धान्तिक मात्र नहीं हैं। वे सब मनुष्यों के लिए पोषक भोज्य तत्त्व रखते हैं। आधुनिक मानव को इस भोज्य पर पोषित करना है, जिससे कि यह उस विशालता और पूर्णता को पा सके जो उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। यही सच्ची भावात्मक, ध्येयात्मक और जीवन-व्यापी शिक्षा है। भारत पर उसकी प्राचीन और नवीन विश्वात्माओं द्वारा दी गयी शिक्षा का प्रभाव कितना है, यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि यदि कोई संकीर्ण निष्ठा और स्वार्थी अन्ध-देशभक्ति की बात करे तो वह भारतीयों का बहुत दिन तक नेतृत्व नहीं कर सकेगा। किन्तु यदि कोई नेता उदार भावना तथा विस्तृत सहानुभूति लेकर उठता है, तो जनता उसकी बात, प्रशंसा और सम्मान भाव से सुनती है, और यथाशक्ति उसका अनुसरण करने का प्रयत्न करती है। इस दर्शन का सारे राष्ट्र पर ऐसा ही प्रभाव है।

कोरा सिद्धान्त नहीं

हमारा एक महान् तत्त्व दर्शन है। पिछले सहस्रों वर्षों के इतिहास में कुछ हद तक हम उससे प्रभावित हुए हैं। हमारा यह परम सौभाग्य रहा है कि बारम्बार हमें ऐसी महान् आत्माओं (विश्वात्माओं) से मार्ग-दर्शन मिलता रहा। किन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि बहुत बार हमने दर्शन और मार्ग-दर्शकों को निराश किया है। हमारी दुर्बलताओं ने हमें इस दर्शन के सूक्ष्म वातावरण में बहुत दिन काम करने नहीं दिया। हम पुनः अपने तुच्छ अहं के रास्ते पर चल दिये। यों हम बातें वेदान्त से कम की नहीं करते थे। यह कुशिक्षा इतनी फैली कि आज अहं-केन्द्रित स्त्री और पुरुषों की संख्या, हमारे समाज में संसार में सर्वाधिक है। इन महान् दार्शनिक विचारों के लिए हमारी श्रद्धांजलि केवल मौखिक और थोथी रह गयी। जातीय उच्च दर्शन और व्यवहारशून्यता हममें बहुत समय से आ गयी है। इसको स्वामी विवेकानन्द ने परख लिया था, तथा उन्हें इसका बड़ा खेद था। भारत के एक अपने शिष्य को अमरीका से भेजे हुए एक सुन्दर धर्मपत्र में इसका उन्होंने उल्लेख किया है :

> संसार का कोई धर्म, हिन्दू धर्म जितना मानवता के गौरव का प्रचार नहीं करता, और हिन्दू धर्म जितना, संसार का कोई धर्म भी, उस तरह निर्धनों

और दीनों की गर्दनों को नहीं रोंदता ।[1]

एक ओर हम सर्वोच्च दर्शन की बात करते हैं, दूसरी ओर हमारा व्यवहार निम्न कोटि का रहता है । क्यों ? स्वामी विवेकानन्द ने इसका निदान, विचार को आचार में परिणत करने की इच्छा-शक्ति का अभाव ठहराया । केवल बातों से हम आचरणवान नहीं बन सकते । भारत की स्थिति भी ऐसी ही हुई । एक ओर हमारा आचरण हमारे दर्शन से कोसों दूर वाला था । और दूसरी ओर हमारे चिन्तन को आचरण में परिणत करने का मार्ग अवरुद्ध हो गया था । इतिहास में जब-जब चिन्तन का प्रभाव आचरण पर नहीं हुआ है तब-तब ऐसा चिन्तन लाभ-शून्य ही रहा है चाहे वह अपने आप में कितना ही उदात्त हो ।

ईशोपनिषद् के अगले 6 मन्त्र, विचार और व्यवहार के समन्वयन के विषय की व्याख्या करते हैं । जहाँ परस्पर इनका सहयोग नहीं होगा, वहीं जीवन को दोनों में से किसी का सुफल नहीं मिल सकेगा । किन्तु यदि वे एक-दूसरे को बल देते रहेंगे, तो हम दर्शन की पूर्णता मानव चरित्र में देखेंगे । हमारे लिए इस दर्शन के विचारों को आत्मसात् करने की तथा अपने चरित्र के स्तर को उसी के अनुसार ऊँचा बनाने की आवश्यकता है । यदि मैं इस दर्शन के सत्य को मान लेता हूँ कि हम सब मूलतः एक दूसरे से अभिन्न हैं तो अपने जीवन को प्रेम और सेवा-भाव से ओत-प्रोत करने के अलावा मेरे सामने कोई मार्ग नहीं रहता । प्रेम तथा सेवा का यह भाव ही है, जो सब स्त्री-पुरुषों को एकता में बाँधने के लिए सूत्र का काम करता है । हृदय में प्रेम भाव का स्पंदन छोटे-छोटे सेवा कार्यों में भी प्रकट होता रहता है । सन्तान के प्रति माता का प्रेम, मात्र एक भावना या कोरी बात नहीं रहती, किन्तु बालक के सेवा-कार्यों में निरन्तर अभिव्यक्त होती रहती है । यही बात मानव सम्बन्ध के अन्य क्षेत्रों में भी लागू है । मनोविज्ञान-शास्त्री मैक्डूगल कहता है : 'अभिव्यक्ति न मिलने पर भाव केवल भाव ही रह जाता है ।'

त्याग और सेवा

स्वामी विवेकानन्द ने अपने युगों पुराने आध्यात्मिक आदर्श भाव को, मनुष्य में ईश्वर के प्रेम और सेवा रूप में प्रकट करना सिखाया था । वे कहते हैं :

> त्याग और सेवा भारत के युग्म आदर्श हैं, इन्हें ही देश में तीव्रता से भरो । शेष सब ठीक ही रहेगा ।[2]

त्याग और सेवा के इन युग्म विचारों को, जब हम आत्मसात् कर सकेंगे, तब हम वेदान्तिक चरित्र की समृद्धि और धीरता पा सकेंगे । त्याग इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र का विषय है : 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—त्याग द्वारा जीवन का रस भोगो ।

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 5, 15 ।

[2] वही, 228 ।

अपने क्षुद्र अहं, लोभी अहं से ऊपर उठो। अपने उस सच्चे स्वरूप, आत्मा, को पहचानो और सबके साथ अपनी एकता अनुभव करो। सबके लिए प्रेम और सेवा का भाव अपने अन्दर लाओ। ऐसी अपेक्षा हमसे की गई है।

जब हम इस अपेक्षा को पूरी कर देते हैं तो हमारे आचरण से छोटी-छोटी चीजों में भी एक विशेष सौन्दर्य प्रतिस्थापित हो जाता है। जीवन के सौन्दर्य की उलट यदि देखनी हो तो वह स्वार्थपरता और शोषण के तत्त्वों में देखी जा सकती है। जो मनुष्य स्वार्थी और शोषक वृत्ति का होगा वह कभी जीवन के उच्च और श्रेष्ठ तत्त्वों तक नहीं पहुँच सकता। उसको तो जीवन और संयम की सही दृष्टि भी प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसा लगता है कि स्वाधीनता के पश्चात् हमारे सामाजिक जीवन में स्वार्थपरता और शोषण काफी बढ़ गये हैं। राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ हमारी क्षुद्र वृत्तियाँ उभरी हैं। असंयम और अनुशासनहीनता में वृद्धि हुई है। किसी दूसरे के दुःख-दर्द में काम आने की प्रवृत्ति जाती रही है। इससे सामाजिक असन्तोष बढ़ा है और हम लोग समाज कल्याण के अपने उद्देश्य से मीलों पीछे चले गये हैं। हमारी यह आध्यात्मिक विरासत कब तक काम देगी। आवश्यकता इस बात की है कि हमें ऐसी शिक्षा दी जाये जो हमें आचरणवान् बना सके।

शिक्षा का औपनिषदिक स्वरूप

उपनिषदों का एक बड़ा लाभ यह भी मिलने वाला है कि वे निरन्तर हमारे नैतिक और आध्यात्मिक बल के संवर्धन में सहायक हैं। जिस व्यक्ति में ये दोनों बल होंगे उसी को भौतिक समृद्धि भी अधिक मात्रा में प्राप्त होगी। अपने प्राप्त व्यक्तित्व पर एक उच्चतर व्यक्तित्व का निर्माण करने में सहायता देकर, वे मनुष्य के आन्तरिक जीवन को समृद्ध करेंगे। प्राप्त व्यक्तित्व अनुशासित अहंभाव है, जो स्वभाव से सदा लोभी है—जो अपने लाभ के लिए दूसरों का शोषण करना चाहता है, तथा जो तनाव और दुःख का सनातन केन्द्र है। सच्चे आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए, इस क्षुद्र अहं का अतिक्रमण करना होगा। श्री रामकृष्ण पहले को पक्का अहं तथा दूसरे को कच्चा अहं कहा करते थे। कच्चे अहं को पक्के अहं के लिए स्थान खाली कराना चाहिए। यही सच्ची शिक्षा है, और यही है सच्चा धर्म। ऐसी ही शिक्षा मनुष्य को सच्ची सभ्यता और सच्ची संस्कृति वाले जीवन के योग्य बनाती है। 'द एक्सकर्शन' में वर्डस्वर्थ गाता है :

> और जब तक वह अपने से अपने ऊपर,
> न उठ सके, कितना दरिद्र है मानव !

आज हमारे समाज को ऐसी शिक्षा की ओर ही अग्रसर होना चाहिए। भारतीय सन्दर्भ में मनुष्य को, मानव उत्कृष्टता की गहरी वेदान्तिक दृष्टि, और गीता (XVIII. 20, 30, 33) द्वारा दिखाई गयी चरित्र और आचरण की उत्कृष्टता

उपार्जन करने की वेदान्तिक इच्छाशक्ति से प्रेरित होने की आवश्यकता है। उपनिषदों के अध्ययन के उपरान्त, गीता का अनुभव बहुत रोचक अनुभव होगा। वह समस्त उपनिषदों, समस्त वेदों का सार है, जैसा कि शंकराचार्य गीता के अपने भाष्य की भूमिका में कहते हैं, 'समस्त वेदार्थ सारसंग्रहभूतम्'—समस्त वेदों के अर्थ के सार का संग्रह। एक दर्शन रखना, उसे पढ़कर अधिकार भी प्राप्त करना एक बात है, तथा तदनुसार जीवन ढालना, और जीवन आचरण और व्यवहार के रूपों में उसे प्रकट करना बिलकुल दूसरी बात है। दूसरे दर्शनों के बारे में कुछ भी कहिए, वेदान्त सर्वाधिक भासमान होता है, अध्ययन और विचार-विनिमय में नहीं, अपितु जीवन-प्रयोग में। वह ऐसा है, क्योंकि जैसा कि शंकराचार्य (ब्रह्मसूत्र भाष्य I.ii.2) कहते हैं, 'अनुभव अवसानत्वात्'—उसका अवसान अनुभव में है। जैसा कि श्री रामकृष्ण कहा करते थे—कुछ लोगों ने सुना है कि दूध है, कुछ ने उसे देखा है, कुछ ने छुआ है, कुछ लोगों ने उसे पीकर पचाया है। इनमें से अन्तिम को दूध से लाभ हुआ; क्योंकि वे ही उसके द्वारा पोषित और पुष्ट हुए। वेदान्त ऐसा ही है, उसके विचारों में मनुष्य को पोषित और पुष्ट करने की शक्ति है, किन्तु केवल तब, जब उन्हें ग्रहण करके आत्मसात् कर लिया जाय। वे केवल अध्ययन या वादविवाद, मानसिक अलंकरण, या मानसिक कसरत के लिए नहीं है।

विचारों को आत्मसात् करने की यह शक्ति मनुष्य को केवल आत्मानुशासन से ही मिलती है। तैत्तिरीय उपनिषद् (III.2) कहता है : 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व'—तप से अर्थात् आत्मानुशासन द्वारा ब्रह्म को जानो, जहाँ इस आत्मानुशासन का अभाव है, वहाँ उच्च नैतिक व आध्यात्मिक भावों को समझने की, उनको ग्रहण करने की, और उनको आत्मसात् करने की सामर्थ्य का भी अभाव होगा। आज हमारे राष्ट्र को, उच्च मूल्यों और विचारों को आत्मसात् करने के लिए, अपने अन्दर यह सामर्थ्य पैदा करनी है। इतिहास बताता है कि इन विचारों को ग्रहण करने और रखने की, सामर्थ्य हम में है। इन विचारों से हमें प्यार रहा है, तथा उनको मन में स्मरण शक्ति के बल पर सुरक्षित रखा गया है। किन्तु इच्छाशक्ति और मानवताभाव की प्रेरणा के अभाव में, वे हमारे मस्तिष्कों में, निष्क्रिय और निष्फल पड़े हुए हैं; हृदय और स्नायुतन्त्र में, अस्थियों और मांसपेशियों में, अन्तःस्रवण न हो सकने के कारण, जीवन के अनुभव में प्रकाश न पा सके। यह एक-दूसरे प्रकार का अनुभव है, तथा वेदान्तिक चरित्र का फल चखने के लिए, हमें इस प्रकार के अनुभव में प्रवेश करने की आवश्यकता है। वेदान्तिक चरित्र के अन्तर्गत आती है, स्पष्ट गहन दृष्टि, व्यापक सहानुभूति और धनी व्यावहारिकता। जहाँ केवल स्मृति है और आत्मसात्करण बिलकुल नहीं, वहाँ मनुष्य केवल विचारों का भण्डार बन जाता है, तथा भण्डार तो भण्डार मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं। साठ वर्ष से अधिक हुए स्वामी विवेकानन्द ने हमें, अपनी शिक्षा में विचारों के आत्मसात्करण को लक्ष्य बनाना सिखाया था, केवल उनका भण्डार बनने से संतुष्ट होना नहीं। वे कहते हैं :

शिक्षा तुम्हारे मस्तिष्क में भरी गयी जानकारी की राशि नहीं है, जहाँ आजीवन अपचित पड़ी, ऊधम मचाती रहे। हमारे लिये आवश्यक है, जीवन-निर्मायक, मानव-निर्मायक, चरित्र-निर्मायक, विचारों का आत्मसात्करण। यदि तुमने पांच विचार आत्मसात् कर लिए, तथा उनको अपने जीवन और चरित्र में रूप दे दिया, तो तुम्हारी सामर्थ्य उस आदमी से अधिक है, जिसने समस्त पुस्तकालय को कंठस्थ कर रखा है। 'यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य'—चन्दन ढोने वाला गधा केवल बोझ को समझता है, चन्दन के मूल्य को नहीं। यदि शिक्षा और जानकारी एक-रूप होते तो पुस्तकालय संसार में सबसे बड़े मनीषी होते, तथा विश्व-कोश सबसे बड़े ऋषि।[1]

प्रख्यात कवि भर्तृहरि का उद्धरण देते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि मस्तिष्क में विचारों को लिए फिरना और उनके मूल्य को न जानना, चन्दन ढोने वाला गधा बनना जैसा ही है। जैसी कि एक अंग्रेजी कहावत है : 'चम्मच रसे का स्वाद नहीं जानती।' मुझे भय है कि आज हमारी शिक्षा का झुकाव कुछ ऐसा ही है। हमारे देश में एक विद्यार्थी या एक नागरिक अपने मस्तिष्क में विद्या का बोझ अनुभव करता है, किन्तु उसका आचरण उसके मूल्यों या उसकी शिक्षा को प्रकाशमान नहीं करता। इतिहास ने उसे बताया है कि राष्ट्रीय एकता के व्यापक विचारों के, सामाजिक न्याय के, अभाव में उसके देश ने बारम्बार अपनी स्वतन्त्रता खोई है। उसने हजार वर्ष तक विदेशी आक्रमणों द्वारा अपमान और उत्पीड़न सहे हैं। ये सब पढ़-लिखकर भी वह ऐसे ढंग से आचरण करता है कि जिस स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय एकता को अनेक दशकों तक संघर्ष करके जीता है, वह जोखिम में पड़ सकती है। उसने अपने अध्ययन से अपने देशवासियों के दुःख-सुख के साथ भावात्मक एकरूपता लानी सीखी जिससे उसका जीवन, आचार और चरित्र, उसके देश की एकता, शक्ति और उन्नति की, एक गारण्टी बन सके।

शिक्षा का उद्देश्य

ऐसी ही स्थिति, तर्क या विधि, विज्ञान या नागरिकशास्त्र, दर्शन या धर्म जैसे अन्य क्षेत्रों में भी मिलती है। विधिशास्त्र अध्ययन करना और अवैध आचरण करना, नागरिकशास्त्र अध्ययन करना और सामाजिक भाव से अनभिज्ञ रहना, विज्ञान अध्ययन करना और वैज्ञानिक मनःस्थिति से अनभिज्ञ रहना—शिक्षा का एक उपहास करना है। ऐसी शिक्षा विचारों की सक्रियता प्रदान नहीं करती; वह चरित्र बल में, व्यक्तित्व की समृद्धि में, तथा जीवन और क्रिया की कुशलता में फलित नहीं होती। ये पचाये और आत्मसात् किये हुए विचारों का फल है, ठीक उसी प्रकार जैसे शारीरिक कार्यकुशलता तथा शारीरिक शक्ति पचाये और आत्मसात् किये हुए

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 3, 302।

अन्न का फल हैं। अपचा अन्न, शरीर का विष तथा शत्रु बन जाता है। उसी प्रकार, अपची विद्या भी मन का विष तथा शत्रु बन जाती है। मिथ्या अभिमान थोथा सयानापन, और इन्हीं के सदृश मन के दूसरे विशेषण अपची विद्या के विषैले फल हैं। जहाँ विद्या आत्मसात् करली गयी, वहाँ मिथ्या अभिमान नहीं हो सकता। हमारा साहित्य हमें बताता है कि 'विद्या ददाति विनयं'—विद्या नम्रता देती है। श्री रामकृष्ण कहते हैं, 'जब धान पकता है, तो झुक जाता है; जब पका नहीं होता तो तनकर खड़ा रहता है।' जब विद्या प्रज्ञा में पकती है, मनुष्य नम्र हो जाता है; जब वह प्राप्त नहीं हुई होती, तो मनुष्य पर मिथ्या अभिमान और अहंकार राज्य करते हैं। शिक्षा से हमें विद्या उपार्जन में, उसे पचाने और आत्मसात् करने में, अवश्य सहायता मिलनी चाहिए। इस पची हुई विद्या का एक अंश भी हमें तुरन्त शक्ति देता है। यदि यह आत्मसात्करण उसकी शिक्षा पद्धति में थोड़ा भी प्रवेश कर सके तो समस्त राष्ट्र एक नवीन बल और संकल्प शक्ति की तरंगों को अनुभव करेगा। स्वामी विवेकानन्द ने मानव-निर्माण द्वारा राष्ट्र-निर्माण करना सिखाया था। उनका यही सपना था। उनकी यही कामना थी।

इस अर्थ में हम जब मनुष्य बन जायेंगे तो अपने दर्शन के विचारों के विद्युत् स्पर्श को अनुभव करेंगे। वे मनुष्यों को, तथा उनके चारों ओर के जगत को गति देना आरम्भ कर देंगे। इस उपनिषद् के प्रारम्भिक शब्द कि ईश्वर सब्र वस्तुओं में है, या गीता में भगवान श्रीकृष्ण के शब्द कि वे परमात्मन्, सब प्राणियों के हृदय में वास करते हैं, फिर केवल पवित्र वाक्य तथा धार्मिक भाव ही नहीं रह जायेंगे, बल्कि हमारे रक्त में, हमारी धमनियों में प्रवेश करेंगे, और हम बिना किसी भेदभाव के मानव की सेवा और प्यार को ही ईश्वर की आराधना मानकर स्वीकार करेंगे।

स्वामी विवेकानन्द ने भारत को, इस महान् राष्ट्रीय जीवन लक्ष्य के बोध के प्रति जागरूक कर दिया। उन्होंने ईश्वर द्वारा मानव एकता की गहन दृष्टि का, पूरब व पश्चिम में, सर्वत्र समान भाव से, प्रचार किया। उन्हें प्रतीत हुआ कि मानव पृथक्ता की घोर रात्रि, जिसमें अन्याय, दुःख और कलेश भरे हैं, अब बीत चुकी है और उनका देश एक महान् युग के प्रवेश द्वार पर खड़ा है, जहाँ वेदान्तिक विचारों का अनुभव अपने देश के भीतर और बाहर, जीवन और समाज में होने वाला है।

अपनी जागृति की ऊर्जाओं को सर्वत्र मानव सेवा की रचनात्मक धाराओं में बहाने के लिए, भारत को अपने वेदान्त की गहन दृष्टि की आवश्यकता है। उपनिषदों की शिक्षा को उसकी सन्तानों द्वारा आत्मसात् कर लेने की आवश्यकता है, जिससे कि वे यह सेवा अपने प्रति और संसार के प्रति करने के लिए शक्तिशाली बन जायें। स्वामी विवेकानन्द ने यह महसूस किया था कि वेदान्त के महान् विचार, जो अभी तक कुछ ही लोगों की सम्पदा रहे हैं, तथा प्रत्येक युग में, इने-गिने प्रतिभा-सम्पन्न लोगों ने जिनको अनुभव किया और पुनः प्रमाणित किया, अब उन्हें प्रत्येक देश के प्रत्येक मनुष्य की सम्पदा बनना चाहिए। वह इस वैज्ञानिक युग की बौद्धिक तथा

आध्यात्मिक आवश्यकताओं की यथेष्ट रूप से पूर्ति करते हैं। उनकी मान्यता थी कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञान पश्चिम की देन है, उसी प्रकार आधुनिक संसार को वेदान्त का विचार भारत की देन है। भारत का जहाँ तक सम्बन्ध है, जैसी कि स्वामी विवेकानन्द ने उसकी व्याख्या की, वेदान्त, आज भारतीय मन की सर्वोच्च आकांक्षाओं का प्रतिभू बनकर खड़ा है, उसके आध्यात्मिक और लौकिक, दोनों क्षेत्रों में; क्योंकि स्वामी जी की मान्यता के अनुसार आधुनिक विज्ञान, शिल्प विज्ञान और सामाजिक विचार, ये सभी वेदान्त का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत करते हैं। वेदान्त धार्मिक और लौकिक के बीच, श्रद्धा और तर्क के बीच, कोई विरोध नहीं मानता। वेदान्त और आधुनिक विज्ञान के भाव के आत्मसात्करण को ही स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय शिक्षा की अपनी योजना का सारभाग बनाया था। इस प्रकार हम मनुष्य के समग्र-कल्याण को, लौकिक और आध्यात्मिक, सामाजिक और परासामाजिक को, सुनिश्चित बना सकते हैं।

अनुभवों का संश्लेषण

अब हम ईशोपनिषद् के नवें से चौदहवे मन्त्रों का अध्ययन करेंगे, जो संकेत और परामर्श द्वारा कर्म तथा उपासना, क्रिया तथा आध्यात्मिक ध्यान के विरोध का समन्वयन करने का प्रयत्न करते हैं। इन मन्त्रों की भाषा दुर्बोध है। अतीत के महान् भाष्यकारों ने, अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार इनकी व्याख्या हमें दी है। किन्तु भारत के आध्यात्मिक तथा दार्शनिक जगत् में, उनका उच्च स्थान होने पर भी, उनमें से किसी भाष्यकार ने भी इन मन्त्रों के सार विचार के साथ यथेष्ट न्याय नहीं किया। यह कहना पड़ेगा कि स्वयं भाष्यकार भी इस तथ्य से अवगत थे। उन्हें एक अतिरिक्त असुविधा यह भी थी, कि उन्हें अपने विशिष्ट धर्म ज्ञान, दृष्टिकोणों तथा तत्कालीन मतवादों के वादविवादों की पृष्ठभूमि में, इन मन्त्रों की व्याख्या करनी पड़ी थी। किन्तु हम आज इन मन्त्रों को, उपनिषदों के सामान्य विषय तथा मनोभाव के सन्दर्भ में, एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण से अध्ययन करने की सुविधापूर्ण स्थिति में हैं। जैसा कि हमने अभी देखा, विश्वपरकता इस साहित्य का स्वभाव है, तथा मानव परिपूर्णता उसका विषय। उसके विचार की उदात्तता, समग्र अनुभव के संश्लेषण से प्राप्त है, तथा पृथ्वी और आकाश, मनुष्य और ईश्वर, काल और नित्यता के आर-पार फैली है। उसके धर्म की धारणा, मानव के सभी पहलुओं को समाविष्ट करते हुए, अनन्त है। उसने अपनी गहन दृष्टि में निहित आशयों को, स्वयं स्पष्ट नहीं किया। हमने पहले भी कहा था, गीता ने इस काम को कुछ शतियों पश्चात् किया; किन्तु उपनिषदों की सर्वसमावेशी दृष्टि ही मानव परिपूर्ति के क्षेत्र में विचार तथा क्रिया के प्रत्येक परवर्ती विकास तथा सूत्रीकरण के लिए प्रतिभू बनी।

इस व्यापक दर्शन के दृष्टिकोण से ये छह मन्त्र पढ़ने चाहिए। इसका पूर्ण

अध्ययन तो गीता है। गीता को ईशोपनिषद् से प्रेरणा मिली थी। यदि हम गीता के उपागम को अपना मार्ग-दर्शक बनायें तो इन छह दुर्बोध मन्त्रों का स्पष्टीकरण सरल हो जायगा। छह मन्त्रों में पहले तीन इस प्रकार हैं :

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः॥

जो अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो विद्या में ही रत हैं, मानों वे उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥

वे कहते हैं विद्या का एक फल होता है, तथा अविद्या का दूसरा; उन मनीषियों से जिन्होंने इसकी हमारे लिए व्याख्या की थी, ऐसा ही सुना है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ् सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

जो विद्या और अविद्या दोनों को साथ जानता है, अविद्या द्वारा मृत्यु को जीतता है, तथा विद्या द्वारा अमृतत्व अनुभव करता है।

'अविद्या' तथा 'विद्या' शब्दों का अर्थ क्रमशः अज्ञान और ज्ञान होता है। अक्षरशः अर्थ लेने पर मन्त्र उलझा देने वाले हैं। मन्त्र कहता है कि जब कोई मनुष्य अविद्या की उपासना करता है, वह घोर अन्धकार में जाता है, यह हम समझ सकते हैं। किन्तु विद्या की उपासना करने से वह अधिक अन्धकार में कैसे जा सकता है? इसलिए इन दोनों शब्दों का अर्थ अक्षरशः नहीं लगाया जा सकता। उनका एक विशिष्ट प्राविधिक अर्थ लेना पड़ेगा। क्योंकि अगले मन्त्र में ही बताया है कि विद्या से एक परिणाम निकलता है, और अविद्या से बिलकुल दूसरा; और तीसरा मन्त्र यह कहकर समाप्त करता है कि विद्या और अविद्या दोनों का अभ्यास करने से, विद्या द्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है, तथा अविद्या द्वारा मनुष्य मृत्यु को जीतता है।

न केवल विद्या और अविद्या शब्द ही, किन्तु मृत्यु और अमृत शब्द भी एक विशिष्ट प्राविधिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कई उपनिषदों में प्रपंच रूपी जगत, अव्यक्त और व्यक्त दोनों अवस्थाओं में मृत्यु बताया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (I.ii.1) कहता है :

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्।
अशनाययाऽशनाया हि मृत्युः।

आदि में यहाँ कुछ भी नहीं था, वह मृत्यु से आच्छादित था; (मृत्यु) जो भूख (हिरण्यगर्भ) है; क्योंकि भूख ही मृत्यु है।

इसके विपरीत विकासशील जगत के पीछे और परे जो निर्विकार तत्त्व है, उसकी संज्ञा अमृत है। बृहदारण्यक उपनिषद् (II.iii.1)फिर कहता है :

द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं।
चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥

ब्रह्म (परमतत्व) के वास्तव में दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, सीमित और असीम, निश्चित और अनिश्चित।

आत्मा और अनात्मा

वेदान्त के अनुसार हमारे अनुभव का जगत्—अनात्मा और आत्मा—दो वर्गों का बना हुआ है। [शंकराचार्य के शब्दों (ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका) में, 'युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचर।'] विद्या आत्मा के ज्ञान का सूचक है, निर्विकारतत्त्व का, अमृत का, जब कि अविद्या, अनात्म के ज्ञान का सूचक है, विकारशील जगत का, मर्त्य का; आत्म तथा अनात्म दो नहीं हैं बल्कि एक। छान्दोग्य उपनिषद् (VII.xxv.2) कहता है 'आत्मैवेदं सर्वम्'—यह सब केवल आत्मा ही है।

अपने जन्म से ही मनुष्य को इन दो वर्गों में से एक, अर्थात् अनात्म जगत का बोध होता है। वह इस जगत में कूद पड़ता है, उसको चलाता है तथा उससे चलाया जाता है, अन्त को मौत पकड़ ले जाती है। वह उसका अपने भीतर संचालन करता है दैनिक जीवन में, अपनी शिक्षा में, अपने विज्ञान में, अपने सामाजिक क्रिया-कलापों में। उसका स्वरूप और रहस्य समझने के लिए वह ज्ञान, विज्ञान, और दर्शन के ढाँचे तैयार करता है। अति अनुकूल परिस्थितियों में संसार सागर में अपनी जीवन नौका, कुछ मात्रा में, सफलतापूर्वक खेने में यह ज्ञान सहायक होता है, और एकदम निकृष्ट परिस्थितियों में उसको दुर्दान्त तरंगों में भग्न पोत बनाकर छोड़ देता है। सफलता में या विफलता में, दोनों अवस्थाओं में, वह जगत् के रहस्य से चकित और उसके सच्चे स्वरूप से अनभिज्ञ ही रह जाता है। नवें मन्त्र की प्रथम पंक्ति में इसी बात का उल्लेख है :

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

घोर अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं, जो अविद्या की उपासना करते हैं। अनात्म के जिस ज्ञान को मनुष्य ने श्रमपूर्वक उपार्जन किया, अन्त में वह केवल निकला एक पाण्डित्य-पूर्ण अज्ञान का रूप। वह केवल 'ढाँचे का ज्ञान है, विषय-वस्तु का ज्ञान नहीं', जैसा कि मैंने एडिंगटन का उद्धरण देकर बताया था—'वह बदलती हुई छायाओं का ज्ञान है।' सर जेम्स जीन्स कहते हैं :

> भौतिक विज्ञान ने भौतिक पदार्थ और विकिरण के जगत् का अध्ययन आरम्भ किया था, और पाया कि वह दोनों में से किसी एक के स्वरूप का भी, अपने लिए भी, वर्णन या चित्रण करने में असमर्थ है। प्रकाश अणु (फोटॉन), विद्युदणु (इलेक्ट्रोन) तथा प्रत्यक् अणु (प्रोटॉन) भौतिक विज्ञानी के लिए उतने ही निरर्थक हो गये हैं, जितने कि बीजगणित आरम्भ करने वाले दिन,

> एक बालक के लिए अ, ब, स होते हैं। इस समय अधिक से अधिक, हम अ, ब, स से काम लेने की रीतियाँ आविष्कार करने की आशा कर सकते हैं, विना यह जाने कि वे क्या हैं, इस परिणाम सहित कि ज्ञान की वृद्धि इस समय घटकर, जैसा कि आइन्स्टीन वर्णन करते हैं, एक अबोध्य से दूसरे अबोध्य को बाहर निकालना हो गया है।[1]

यदि उन्नत वैज्ञानिक विद्या की दशा यह है, तो साधारण मानवी ज्ञान के सम्बन्ध में यह बात कितनी अधिक सही निकलेगी।

ऐसे लोग हैं, जो निर्विकार, लोकातीत-तत्त्व के, अर्थात् आत्मा के, जगत की खोज में इस विकारशील मर्त्य अनात्म जगत् को छोड़ देते हैं। यह भी खोज का एक वैध-क्षेत्र है, तथा चेतना की रंगस्थली होने के कारण, उसे विद्या कहते हैं, उसके विपरीत भौतिक पदार्थ या अचेतन या जड़ वस्तु की रंगस्थली होने के कारण, उसे अविद्या कहते हैं। किन्तु यह विद्या भी अपर्याप्त है, आभासी दृष्टि से अधिक अपर्याप्त; मन्त्र की दूसरी पंक्ति है—

तते भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रता:

मानो, वे अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो विद्या में (ही) रत हैं।

'इव' शब्द का अर्थ है—मानो, जिसका आशय है इन्द्रियातीत की खोज। यहाँ अबाधित निन्दा नहीं है, और न पहली पंक्ति की अविद्या की खोज की निन्दा, केवल निन्दा के कारण है। आत्मा की खोज सर्वश्रेष्ठ खोज है, अनात्म की, विकासी जगत की खोज भी एक श्रेष्ठ खोज है। दसवाँ मन्त्र यह कहकर उसकी पुष्टि करता है कि प्रत्येक के पृथक् फल होते हैं, प्रत्येक का अपना पुरस्कार है, किन्तु प्रत्येक अपने आप में अकेला और अपर्याप्त है। अनुभव के दोनों क्षेत्रों, आत्म और अनात्म, की दृष्टि से—उपनिषदों की गहन दृष्टि के अनुसार (जो क्षेत्र मूलतः एक हैं, सर्वं खलु इदं ब्रह्म, 'यह सब निश्चय ही ब्रह्म है') व्यापक और समृद्ध चरित्र और व्यक्तित्व आध्यात्मिकता की प्राप्ति में सहायक हो सकता है। इसलिए ग्यारहवाँ मन्त्र कहता है :

> जो विद्या और अविद्या दोनों को एक साथ जानता है, वह अविद्या द्वारा मृत्यु को जीतता है, और विद्या द्वारा अमृतत्व अनुभव करता है।

अनात्म या विकारशील जगत् का अध्ययन विज्ञान है, यह अध्ययन, मनुष्य को विकारशील जगत पर शासन करने वाले नियमों का ज्ञान, तथा उसके विकास के हित में, उसके अधिक समृद्ध तथा अधिक पूर्ण जीवन के हित में, उसको नियन्त्रण और संचालन की सामर्थ्य देता है। किन्तु यदि यह कार्य अकेले में किया जाय, अपने अन्तर्जगत, आत्मा के जगत से सम्बन्ध रखे बिना किया जाय, तो फल जीवन वृद्धि नहीं होगा, बल्कि मृत्यु और अधिक मृत्यु होगा। इसलिए यह अनुरोध है, उसे मनुष्य के अविकारी, अविनाशी तत्त्व, आत्मा के ज्ञान के साथ संयुक्त करने का। आत्मा

[1] सर जेम्स जीन्स, द न्यू बैकग्राउण्ड ऑव साइन्स, 68।

का यह ज्ञान है, जो मनुष्य के अनात्म के ज्ञान को अर्थ और महत्त्व देता है। शंकराचार्य कहते हैं :

तदात्मना विनिर्मुक्तः जगत् असत् संपद्यते

आत्मा से विनिर्मुक्त (पृथक् किया) जगत असत् हो जाता है।

श्री रामकृष्ण ने अनात्म के जगत् को शून्य (0) से तुलना की है। शून्य का अपने में कोई मूल्य नहीं; अंक बनाने के लिए शून्य पर शून्य लगाते रहें, किन्तु उसका कोई मूल्य नहीं होगा। किन्तु उनके पहले 1 का अंक लगा दो; अकस्मात् वह अर्थपूर्ण हो जाता है; प्रत्येक अतिरिक्त शून्य के साथ अंक की अर्थवत्ता बढ़ जाती है। श्री रामकृष्ण ने कहा कि जगत के कार्य-कलाप स्वयं में शून्यों की लड़ी मात्र हैं। किन्तु आत्मा की पृष्ठभूमि में जब देखा जाय, तो वे अर्थपूर्ण बन जाते हैं; तब वे क्षणिक वस्तुएँ और प्रक्रियाएँ नहीं रह जाते, वे तात्त्विक और अर्थपूर्ण बन जाते हैं। इस प्रकार जगत अपने आप में असत्य है; वह हमारे अज्ञान का प्रक्षेपमात्र है, किन्तु आत्मा रूप में सत्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् (I.vi.1) कहता है :

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म

यह (जगत) वास्तव में तीन चीज का बना है—नाम, रूप और कर्म।

इसको, हमारे दैनिक अनुभव के जगत का स्वरूप कहकर, बृहदारण्यक उपनिषद् (II.i.20) आगे यह कहता है कि नाम, रूप और कर्म का जगत सत्य है, भ्रमात्मक (मिथ्या) नहीं, किन्तु आत्मा सत्य का भी सत्य है :

तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्

उसका रहस्यात्मक नाम 'सत्य का सत्य' है। प्राण सत्य है, तथा वह उनका सत्य है।

सत् और सम्भवन

उपनिषद् में, अनुभव के एकत्व की गहनदृष्टि की पूर्णता और जीवन की सार्थकता के सन्दर्भ में नवें, दसवें और ग्यारहवें मन्त्रों की व्याख्या हुई है। यह आत्मा और अनात्मा के उपागम की दृष्टि से की गई है। उसी दृष्टि और सन्देश को, अगले तीन मन्त्रों में एक दूसरे उपागम, ब्रह्म और जगत, सत् और सम्भवन के उपागम से दिया गया है। सत् और सम्भवन एक हैं, सत् से पृथक् सम्भवन शून्य है। सत् सम्भवन से पृथक् होकर दूर और व्यर्थ हो जाता है और इसलिए, बारहवें, तेरहवें, और चौदहवें मन्त्रों में ईशोपनिषद् हमसे अपने जीवन को दोनों की नित्य प्रस्तुत एकता के आलोक में, जीवन विताने का फिर अनुरोध करता है। बारहवाँ मन्त्र कहता है :

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥

घोर अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं जो असम्भूति (सत् से पृथक् सम्भवन का

जगत्) की उपासना करते हैं। उससे भी अधिक अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं, मानो, जो सम्भूति (शुद्ध सत् या ब्रह्म) में रत हैं।

स्वपर्याप्त जगत की उपासना, भौतिकवाद का मार्ग है। यह थोथे दर्शन की उपज है। उसकी अपनी प्रासंगिकता है; किन्तु यदि बहुत काल तक निरन्तर उसका अनुसरण किया जाय, तो वह केवल अन्धकार और दुःख में ले जायगा।

इसी प्रकार शुद्ध सत्ता की खोज भी भयावह परिणामों से भरी है। वेदान्त जिसे नेति नेति या निवृत्ति मार्ग कहता है (संन्यास मार्ग जिसमें सम्मिलित है) वह अत्यन्त सुदृढ़ साधकों को छोड़, बाकी सबको सत् के तट पर न पहुँचा कर असत् के, जीवन की आपूर्ति के, जीवन के नकार के तट पर पहुँचाता है। मनुष्य को सम्भवन के खिंचाव का हिसाब चुकाना पड़ेगा; केवल उसकी उपेक्षा करने से वह नास्तिक नहीं हो जाता।

इनमें से प्रत्येक पथ एक निश्चित फल देता है, किन्तु वह सीमित और अनिश्चित है, क्योंकि उसका आधार, तत्त्व की सीमित और अपूर्ण दृष्टियाँ हैं। तेरहवाँ मन्त्र कहता है :

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

सम्भव (शुद्धसत्) के मार्ग से एक फल मिलता है, असम्भव (सृष्टि) के मार्ग से बिलकुल दूसरा। हमें जिन्होंने यह शिक्षा दी थी, उन धीरों से हमने ऐसा ही सुना है। और इसलिए चौदहवाँ मन्त्र समाप्त करता है :

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

जो सम्भूति (ब्रह्म) और विनाश (विनाशशील जगत) को एक साथ जानता है, वह विनाश द्वारा मृत्यु को जीतता है, और सम्भूति द्वारा अमृतत्व पाता है।

'विनाश' शब्द का अर्थ नाश हो जाना है, किन्तु यहाँ विनाशशील, विनाश के अधीन-नाम, रूप, क्रिया का जगत, सम्भवन है। इस मन्त्र में आने वाली वस्तु जो विनाश शब्द से निर्दिष्ट है, वह वही है जो बारहवें मन्त्र में असम्भूति शब्द से निर्दिष्ट है। यह सामान्य उल्लेख, उस अन्यथा दुर्बोध शब्द असम्भूति के अर्थ का सुराग देता है; इसकी दुर्बोधता ने सब भाष्यकारों को चक्कर में डाल दिया है। बहुधा इसका अर्थ अनभिव्यक्ति किया जाता है; सम्भूति अभिव्यक्ति है; अ-सम्भूति अनभिव्यक्ति है। किन्तु असम्भूति को विनाश के समतुल्य मानने के कारण, सम्भूति का अवश्य ही अर्थ अविनाश होना चाहिए, अर्थात् शुद्ध सत् या ब्रह्म। एक पुराने भाष्यकार उबटाचार्य ने सम्भूति की व्याख्या इसी अर्थ में की है; वे उसका अर्थ ब्रह्म करते हैं।

याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी को सम्बोधित करके कहते हैं :

अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा

प्रिये ! यह आत्मा वास्तव में अविनाशी और अविकारी है।

गीता (II.17) भी कहती है :

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।

जिसके द्वारा यह समस्त जगत व्याप्त है, उसे निश्चय ही अविनाशी जानो, इस अपरिवर्तनीय तत्त्व का कोई भी विनाश नहीं कर सकता ।

हमारे सब प्राचीन भाष्यकार, पूर्वोक्त मन्त्रों के कुछ संकेत, शव्दों के मनमाने अर्थ लगाने के लिए विवश हो गये । फिर भी जैसा कि मैंने पहले कहा, ऐसा मालूम होता है, कि इन मन्त्रों के भाव के साथ यथेष्ट न्याय नहीं हुआ है, यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी यदि सब उपनिषदों के आलोक में इसे देखा जाय । जो व्याख्या मैंने देने का साहस किया है उसमें शव्दों के अर्थों के साथ बहुत कम स्वतन्त्रता बरती गयी है । वह इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र की अन्तर्भावना के पूर्णतः अनुकूल है । यही भावना सारे उपनिषद् चिन्तन के मौलिक विचार, अर्थात् मानव और प्रकृति की दिव्यता और जीवन की अन्तर्भूत आध्यात्मिकता का आधार बनी ।

सांसारिकता और परलोकपरता

ये मन्त्र हमारे बाहरी और भीतरी जीवन, कर्म तथा ज्ञान के अन्तर्विरोध, का समाधान करना चाहते हैं । लक्ष्य है—पूर्णता । मानव मन का झुकाव है—दो छोरों के बीच झूलते रहने का । संसारी मनुष्य तल-छट तक संसार का रस पी लेने के पश्चात्, उचाट अनुभव करता है, संसार को कोसता है, और पारलौकिक वन जाता है । ऐसी स्थिति में तत्त्वदर्शन हमारा पथ-प्रदर्शन नहीं करता, वल्कि मनुष्य के अनुशासनहीन आवेग और चित्तवृत्तियाँ ही उसे दिशा वताते हैं । वह संसार में अपने जीवन को सत्य और जीवन की उत्कृष्टता खोजने में लग सकता था, किन्तु उस समय तो वह पारलौकिकता और आन्तरिक जीवन की निन्दा करता था और अव वह सांसारिकता को कोसने लगा । ऐसे प्रसंग में इहलोक और परलोक में सदा संघर्ष रहेगा । इस पहलू पर स्वामी विवेकानन्द, लन्दन में, एक भाषण में कहते हैं :

> मनुष्य यदि सत्य को जाने विना सिर के वल कूदकर संसार की मूर्खतापूर्ण विलासिताओं में गोते लगाता है, वह आधारच्युत हो गया, वह लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता । यदि कोई मनुष्य दुनिया को कोसता है, और जंगल में चला जाता है, शरीर को तपाता है, अनशन द्वारा थोड़ा-थोड़ा करके आत्मघात करता है, अपने हृदय को बंजर या ऊसर बना लेता है, सब भावनाओं को मार देता है, तथा कटु, कठोर और नीरस वन जाता है, वह मनुष्य भी पथभ्रष्ट हो गया । ये दो अति हैं, दो छोर पर दो भूल । दोनों पथ-भ्रष्ट हो गये, दोनों लक्ष्यच्युत हो गये ।[1]

1 कम्पलीट वर्क्स, भाग 2, 150 ।

उपनिषद् द्वारा इस भूल के संशोधन का उल्लेख करते हुए वे आगे कहते हैं :

> इसलिए, वेदान्त कहता है, सब वस्तुओं में ईश्वर रखते हुए, और उसे सब वस्तुओं में विद्यमान जानते हुए, कर्म करो, निरन्तर कर्म। कर्म करो, जीवन को देवत्व प्राप्त मानकर, स्वयं ईश्वर रूप में। ····सब वस्तुओं में ईश्वर है, उसे ढूँढ़ने और कहाँ जायें ? वह प्रत्येक कर्म में, प्रत्येक विचार में, प्रत्येक भावना में, पहले से ही मौजूद है—ऐसा जानते हुए हमें कर्म करना चाहिए, केवल यही मार्ग है, अन्य कोई नहीं। ····हमने देख लिया किस प्रकार झूठी कामनाएँ हमारे सब दुःखों और पापों की जड़ हैं; किन्तु जब वे ईश्वर द्वारा दिव्यभाव, शुद्ध भाव प्राप्त करती हैं, वे अपने साथ कोई दुःख नहीं लातीं, कोई पाप नहीं लातीं। जिन्होंने इस रहस्य को नहीं जाना, उन्हें उसको खोज न लेने तक, दानवी लोक में रहना पड़ेगा। बहुत लोग यह नहीं जानते कि उनके अन्तर में, चारों ओर, सर्वत्र, अनन्त आनन्द का आकार है, उन्होंने अभी तक उसे खोज नहीं निकाला। दानवी लोक क्या है ? वेदान्त कहता है—अज्ञान।

सम्यक् ज्ञान या समग्र दृष्टि का तत्त्व ज्ञान

विद्या और अविद्या, आत्म और अनात्म तथा संभूति और असंभूति, ब्रह्म और जगत् मूलतः एक हैं, दो नहीं। अविद्या जगत को एक स्वपर्याप्त तत्त्व मानती है। विद्या ईश्वर को भी परम तत्त्व मानती है, चाहे वह एक दूर स्थित तत्त्व ही है। यह उपनिषद् कहता है, जब सच्चे ज्ञान का उदय होता है, तब यह विरोध मिट जाता है। इस सच्चे ज्ञान में समग्र तत्त्व का, सत् और संभवन् दोनों के सत्य के बोध का, समावेश है। तत्त्व-दार्शनिक ज्ञान या दृष्टि यदि ज्ञान या अनुभव के किसी पक्ष की उपेक्षा या अवहेलना करती है, तो वह पूर्ण नहीं हो सकती। उपनिषदों के तथा आधुनिक चिन्तन के अनुसार भी दर्शन समस्त ज्ञान और अनुभव का संश्लेषण है। मुण्डक उपनिषद् (I.i.1) कहता है 'ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां' अर्थात् ब्रह्म विद्या (तत्त्व दर्शन) सब विद्याओं का आधार है। इस उपनिषद् (I.i.5) के अनुसार ज्ञान दो निश्चित वर्गों में बाँटा जा सकता है—अपरा जो निम्न है, परा जो उच्च है। उसने सब विज्ञानों को, कलाओं को, धर्म-दर्शनों को, धर्मतन्त्रों के पवित्र ग्रन्थों को जिसमें वेद भी शामिल हैं, अपरा वर्ग में रखा है। तथा परा वह है, उसका कहना है, 'यया तदक्षरमधिगम्यते' जिसके द्वारा वह अक्षर तत्त्व अनुभव होता है। इसलिए समग्रता के अन्तर्ज्ञान में तत्त्व के दोनों पक्षों, परा और अपरा, का समावेश होना चाहिए। यदि ब्रह्मविद्या, सर्वविद्या की प्रतिष्ठा या आधार है, तो उसे विद्या के दोनों रूपों अर्थात् परा और अपरा का संश्लेषण होना आवश्यक है।

यह कहकर गीता (XIII.2) इसका समर्थन करती है कि ज्ञान, तत्त्व दर्शन,

अनात्म और आत्मा के ज्ञान के संश्लेषण हैं :

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।

डयूरण्ड ड्रेक कहते हैं, 'सब विज्ञानों के संश्लेषण द्वारा ज्ञान का अर्थनिरूपण तत्त्व दर्शन है ।' ए० एन० व्हाइटहेड कहते हैं, 'समस्त विज्ञानों के सामंजस्य और पूर्ति के ध्येय को लेकर, उनका सर्वेक्षण, तत्त्व दर्शन है । इस प्रयत्न में न केवल विभिन्न विज्ञानों के प्रमाण वल्कि प्रत्यक्ष अनुभव भी चाहिए। सी० डी० ब्रोड कहते हैं, 'विभिन्न विज्ञानों के निर्णयों को लेकर मानव-जाति के विभिन्न धार्मिक तथा नैतिक अनुभवों के परिणामों को, उनमें जोड़कर और तब उनके समग्र योग पर विचार करना, दर्शन का ध्येय है ।' पालसेन कहते हैं, 'समस्त सच्चे ज्ञान का सर्वग्राही पूर्णयोग, दर्शन है ।' बेकन कहते हैं, 'दर्शन का क्षेत्र समस्त ज्ञान है ।'

अनात्म ज्ञान (अर्थात् इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा अविद्या) को, आत्मा के ज्ञान के साथ अर्थात् विद्या के साथ, जो आध्यात्मिक (अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष) विज्ञान है, संश्लेषण करके ही हमें सच्चा तत्त्व दर्शन मिलेगा । इसी से अन्ततः हमें प्रज्ञा और जीवन के प्रति सही दृष्टि की प्राप्ति होगी ।

वेदान्त के अनुसार, यह पूर्णज्ञान है । जैसा कि श्री रामकृष्ण कहते हैं यह विज्ञान सर्वग्राही ज्ञान है । गीता (VII.19) इसके बारे में कहती है, ज्ञानं विज्ञान सहितम्—विज्ञान से जड़ित ज्ञान, तथा इसको चरम आध्यात्मिक उपलब्धि घोषित करती है :

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

अनेक जन्मों के अन्त में इस अनुभूति के साथ ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है कि यह सब (जगत्) वासुदेव (अन्तर्यामी तत्त्व) है, ऐसा महात्मा (पाना) बहुत दुर्लभ है।

नित्य और लीला

आत्मा या ब्रह्म निर्विकार तत्त्व है, वेदान्त में इसे नित्य कहते हैं । सापेक्ष जगत को जब इस नित्य के आलोक में देखा जाता है, तो उसे लीला कहते हैं । और तब हमको यह ज्ञात होता है : नित्य तथा लीला एक है । इसी का दूसरी प्रकार वर्णन करते हैं : ब्रह्म तथा शक्ति, सत् तथा उसकी संभवन शक्ति एक है । श्री रामकृष्ण की गम्भीर उक्तियों में से कुछ का यही विषय है :[1]

> मनुष्य को, लीला (सापेक्ष) के चरणचिह्न अनुसरण करते हुए, नित्य (निरपेक्ष) तक पहुँचना चाहिए । यह सीढ़ियों द्वारा छत पर पहुँचने जैसा है । निरपेक्ष अर्थात् ब्रह्म की अनुभूति करके, उसे सापेक्ष अर्थात् जगत में नीचे उतर आना चाहिए और भगवान् के प्रेम के मन को आवेशित करके, भक्तों की संगत में उस स्तर पर जीना चाहिए । यह मेरा अन्तिम और पक्का मत है ।

1 द गोस्पल ऑव श्रीरामकृष्ण, 1942, 257 ।

तथा फिर

> यदि तुम नित्य को स्वीकार करते हो तो लीला को भी स्वीकार करना पड़ेगा। यह नकारने और सकारने का प्रक्रम है। तुम लीला को नकार कर नित्य की अनुभूति करते हो और बाद को तुम, उसमें नित्य की अभिव्यक्ति देखकर लीला को सकारते हो। इस अवस्था को मनुष्य, दोनों पक्षों में तात्त्विकता के दर्शन करके प्राप्त होता है : अर्थात् सगुण और निर्गुण के। सगुण चित् का मूर्त रूप है, तथा निर्गुण है, अखण्ड सत्-चित्-आनन्द।[1]
>
> अकेला ब्रह्म ही सब कुछ बन गया। इसलिए विज्ञानी के लिए यह जगत् रंग महल है—'मंजार कुटी'। किन्तु ज्ञानी के लिए वह माया का ढाँचा है।

यह गम्भीर दृष्टि हमें इस उपनिषद् के शान्ति पाठ में मिली थी, जिसका अध्ययन हमने दूसरे प्रवचन में किया था :

> वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। पूर्ण से ही पूर्ण आया। पूर्ण से पूर्ण निकल आने पर भी पूर्ण कायम रहता है।

पूर्णता की ओर

एक और अनेक के एकत्व की दृष्टि का मनुष्य के जीवन, विचार और कर्म पर गहन प्रभाव होता है। केवल ऐसी दृष्टि से ही मनुष्य का सर्वतोमुखी विकास आश्वस्त हो सकता है। इसी से उसकी बुद्धि और हृदय साथ-साथ विकसित होते हैं और पूर्णता की प्राप्ति, यहाँ और अभी सुनिश्चित हो जाती है। यही दृष्टि ज्ञान, कर्म और भक्ति के मार्गों का एकीकरण करती है तथा चरित्र की पूर्णता का मार्ग प्रशस्त करती है। यही बात गीता के सन्देश का मर्म है। उसके चौथे अध्याय के अठारहवें श्लोक में इसको एक अनुपम ढंग से प्रस्तुत किया गया है :

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

जो कर्म में अकर्म देखता है, तथा अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह योगी है, और समस्त कर्मों का कर्त्ता है।

श्री रामकृष्ण द्वारा अपने प्रिय शिष्य नरेन्द्र को (जो स्वामी विवेकानन्द का संन्यासपूर्व नाम था) ईश्वर की यह पूर्ण दृष्टि देने की कथा एक बड़ी रोचक घटना है। गुरु, चार वर्ष पहले से ही, जब उनकी प्रथम भेंट हुई, अपने शिष्य को इस पूर्ण दृष्टि की शिक्षा दे रहे थे। नरेन्द्र ने, शक्ति या ईश्वर के गुण रूप को ब्रह्म या निर्गुण निरपेक्ष तत्त्व से अभिन्न होने के दार्शनिक महत्त्व को पहले ही अनुभव कर लिया था। नरेन्द्र के बोध में इस उन्नति को अंकित करने वाली घटना दो बरस पहले हो चुकी थी, तथा गुरु उस समय बहुत प्रसन्न हुए।

[1] वही, 477–78।

गुरु गले के घातक रोग (कैंसर) से पीड़ित थे।

उनके पार्थिव जीवन के कुछ ही दिन शेष बचे थे। शरीर के स्तर पर घोर पीड़ा का मुकाबला कर रहे थे। उनकी बेजोड़ ईश्वरीय भाव-दशाएँ तथा उनके शिष्यों और भक्त-मण्डली के लिए निरन्तर उपदेश हो रहे थे। युवक नरेन्द्र, ईश्वर दर्शन की तीव्र इच्छा से व्याकुल था। स्वामी विवेकानन्द के एक गुरु भाई स्वामी शिवानन्द के 7 दिसम्बर 1927 के पत्र का एक उद्धरण देते हुए, रोमें रोलां इस स्मरणीय घटना के विषय में लिखते हैं :

> स्वामी शिवानन्द ने मुझसे कहा, उस दिन वे कलकत्ता के निकट कासीपुर के बगीचे में थे, जब नरेन्द्र ने सचमुच उस अवस्था को पा लिया। उसे संज्ञा-हीन पाकर, उसके शरीर को शव जैसा ठण्डा देखकर, हम लोग घबराकर गुरु के पास दौड़े गये, और जो कुछ घटा उनसे बता दिया। गुरु ने कोई चिन्ता प्रकट नहीं की; केवल थोड़ा मुस्कराये और 'बहुत अच्छा' कहकर चुप हो गये। नरेन्द्र को बाह्य चेतना आयी और गुरु के पास आये। गुरु ने उनसे कहा, 'अच्छा अब तुम समझे ? यह (सर्वोच्च अनुभूति) अब से ताले-कुँजी में बन्द रहेगी। तुम्हें माँ का काम करना है। जब यह समाप्त हो जायगा, वे ताला खोल देंगी।' नरेन ने कहा, 'गुरुजी ! मैं समाधि में सुखी था। अनन्त आनन्द में, मैं संसार को भूला हुआ था। मैं आपसे विनय करता हूँ, मुझे उसी दशा में रहने दीजिए।' 'तुझे धिक्कार है', गुरु चिल्ला उठे, 'कैसे तुम ऐसी चीज माँग सकते हो ? मैं तो समझता था कि तुम जीवन के एक महान् पात्र हो, और तुम हो कि एक साधारण मनुष्य के समान व्यक्तिगत सुख में डूबे रहना चाहते हो।....यह अनुभूति तुम्हारे लिए माँ की कृपा से इतनी स्वाभाविक हो जायगी कि साधारण अवस्था में, तुम एक ही ईश्वर का सब प्राणियों में दर्शन करोगे; तुम संसार में महान् कार्य करोगे; तुम मनुष्यों में आध्यात्मिक चेतना लाओगे, तथा दीन और दरिद्रों के दुःख दूर करोगे।[1]

गुरु के देहान्त के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द ने इस समग्र दृष्टि के व्यावहारिक प्रयोगों के सन्देश का उद्घोष पूरब और पश्चिम में किया। इसमें से उन्होंने व्यापक आध्यात्मिकता विकसित की जिसमें जीवन तथा क्रियाकलाप का प्रत्येक पक्ष समाविष्ट है। विवेकानन्द साहित्य की अपनी 'भूमिका' में स्वामी विवेकानन्द की एक अंग्रेज शिष्या सिस्टर निवेदिता ने अपने गुरु के दर्शन के व्यावहारिक आशय को व्यक्त किया है। उनके सर्वसमावेशी अद्वैत दर्शन का उल्लेख करके वे कहती हैं :

> यही तो हमारे गुरु के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। क्योंकि इसी से वे सम्मिलन बिन्दु बन जाते हैं, न केवल पूरब व पश्चिम के, बल्कि भूत और भविष्य के भी। यदि अनेक और एक सचमुच वही एक तात्त्विकता है, तो केवल पूजा की सब विधि ही नहीं, किन्तु समान भाव से, कर्म की सब प्रणाली, संघर्ष की सब प्रणाली, रचना की सब प्रणाली, साक्षात्कार करने के मार्ग हैं।

[1] रोमें रोलां, लाइफ ऑव रामकृष्ण, 268।

अब से इहलोक, परलोक में कोई भेद नहीं रहेगा। श्रम करना उपासना करना है। विजय करना ही त्याग करना होगा। स्वयं जीवन ही धर्म है। उपार्जन और संचय करने का एक मार्ग है और त्याग का दूसरा, परन्तु दोनों ही बराबर कठिनाइयों से भरे हैं क्योंकि दोनों में ही जीवन को एक न्यास के रूप से जीना होता है।

यह छोटा सा परिच्छेद ईशोपनिषद् के इन छः मन्त्रों की क्या, समग्र ईशोपनिषद् के अर्थ और तात्पर्य की, बहुत सुन्दर व्याख्या है।

छः

ईशोपनिषद् (क्रमशः)

ईशोपनिषद् के पूर्व विवेचन में नवें से चौदहवें मन्त्र की व्याख्या करते हुए मैं यह बता चुका हूँ कि किस प्रकार कर्म और अध्यात्म के संगम से पूर्ण ज्ञान के दर्शन की उपलब्धि होती है। उपनिषदों के इस विचार को ध्यान में रखते हुए भगवद्गीता में जीवन और कर्म के इस दर्शन को विस्तार से बताया गया। स्पष्ट किया गया कि व्यक्ति के अन्तर्मनन और बाह्य आचरण को कैसे संगति प्रदान की जाए। उपनिषद् में कहा गया था कि केवल बाह्य जगत पर ध्यान केन्द्रित करना, और अनात्म जगत में रहना तथा ऐसा करने में आत्मा की अवहेलना करना घोर अन्धकार में प्रवेश करना है; और उसके विपरीत इस जगत की, जिसे हम देखते, स्पर्श करते और संचालन करते हैं, अनदेखी करके केवल रहस्यमय अन्तर्जगत में फँस जाना 'मानो, उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करना है।' उपनिषद् कहता है कि आवश्यकता यह समझने की है कि तात्विकता एक है, जो बाह्य भीतर की, अनात्मा व आत्मा की, अनेक और एक की परिसीमाओं से अछूती है, तथा हमको अपना जीवन इस सर्वग्राही दृष्टि के आलोक में जीना है।

मृत्यु काल रूप में निरन्तर हम पर सवार रहती है। उसके भय से निस्तार पाने के लिए यह आवश्यक है कि हम आत्मा के नित्य और शाश्वत स्वरूप को जानें। उसी से हमें अमृतत्व की प्राप्ति होगी।

शिक्षा से शक्ति

इस समग्र दृष्टि से उत्पन्न शक्ति द्वारा हम जीवन में दोनों तरह की कुशलता प्राप्त कर सकते हैं—बाह्य जीवन और कर्म में तथा आन्तरिक चिन्तन में। उपनिषद् कहता है, जब मनुष्य आन्तरिक जीवन में, 'पारलौकिक' जीवन में, बाह्य जगत के

पर्यावरण का, जिसमें उसका जीवन ढला हुआ है, तिरस्कार करता है, वह मानो 'अधिक घोर अन्धकार में पड़ता है।'

अर्वाचीन शताब्दियों में भारत का इतिहास इस उक्ति के सत्य का सम्यक् चित्रण करता है। हम अपने मनोभावों में पारलौकिक बन गये, जिसे स्वामी विवेकानन्द 'दुर्वलकारी रहस्यवाद' कहते हैं, उससे समस्त देश ग्रस्त हो गया। समाज में जीवन के सद्‌गुणों और लालित्यों की हमने उपेक्षा कर दी। राष्ट्र की राजनीतिक दूरदर्शिता और सामाजिक निपुणता में शिक्षा की आवश्यकता की बिलकुल उपेक्षा कर दी गयी। नकारात्मक चारित्र्य गुणों तथा व्यक्तिगत मुक्ति पर अत्यधिक जोर दिया गया। जो भोज्य केवल ओजस्वी व्यक्तियों के लिए था, वह जनसमूह के लिए विष वन गया। कालान्तर में, समस्त राष्ट्रीय देह दुर्वल बन गयी और विदेशी आक्रमणों से पराभूत हो गयी। तथा कुछ शताब्दियों तक सारा देश, राजनीतिक परतन्त्रता और सांस्कृतिक पंक में भूलुंठित रहा।

भारत के राजनीतिक इतिहास का समाहार करते हुए, विल ड्यूरेण्ट इस प्रकार लिखते हैं :

> आपसी फूट से निःशक्त होकर, वह आक्रान्ताओं से पराजित हुआ; आक्रान्ताओं द्वारा दरिद्र वन जाने पर, उसने सब प्रतिरोध शक्ति खो दी, और उसने अतिमानवी समाधानों की शरण ली; उसका तर्क था कि स्वामित्व तथा दासत्व निःसार भ्रम हैं, और यह निर्णय किया कि शरीर और राष्ट्र की स्वतन्त्रता की सुरक्षा का, इस अल्पकालिक जीवन में कोई मूल्य नहीं। इस दुःखद दशा से जो कड़वी शिक्षा हम ले सकते हैं, वह यह है कि सभ्यता का मूल्य है स्थाई सतर्कता।[1]

यहाँ उपनिषद् की उस उक्ति के सत्य का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि यदि अविद्या घोर अन्धकार में ले जाती है, विद्या उससे भी अधिक अन्धकार में ले जा सकती है। केवल अपनी आँख बन्द कर लेने से संसार का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। सांसारिकता का नकारना, संसार के नकारने से बिलकुल भिन्न है। संसार के नकारने से दुर्बलता और मृत्यु ही प्राप्त होती है। सांसारिकता का नकारना सच्चे दर्शन का मार्ग है, तथा वह जीवन को परिपूर्णता की ओर ले जाता है। यही सन्देश है जो यह उपनिषद् तथा गीता हमें देते हैं।

रहस्यमय परलोक प्रवण धर्मों का, तथा ईशोपनिषद् और गीता का मूल स्वर त्याग है। ये धर्म अतिशुद्ध और अति सुदृढ़ लोगों को छोड़कर, नकारात्मक और दुर्बलकारी प्रमाण रखते हैं, दूसरी ओर गीता और उपनिषद् वह प्रणाली है, जो सकारात्मक और शक्तिदायी है, जो अन्तस्थ दिव्यभाव की अभिव्यक्ति की, तथा चरित्र को उदार और गहन बनाने की ओर ले जाती है।

भारत के राष्ट्रीय देह में, चिरकाल तक उसकी उपेक्षा होते रहने से जिसे

1 विल ड्यूरेण्ट, 'द स्टोरी ऑव सिविलिजेशन', अवर ओरियण्टल हेरिटेज, भाग 1, 463।

उपनिषद् तात्त्विकता का अविद्या पक्ष कहते हैं, यह दुर्बलता आ जाने का विश्लेषण करते हुए स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं :

> आजकल का हिन्दू समाज, केवल आध्यात्मिक लोगों के लिए गठित है, तथा, वह और सबको बुरी तरह कुचल रहा है। क्यों ? वे लोग कहाँ जायें, जो संसार का कुछ आनन्द उसकी असारता को साथ रखकर लेना चाहते हैं ? जिस प्रकार हमारा धर्म सबको ग्रहण करता है, समाज को भी ऐसा ही करना चाहिए। पहले अपने धर्म के सच्चे सिद्धान्तों को समझकर, फिर उनका समाज में प्रयोग करके, यह कार्यान्वित हो सकेगा। यह है धीमा किन्तु निश्चित रूप से करने वाला काम।[1]

इस विषय पर सिस्टर निवेदिता के साथ बात करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा :

> अभी तक भारतीय धर्म का महादोष उसके केवल दो ही शब्द जानने में रहा है—त्याग तथा मुक्ति। इस संसार से केवल मुक्ति; गृहस्थी के लिए कुछ नहीं। किन्तु यही लोग तो हैं, मैं जिनकी सहायता करना चाहता हूँ। क्या सब जीव समान गुण वाले नहीं हैं ? क्या सबका लक्ष्य एक ही नहीं है ? और इसलिए राष्ट्र में शक्ति, शिक्षा द्वारा आनी चाहिए।[2]

कर्म उपासना है

समग्र दृष्टि के तत्त्व दर्शन की स्वाभाविक उपलब्धि 'कर्म उपासना है' का सिद्धान्त है। आन्तरिक और बाह्य, आत्म तथा अनात्म के भेद, अनुभव के विश्लेषण और अध्ययन में सहायक होते हैं, बशर्ते कि वे अन्तरिम माने जायें। अन्तिम जाँच में उनका अतिक्रमण करना पड़ता है। गीता (XIII.16) कहती है :

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्

विभक्त दिखाई देने वाले भूतों में तत्त्व अविभक्त हैं।

महानारायण उपनिषद् (XIII.5) कहता है :

अन्तः बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः

सब वस्तुओं में भीतर और बाहर नारायण व्याप्त है।

ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में हम पहले ही देख चुके हैं कि दिव्य तत्त्व इस परिवर्तनशील संसार में सबको आच्छादित किये है :

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

इस समग्र दृष्टि के आधार पर, यह उपनिषद् अविद्या या अपराविद्या तथा विद्या या पराविद्या को उसका उचित स्थान देता है। मनुष्य की आध्यात्मिक शिक्षा उसको अपरा से परा विद्या में अवश्य ले जायगी तथा फिर अपरा में वापस ले

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 5, 48।

[2] निवेदिता, द मास्टर एज आई सा हिम, 203।

आयेगी, जो उसे घोर अन्धकार से आच्छादित नहीं, बल्कि दिव्यज्योति से पूर्ण दिखाई देगी। तब कर्म वास्तव में उपासना बन जाता है। अपरा का अनुशासन मनुष्य को परा की खोज के योग्य बनाता है। उसके बिना वह खोज पूरी नहीं हो सकती है। यही चेतावनी गीता (III.4) ने दी है :

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

नैश्कर्म्य की प्राप्ति केवल कर्म से बचने से नहीं होती और न कर्म के संन्यास से वह आध्यात्मिक पूर्णता पाता है।

संसार में कर्म मनुष्य के लिए आध्यात्मिकता सीखने का एक साधन है। यदि केवल सांसारिक लाभ के लिए कर्म किया जाता है, तो वह उसके लिए बन्धनकारी बन जाता है। दूसरी ओर विद्या की खोज, आत्मज्ञान की खोज, भी तभी सार्थक होती है जब अविद्या के जगत् में अनुशासित कर्म से उद्भूत चरित्र की पवित्रता और शक्ति का सहारा साथ में हो। अन्यथा वह अहं की खोज बनकर रह जाती है जो और अधिक अन्धकार की ओर मनुष्य को ढकेल देती है। इस उपनिषद् के सदृश स्वामी विवेकानन्द ने एक विचार एक प्रभावशाली परिच्छेद में अपने 'भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रयोग' भाषण में व्यक्त किया है :

> संसार में सब ज्ञान का प्रकाश लाओ, प्रकाश, प्रकाश ले आओ, प्रत्येक के पास प्रकाश आवे, जब तक हम ईश्वर तक न पहुँच जायें, काम खत्म नहीं होगा। गरीब के लिए प्रकाश लाओ, धनी के लिए अधिक प्रकाश लाओ। क्योंकि उन्हें गरीब से अधिक उसकी आवश्यकता है; अनपढ़ के लिए प्रकाश लाओ, पढ़े के लिए और अधिक, क्योंकि हमारे काल की शिक्षा में भयंकर दम्भ भरा है। सब के लिए प्रकाश लाओ, बाकी सब प्रभु पर छोड़ दो।[1]

स्वामी विवेकानन्द शिक्षित के लिए अधिक प्रकाश लाने की आवश्यकता के बारे में कहते हैं, क्योंकि आज शिक्षा दम्भ और अहम्मन्यता पैदा करती है, न कि हृदय में ज्योति। यदि अशिक्षितों को प्रकाश की आवश्यकता है, तो शिक्षितों को उस की और अधिक आवश्यकता है। यह ईशोपनिषद् के भाव और भाषा के समस्वर हैं। यदि हम कर्म के जगत में अपना मार्ग भूल जाते हैं, तो शोचनीय बात है। किन्तु यदि ध्यान के नाम पर हम अहं-केन्द्रित और कठोर हृदय बन जाते हैं, तो अधिक शोचनीय है, क्योंकि उसमें आत्मा और अनात्मा दोनों की ही हानि है; हम न चरित्र उपार्जन करते हैं न गहन दृष्टि। गीता सिखाती है कि सच्ची आध्यात्मिकता मनुष्य को सर्वतोमुखी कुशलता देती है—कर्म के क्षेत्र में कुशलता, भाव और चिन्तन के क्षेत्र में कुशलता। यह समग्र कुशलता, तत्त्व की समग्र दृष्टि की उपज है। यह शिक्षा गीता ने उपनिषदों से पायी है और उसे एक व्यापक आध्यात्मिकता के विज्ञान और कला में विकसित किया है—ब्रह्म विद्यान्तर्गत योगशास्त्र।

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 3, 247।

धर्म और अमृत

जब मनुष्य को यह बोध होता है कि आत्मतत्त्व विद्यमान है और वह सभी प्राणियों में एक-सा है तो उसका जीवन और उसके कर्म और ही प्रकार से होने लगते हैं। इस चेतना का प्रभाव यह पड़ता है कि उसे एक नवीन प्रकार की सामाजिक आचार संहिता की प्रतीति होने लगती है। वह अपने चरित्र को सुदृढ़ करने तथा लोककल्याण की भावना से ओत-प्रोत होकर काम करने लगता है। इस प्रकार उसका सामाजिक व्यक्तित्व उभरने लगता है। ऐसे ही सामाजिक व्यक्तित्व की धारणा पुरातन यूनानी विचारधारा एवं समकालीन पाश्चात्य विचारधारा दोनों में देखने को मिलती है। परन्तु यह दुनिया, जिसमें आदमी रहता और काम करता है, आनी-जानी है। मृत्यु निरन्तर सामने खड़ी रहती है। ऐसे में भी अमृत तत्त्व की अनुभूति होते रहना ही तो धर्म का लक्षण है।

मनुष्य की उत्कृष्टता की पराकाष्ठा के बारे में समस्त अध्यात्मवादी धर्मों में मुक्ति की यही धारणा मिलती है। ऐसी मुक्ति पारलौकिक मुक्ति है, तथा केवल मृत्यु उपरान्त अनुभव होती है। उपनिषद् और गीता जीवन में प्राय: पहली उपलब्धि को धर्म कहते हैं, और दूसरी को अमृत जो क्रमश: प्रवृत्ति कर्म या बहिर्मुखीवृत्तिपूर्ण कर्म, और निवृत्ति, अकर्म या अन्तर्मुखीवृत्तिपूर्ण कर्म के फल हैं। पहला, व्यक्ति के भौतिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक पर्यावरण के कुशल नियन्त्रण तथा संचालन द्वारा अभ्युदय प्राप्त कराता है, अर्थात् सामाजिक कल्याण प्राप्त कराता है जबकि दूसरा आन्तरिक जीवन के जगत के उतने ही कुशल नियन्त्रण तथा संचालन द्वारा निश्रेयस, अर्थात् आध्यात्मिक मुक्ति को आश्वस्त करता है।

वेदान्त, जो उपनिषदों के दर्शन और धर्म का नाम है, इस समग्र दृष्टि को अपने में प्रतिष्ठित करता है, तथा सर्व-समावेशी आध्यात्मिकता का समर्थन करता है। इसी कारण, उसको सनातन धर्म नाम मिला, जिसका अनुवाद आल्डुअस हक्सले ने पेरीनियल फिलॉसॉफी या चिरंतन-दर्शन किया। अपने समग्ररूप में सनातन धर्म ईशोपनिषद् की विद्या और अविद्या का संश्लेषण है। इसी को शंकराचार्य ने गीता के अपने भाष्य के प्रथम परिच्छेद में, स्पष्ट किया है :

द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्ति-लक्षणों निवृत्ति लक्षणश्च जगतः स्थितिकारणम् प्राणिनां साक्षाद् अभ्युदयनिश्रेयसहेतुः ।

वेदोक्त धर्म निश्चय ही दो प्रकार के हैं—प्रवृत्ति लक्षण वाला और निवृत्ति-लक्षण वाला, दोनों मिलकर जगत् की स्थिति का कारण हैं और प्राणियों के अभ्युदय (सांसारिक कल्याण) और निःश्रयस (आध्यात्मिक मुक्ति) का सच्चा उपाय हैं।

धर्म के इसी सर्वग्राही रूप का संदेश सभी पूर्णावतारों ने दिया। उन पूर्णावतारों में अग्रणी भगवान् श्रीकृष्ण हैं। श्रीमद्भागवत (I.iii.28) कहती है :

एते चाशंकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्

दूसरे अवतार आंशिक थे, किन्तु कृष्ण तो स्वयं भगवान् थे।

उनके संदेश में धर्म और अमृत दोनों हैं। सामूहिक कल्याण का आश्वासन तथा व्यक्ति द्वारा अपने दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार। स्वयं भगवान् ने गीता (XII.20) में इसकी व्याख्या की है। यही वर्णन स्वामी विवेकानन्द अपने गुरु श्री रामकृष्ण के मिशन के कार्य के विषय में करते हैं—

आत्मनो मोक्षार्थं जगद्हिताय च

अपने मोक्ष और जगत् के हित के लिए।

भगवान् कृष्ण अपनी शिक्षा को ज्ञान कहते हैं जो सच्चे अर्थ में तत्त्व दर्शन है। सब ज्ञान मिलकर ही प्रज्ञा है। और यह प्रज्ञा प्राप्त कर सकते हैं, न किसी परलोक की स्थिति में, बल्कि इसी जीवन में, अपने अन्तस्थ दिव्य आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए, जीवन को एक शिक्षा प्रणाली रूप में समझ और स्वीकार करके।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

यह (ज्ञान) सब विद्याओं का राजा (तथा) सब रहस्यों का राजा (जिससे और सब रहस्य खुल जाते हैं), अति पवित्र (प्रज्ञा का अनुपम गुण) उत्तम अनुभव में प्रत्यक्ष फल देने वाला, सामान्य सामाजिक कल्याण की ओर ले जाने वाला, साधन में सुगम (जीवन-व्यापी शिक्षा-प्रणाली होने से) और फल में अक्षय है।

चरित्र और गहन दृष्टि का संश्लेषण

समग्र गहन दृष्टि का दर्शन, इस प्रकार से कर्म और चिन्तन का, लौकिक और अलौकिक का, युक्ति और विश्वास का, मानवता और दिव्यता का संश्लेषण करता है। गीता (XVIII.78) इस सर्वग्राही दृष्टि तथा मानव के लिए उसके आशीर्वाद के महत्त्व का गान अपने अन्तिम श्लोक में करती है :

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

जहाँ योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर अर्जुन हैं, वहाँ मेरे मत के अनुसार श्री, विजय, जन-कल्याण, तथा अविचलित न्याय और नीति की भावना सदा वर्तमान है।

भगवान् कृष्ण योगेश्वर हैं। उनमें है आध्यात्मिक गहन दृष्टि की पराकाष्ठा। ईशोपनिषद् की 'विद्या' के वे प्रतिनिधि हैं। धनुर्धर अर्जुन, ईशोपनिषद् की 'अविद्या' के स्वामी हैं—अत्यन्त व्यावहारिक मनुष्य, कर्म और उद्यम वाले। जब ये दोनों आध्यात्मिक बल किसी व्यक्ति या समाज में इकट्ठे हो जाते हैं, जब उदार-दृष्टि (ज्ञान) तीव्र व्यावहारिकता के साथ मिल जाती है जैसा कि ईशोपनिषद् कहता है, 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह' वहाँ, उस चरित्र में, उस समाज में, गीता कहती है, श्री, विजय, भूति (जनकल्याण) और ध्रुवानीति (अविचल न्याय) और

सदाचार की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है।

'श्री' (अर्थात् ऐश्वर्य), श्रम और बुद्धि के संयोग से पैदा होती है। केवल ज्ञान को, उत्पादक उद्यम के साथ कुशलता से युक्त करने से ही श्री प्राप्त होती है। तथा और किसी अन्य, जादूई या रहस्यात्मक उपाय से नहीं। शुद्ध विज्ञान, शुद्ध ज्योतिदायक ज्ञान है, जब वह शोध और आविष्कार के क्षेत्र में प्रवाहित होता है, और प्राविधिक कुशलता उसके साथ काम करती है तो वह सम्पत्ति और सत्ता बन जाता है, मनुष्य के लिए भौतिक सम्पत्ति का और बाह्य जगत में अभाव और भय से मुक्ति का केवल यही स्रोत है। किन्तु बाह्य जगत में अभाव और भय से मुक्ति से ही उसका कल्याण पूरा नहीं हो जाता। उसके आन्तरिक जीवन में विघटन उसकी भौतिक उपलब्धियों को मिट्टी कर देगा। उन भौतिक उपलब्धियों से सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए उसे श्री की जरूरत पड़ेगी वह तब ही प्राप्त होगी जब उसे धर्म का आश्रय प्राप्त होगा। यही है मनुष्य का सच्चा कल्याण, निःश्रयस। तथा ऐसे स्त्री और पुरुषों का समाज, एक वह समाज होगा, जहाँ न्याय और सदाचार उन्नयन, ध्रुवा-नीति, का सर्वोच्च और स्थिर शासन होगा। गीता का यह प्रमाण वचन है।

मनुष्य को अपने चरित्र में योग की आवश्यकता है—भगवान श्रीकृष्ण की अलौकिक गहन दृष्टि तथा अर्जुन के अदम्य साहस के संकलन की आवश्यकता है। महाभारत में भगवान श्रीकृष्ण ने युद्ध में भाग नहीं लिया था, वे अर्जुन के शस्त्रहीन सारथि मात्र थे। युद्ध-क्षेत्र में योद्धा, कर्मवीर मनुष्य था अर्जुन। किन्तु अर्जुन के उस कर्म के पीछे भगवान श्रीकृष्ण की गहन दृष्टि का बल था, इसी से अर्जुन अहंकार, आत्म-विनाश और अकुशल कर्म से बच गया। उसका कार्य स्थिरमति, उद्देश्ययुक्त तथा कौशलपूर्ण हो गया। आत्मतत्त्व से दूर होने पर मनुष्य के लिए कर्म, एक फंदा और पराजय बन जाता है। आत्मज्ञान से प्रकाशित कर्म, स्वयं ज्ञान बन जाता है, केवल कर्म नहीं रह जाता। कर्म, उपासना बन जाता है। गीता (IV.33) कहती है, समस्त सच्चे कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है। ज्ञान और कर्म का यह योग ही है, जो गीता सिखाती है। इसके द्वारा मनुष्य दोहरी कुशलता उपार्जित करता है, अर्थात् व्यावहारिक कुशलता, जिसके द्वारा वह समाज का एक उत्पादक अंग बन जाता है, तथा उसके जीवन और कल्याण में वृद्धि करता है; और आध्यात्मिक आन्तरिक कुशलता, जिसके द्वारा वह अमृत दिव्य स्वरूप का बोध पाता है—'अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' जैसा कि ईशोपनिषद् के ग्यारहवें मन्त्र ने हमें बताया।

यह है वह सन्देश, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता आज हमारे देश को ही नहीं, समस्त संसार को है। ईशोपनिषद् के ये सुन्दर मन्त्र यद्यपि युगों पूर्व लिखे गये थे तथापि आज भी वे व्यापक और मानवीय सन्देश देते हैं, तथा हमारे लिए एक सर्वग्राही आध्यात्मिकता का आह्वान करते हैं। इस सर्वग्राह्यता में मानवी-जीवन के प्रत्येक पक्ष, मानवी उद्यम के प्रत्येक क्षेत्र को ऊर्जित और प्रकाशित करने की सामर्थ्य है, एक सर्वतोमुखी चरित्र के विकास के लिए जीवन-व्यापी एकाग्र प्रयास करने की

चुनौती है, जो आकाश जैसा विशाल और समुद्र जैसा गहन हो। चरित्र तथा रुचियों में एकांगी दृष्टि हमारे देश का अभिशाप रहा है; वास्तव में वह समस्त संसार का ही अभिशाप रहा है। हमारे यहाँ एक ने अपने मनोभावों का विकास किया, दूसरे ने अपनी बुद्धि का, तीसरे ने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। इस प्रकार प्रत्येक ने जीवन के एक अंग को विकसित किया और अपने जीवन के एक व्यापक क्षेत्र को परती पड़ा रहने दिया। परिणामत: जीवन की उपलब्धि बहुत थोड़ी रह गयी। उपनिषद् तथा गीता मनुष्य के बाह्य और अन्तर दोनों के सुख और समृद्धि के लिए आध्यात्मिक सन्देश दे रहे हैं ताकि उसका चरित्र और व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित हो सके।

श्री रामकृष्ण को एकांगी जीवन पसन्द नहीं था। वह अपने युवा शिष्य नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) के सर्वांगीण चरित्र की बहुत प्रशंसा करते थे, और दूसरे शिष्यों के सामने उसका उदाहरण पेश करते थे। सच्ची शिक्षा का यही निचोड़ है। उसमें विज्ञान और धर्म एक-दूसरे के पूरक रहते हैं। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने व्याख्या की—'शिक्षा' मनुष्य में पहले से विद्यमान् पूर्णता का विकास है। इसी पूर्णता के लिए हमारे आध्यात्मिक गुरु हमें निमन्त्रित करते हैं। ईसा मसीह कहते हैं, 'इसलिए तुम भी वैसे ही पूर्ण होओ, जैसे तुम्हारे पिता, जो स्वर्ग में हैं, पूर्ण हैं।'

दिव्य दर्शन के लिए प्रार्थना

ईशोपनिषद् के चार समापन मन्त्र, पन्द्रह से अट्ठारह, जिनका हम अब अध्ययन करेंगे, हमें वैदिक काल के उस आध्यात्मिक साधक की मनोदशा की झलक देते हैं, जो अपने जीवन के अन्त के निकट है। उसने धार्मिक जीवन बिताया है, सत्य का दर्शन करने के लिए उसने कठिन साधना की है, उसने आध्यात्मिक बोध पाने के लिए उत्साहपूर्वक संघर्ष किया है। जिस मनोदैहिक जीव-संस्थान अर्थात् शरीर ने सत्य के दर्शन का अच्छा उपकरण बनकर सेवा की थी, उसे अब छोड़ने का काल आ पहुँचा है। अब वह जीर्ण और शीर्ण हो गया है, और जीवन के उद्देश्यों के लिए, चाहे इन्द्रियसुख हो, या सत्य और ज्ञान की प्राप्ति हो, उनके लिए अयोग्य हो चुका है। किसी समय भी उसके विलय की अपेक्षा की जा रही है।

ऐसे एक साधक की क्या मनोदशा होती है? उस संकट काल में उसके मन में भरे विचारों का स्वरूप तथा प्रकृति क्या है? एक आध्यात्मिक साधक जो उत्साहपूर्वक प्रयत्न करके आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हुआ है, किन्तु जिसने पहले मन्त्रों में प्रतिपादित, आत्मा की पूर्णता का सर्वोच्च सत्य अभी अनुभव नहीं किया, वह मृत्यु का किस प्रकार मुकाबला करता है? इन चार मन्त्रों से हमें इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त होता है।

वह अपने मन में सोचता है : मैंने आत्मा की पूर्णता नहीं पायी, मैंने आत्मा की अनुभूति नहीं पायी, मेरा सच्चा आत्मा, जो सबका आत्मा है, और जीवन मुक्ति

की अवस्था को, जीवन में मुक्ति, जो इस अनुभूति में समाविष्ट है, नहीं अनुभव किया। किन्तु मैंने एक धार्मिक जीवन जिया है, एक नैतिक जीवन जिया है, मैंने सत्य और ब्रह्म के रहस्य को जानने के लिए उत्साहपूर्वक ध्यान किया है, मैंने अपने आध्यात्मिक स्वरूप तथा उसका विश्वात्मा तथा सारी दुनिया के साथ सम्बन्ध के बोध को पाने के लिए प्रयास किया है। अब वह पन्द्रहवें तथा सोलहवें मन्त्रों में उस विश्वात्मा को सम्बोधित करता है जिसका बाह्य प्रतीक सूर्य है :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

उस स्वर्णमय मण्डल के पात्र से सत्य का मुख ढका है, हे जगत् के पोषक ! आप उसे दूर कीजिए, जिससे कि सत्यनिष्ठ, मैं आपको देख सकूं।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजा-
पत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

हे पोषक ! आकाश में अकेले चलने वाले हे नियामक ! हे प्रजापति पुत्र सूर्य ! अपनी रश्मियों को दूर करो, अपनी दीप्ति को समेट लो, जिससे कि मैं उस शुभ प्रभा का दर्शन कर सकूं। जो पुरुष तुम में है वह मैं हूं।

प्राचीन भारत के वैदिक चिन्तक सौरमण्डल में सूर्य को समस्त ऊर्जा की माता मानते थे। वह पूषन् अर्थात् पोषण करने वाला, तथा यम, अर्थात् सौरमण्डल की समस्त घटनाओं और प्रक्रियाओं का भौतिक, जैविकी तथा मानसिक भी, नियन्त्रक और नियामक है। इस विषय पर आधुनिक विज्ञान के निर्णयों में इसकी प्रतिध्वनि मिलती है। टॉमस आर० हेनरी, अपने 'स्मिटसोनियन इन्स्टीट्यूशन' नामक लेख में कहते हैं—

> 'सूर्य हमारी महान् मां है। यह माना जा सकता है कि पृथ्वी पर समस्त जीवन उस विकिरण की निःशेष वन्या का क्षणिक मूर्त रूप है, जो मां सूर्य इस भूगोलक के तल पर उंडेलती है। इसकी सहायता से हरे पौधे भूमि के जल से और वायु के कार्बन डाइऑक्साइड से शर्करा और मांड (स्टार्च) बनाते हैं, इस प्रकार आवश्यक खाद्य बनाकर पृथ्वी पर अन्य जीवों का रहना सम्भव होता है। हम शर्करा, रोटी, और मांस में सूर्यातप को खाते हैं, कोयले और तेल में करोड़ों वर्ष पुराने सूर्यातप को जलाते हैं, ऊन तथा कपास में सूर्यातप को पहनते हैं। सूर्यातप हवा और पानी, वर्षों और युगों के ग्रीष्म और हेमन्त बनाता है। जीवन तथा ज्योति के तन्तु अविमोच्यरूप से परस्पर गुंथे हुए हैं।[1]

[1] टॉमस आर० हेनरी, 'द स्मिटसोनियन इन्स्टिट्यूशन', द नेशनल ज्योग्रेफिकल मैगजीन, सितम्बर 1948।

तत्त्व और उसका प्रतीक

वैदिक ऋषियों ने इससे यह निर्णय लिया है कि यदि विश्व में कोई ईश्वर है, तो सूर्य है। मनुष्य मन द्वारा कल्पित दूसरा कौन देवता ऐसा है, जो विश्व में सब प्रकाश और जीवन का स्रोत हो। इसलिए उन्होंने दृश्यमान सूर्य का आह्वान किया और उसे पूजने लगे। आज का वैज्ञानिक मन, जो अपनी दुनिया की व्यवस्था में तथाकथित एकेश्वरवादी (अति-प्राकृतिक ईश्वर) धर्मों के किसी देवता के लिए स्थान नहीं रखता, वैदिक चिन्तकों के इस निर्णय को अति युक्ति-युक्त और व्यावहारिक समझेंगे। किन्तु इन वैदिक चिन्तकों के लिए, जो सत्य की तीव्र कामना तथा स्वतन्त्र समीक्षा के अथक् भाव से प्रेरित थे, यह एक पहला ही कदम था।

अगले कदम दृढ़ता से बढ़ते गये, जिसने मनुष्य तथा प्रकृति के स्थूल तलीय तत्त्व की सूक्ष्मतर गहराइयों, दृष्ट के पीछे अदृष्ट तत्त्व प्रकाशित किया। उन्होंने मनुष्य के बारे में अधिकाधिक आध्यात्मिक विचार विकसित किये, जिसका फल हुआ ईश्वर के विषय में उनके विचारों का अधिकाधिक आध्यात्मिक शब्दों में सूत्र-बद्धीकरण। मनुष्य का विकास एक ढंग पर हुआ और तदनुरूप ईश्वर का विकास भी उसी ढंग पर हुआ। यह कहना अधिक उचित होगा कि मनुष्य के बारे में, उनकी धारणाओं में विकास का फल हुआ—ईश्वर के बारे में उनकी धारणाओं का अनुरूप विकास। उन्होंने मनुष्य को एक आध्यात्मिक तत्त्व के रूप में देखा, शरीर और मन जिसके अस्थाई परिसीमन हैं। उसी दृष्टिकोण से उन्होंने अपने (ईश्वर) सूर्य को भी देखा। सूर्य उन्हें एक सर्वव्यापी आध्यात्मिक तत्त्व दिखाई दिया। आकाश का दृश्यमाल सूर्य उस सर्वव्यापी सूर्य का एक अस्थाई परिसीमन था, एक प्रतीक मात्र था।

उनकी दूसरी बड़ी उपलब्धि तब हुई जब उन्होंने सूर्य के आध्यात्मिक तत्त्व को ब्रह्माण्ड के परम आध्यात्मिक तत्त्व का एक पक्ष मात्र मान लिया। ब्रह्म की आध्यात्मिक निरपेक्षतत्त्व की यह प्रसिद्ध वैदिक धारणा है, जो समस्त विश्व के उद्भव, पालन तथा विलय का कारण है। तैत्तिरीय (III.xii.9 : 7) ब्राह्मण कहता है :

येन सूर्यस्तपति तेजसा इदधः

जिसके तेज से प्रज्वलित होकर सूर्य तपता है।

इस परम आध्यात्मिक तत्त्व का सर्वोत्तम प्रतीक, वे सूर्य को ही मानते रहे, वह तत्त्व जो मनुष्य की वाणी और मन के परे है, और तब भी जो उसकी सब वाणी तथा मन को प्रकाशित करता है, किन्तु उसे प्रतीक मात्र ही मानते रहे। महत्तम वैदिक प्रार्थना, गायत्री में यही गहरी दृष्टि मूर्त हुई है :

ओ३म् भूर्भुवः स्वः।
तत्सवितुर्वरेण्यम्
भर्गो देवस्य धीमहि,
धियो यो नः प्रचोदयात्।

ओ३म्, यह लोक, अन्तरिक्ष और सर्वोच्च लोक ! वह वरेण्य (पूज्य) सूर्य जिस दीप्तिमान देव की महिमा का हम ध्यान करते हैं, हमें शुद्ध बुद्धि प्रदान करे।

ईशोपनिषद् के इन दो मन्त्रों के भावों की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि यह है। भक्त, आजीवन विराट् पुरुष के प्रतीक, सूर्य की पूजा में निरत रहा है। वह उस वस्तु का जिसका वह प्रतीक है, दर्शन नहीं कर सका, और प्रतीक का त्याग नहीं कर सका, वह अपने ईश्वर की पूजा 'सच्चे भाव और भक्ति' से नहीं कर सका। वह अपने भौतिक शरीर के काल के अन्त पर आ पहुँचा है, कुछ थोड़े क्षण ही शेष हैं। वह अब अपने मन को एकाग्र करता है, मरते हुए शरीर के दु:ख-दर्दों से उसे ऊपर उठाता है, तथा पन्द्रहवें मन्त्र में अपने आजीवन उपासना के पात्र से अपना सच्चा स्वरूप प्रकट करने के लिए विनय करता है :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

'सत्य का मुख स्वर्णपात्र (सूर्य का स्वर्णिम मण्डल) से छिपा हुआ है' कहकर वह आगे कहता है :

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।

हे सूर्य ! कृपया अपना मनोहर मण्डल हटा लो, जिससे कि सत्यनिष्ठ मैं, आपके सच्चे स्वरूप को देख सकूँ।

भक्त कहता है—मैं प्रतीतियों से सन्तुष्ट नहीं हूँ, मुझे आपके स्वर्णमण्डल में रुचि नहीं। मैं जानता हूँ, कि उस स्वर्णमण्डल के पीछे एक सत्य छिपा हुआ है; सच्चा सूर्य है, विराट् आध्यात्मिक पुरुष, उस दृष्ट सूर्य के पीछे, मैं उसे देखना चाहता हूँ, और उसके साथ अपना नाता अनुभव करना चाहता हूँ। 'स्वर्णमण्डल' शब्द वस्तुओं के मनोहारी भौतिक पहलुओं का द्योतक है। मैं आजीवन वस्तुओं के बाह्य के पहलुओं के क्षर सौन्दर्य को देखता आ रहा हूँ जिसमें सूर्य का सौन्दर्य भी समाविष्ट है; अब मैं वस्तुओं की गहराई में अवस्थित अक्षर सौन्दर्य को देखना चाहता हूँ। सूर्य का बाह्य सौन्दर्य, उसके सच्चे स्वरूप के आध्यात्मिक सौन्दर्य का एक प्रतीक मात्र है। कृपा करिये ! अपना सच्चा स्वरूप, अपना आध्यात्मिक विश्व रूप मुझे दिखाइए। मैं एक सत्य-धर्मा हूँ, सत्य और उसकी खोज मेरा धर्म है, मेरी तीव्र कामना है।

सूर्य को सम्बोधन करते हुए सोलहवें मन्त्र में फिर कहता है—

'पूषन्'—पोषक; 'एकेर्षे'—तू एकमात्र अकेला गगन बिहारी; सूर्य आकाश में होकर अकेला विचरता है, बिना किसी साथी के। यम, सब का 'नियन्ता', सौर-मण्डल सूर्य ही समस्त क्रिया-प्रक्रियाओं का नियन्त्रण और नियमन करता है, सौर-मण्डल के अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्माण्डीय और अत्यन्त स्थूल ब्रह्माण्डीय प्रक्रियाएँ सूर्य द्वारा शासित होती हैं। सूर्य, हे सूर्य, प्राजापत्य (प्रजापति का पुत्र, सब का पिता), व्यूह रश्मीन् (अपनी रश्मियों को हटालो), समूह (अपने तेज को) समेट लो। 'तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि' अर्थात् 'जिससे कि मैं, अत्यन्त

कल्याणमय आपके सच्चे स्वरूप के दर्शन कर सकूँ।' मैं उसे देखना चाहता हूँ, न कि आपकी इस भौतिक प्रतीति को। भौतिक सूर्य तो मैंने जीवन भर देखा। अब मैं देखना चाहता हूँ कि भौतिक सूर्य के पीछे आध्यात्मिक तत्त्व क्या है?

अपने दैनिक जीवन में, चारों ओर हम मनुष्यों तथा वस्तुओं की भौतिक वास्तविकताओं को देखते हैं; भौतिक के परे आध्यात्मिक रूप देखने की सामर्थ्य बहुत कम लोग विकसित करते हैं। संसार में हम शरीर रूप से ही एक-दूसरे के साथ निरन्तर रहते हैं, परन्तु मानसिक स्तर पर यह सब लागू नहीं है। एक समाज जितना अधिक सभ्य होता है, उतना ही अधिक भौतिकवादी होता है, और एक दूसरे के अन्तर में प्रवेश की, और अपना प्रेम भाव परस्पर पहुँचाने की सामर्थ्य उतनी ही कम होती है। उत्तरी ध्रुव के विख्यात नारवेजियन अन्वेषक, फ्रिड्जौफ नैंनसन हमारी सभ्यता के आधुनिक नगरों का वर्णन ऐसे स्थान कहकर करता है, जहाँ 'मनुष्य एक दूसरे के साथ निरन्तर रगड़ खाते-खाते गोल चिकने शून्य बन जाते हैं।' तत्त्व दर्शन बताता है कि मनुष्य अपने दृष्टभौतिक रूप तथा विस्तार में पूरा नहीं हो जाता। उसकी एक आन्तरिक गहराई है, अदृष्ट है, फिर भी पहले रूप से अधिक वास्तविक। यदि हमारा शारीरिक जीवन, अपने तथा प्रकृति की अन्य वस्तुओं के भीतर की गहराई के बोध की ओर ले जाने में विफल होता है, तो वह जीवन भी विफल है।

साधक इसीलिए सूर्य के और उसके पीछे सत्य की खोज करना चाहता है। वह सोचता है कि परिचित सूर्य की आभा, उसकी गहराई में छिपी आध्यात्मिक तत्त्व की आभा की तुलना में कुछ नहीं है। यदि बाह्य आभा कल्याण है, तो आन्तरिक कल्याणतम, 'अत्यन्त शुभ' है। हम स्वभावतः एक किसी के शरीर, यौवन तथा सौन्दर्य पर मोहित होते हैं। दृष्टिगोचर और स्पर्शगोचर तत्त्व ही हमारे ध्यान और रुचि आकृष्ट करते हैं। किन्तु हमारी दृष्टि, जब पैनी हो जाती है, तो मनुष्य के सौन्दर्य का एक नया आयाम उभर कर हमारे सामने आता है, जो भौतिक पहलुओं से अधिक आकर्षक और उत्कर्षक होता है। किन्तु थोड़े ही व्यक्ति हैं जिनके पास शरीर को प्रभेदन करके, वस्तुओं की आत्मा में जाने का समय और सामर्थ्य है। साधक वस्तुओं के सारतत्त्व, विश्वात्मा तक जाना चाहता है, सूर्य जिसका केवल एक प्रतीक है, जो समस्त विश्व का कारण, संपोषण और अन्तिम विश्रान्ति स्थल है। वह अपने मन से प्रार्थना करता है कि प्रभु कृपा करके उसे अपना सत्य और कल्याणतम रूप दिखा दें।

'किंच अहं न तु त्वां भृत्यवद् याचे' अर्थात् किन्तु मैं आपसे एक भृत्य के समान भीख नहीं माँगता हूँ। इस पद की शंकराचार्य ऐसी व्याख्या करते हैं, क्योंकि भक्त देवता के साथ अपना आध्यात्मिक नाता पहचान कर हर्षातिरेक में कह उठता है—

'यो सावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' अर्थात् सूर्य में जो परम पुरुष है वह मैं हूँ। सूर्य में जो आध्यात्मिक तत्त्व है, वही आध्यात्मिक तत्त्व मुझ में है, आध्यात्मिक दृष्टि से हम एक हैं। वास्तव में कोई भेद नहीं, केवल शरीर, भेद पैदा करता है। सूर्य एक

महान् द्युति-पुंज है, और मैं एक छोटा सा मिट्टी का ढेला, किन्तु हम दोनों के पीछे है एक ही अमृत दिव्य आत्मा। समस्त विश्व, ब्रह्माण्डीय, खगोलीय, तथा पार्थिव, की सारभूत आध्यात्मिक एकता के इस ज्ञान पर उपनिषदों ने बारम्बार बल दिया है। आकार, मात्रा या कार्यभार भेद से मूल तत्त्व में भेद नहीं आता। विश्व के ऊपरी तल पर भेद ही भेद हैं, किन्तु गहराइयों में एकता है। छोटे-बड़े सब सत्त्वों के पीछे आत्मा ही तत्त्व है। जल की एक बड़ी तरंग तथा एक क्षुद्र बूंद दोनों की समुद्र में मौलिक एकता है। इस प्रकार वेदान्त हम से अनेक के पीछे एक देखने को कहता है। सूर्य चूंकि परिमाण में इतना बड़ा है और भक्त स्वयं इतना छोटा है, इससे वह डरता नहीं। उसका ज्ञान बताता है, उसकी प्रभेदक दृष्टि उसे आश्वासन देती है, कि बड़े और छोटे के पीछे आध्यात्मिक स्वरूप का एक सामान्य एकत्व है। जैसा कि शंकराचार्य अपने विवेक चूड़ामणि (श्लोक 244) में कहते हैं :

राज्यं नरेंद्रस्य भटस्य खेटक:
तयोरपोहे न भटो न राजा।

मनुष्य एक वेशभूषा तथा राजत्व की उपाधि के कारण राजा कहलाता है, दूसरा वेशभूषा तथा कार्यभार की उपाधि के कारण, निम्नतम सैनिक श्रेणी का सिपाही कहलाता है। दोनों की उपाधि निःशेष होने पर, वह न राजा रहेगा न सिपाही, केवल मनुष्य रह जायगा।

राजनीतिक प्रजातन्त्र की भाषा में, नागरिकता, एक प्रजातन्त्र के राष्ट्र के सदस्यों को एक सामान्य सूत्र में बाँधती है। ऊँचा या नीचा कैसा भी कार्यभार वह निभाता हो, अपने नागरिकता के दर्जे में, उसका एक अहरणीय सामान्य गौरव है। आज भारत राष्ट्र का उदाहरण लीजिये। डा० राजेन्द्रप्रसाद भारत के राष्ट्रपति थे। किन्तु जब वे राष्ट्रपति नहीं रहे, तो भारत के करोड़ों अन्य नागरिकों के समान वे भी एक हो गए थे। जब अपनी भारत के राष्ट्रपति की अस्थाई उपाधि उन्होंने छोड़ी, तो प्रजातान्त्रिक सन्दर्भ में, उन्होंने भारत के अन्य करोड़ों नागरिकों में एक नागरिक रूप में अपना सामान्य व्यक्तित्व पुनः अपना लिया। उन्होंने अपना अस्थाई कार्यभार सम्बन्धी गौरव और प्रतिष्ठा छोड़कर अपनी अहरणीय राजनीतिक गौरव और प्रतिष्ठा पुनः अपना ली। इसी प्रकार किसी की उपाधि उसे छोटा बनाती है, दूसरे को बड़ा, किन्तु जब उपाधियाँ छीन ली जाती हैं, दोनों अपनी सामान्य नागरिकता तथा अपनी सामान्य मानवता में, समान हो जाते हैं। ये उपाधियाँ अस्थाई परिसीमन हैं, वे आती हैं और जाती हैं। उपनिषदों ने मनुष्य को नितान्त निरुपाधिक रूप में भी देखा है। यह है मनुष्य का आत्मा—शुद्ध तथा पूर्ण, अजर तथा अमर तत्त्व, जिसमें हम सब एक हैं। 'सोऽहं अस्मि' अर्थात् 'मैं वह हूँ'—वेदान्तिक समीकरण है, जो सर्वोच्च समीकरण : 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' पर ले जाता है।

मृत्यु का शानदार मुकाबला

ईशोपनिषद् का यह भक्त अपने मनोनीत देवता के सम्बन्ध में उसी का अनुभव कर रहा है। वह निर्बल होता जा रहा है, किन्तु केवल शारीरिक दृष्टि से; उसका मन दृढ़ और स्थिर है, तथा वह मृत्यु का शानदार मुकाबला, मृत्यु की प्रक्रिया के पूर्णज्ञान के साथ कर रहा है। सत्रहवें मन्त्र में अपने आपको सम्बोधन करते हुए वह इस प्रकार कह रहा है :

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ् शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर कृतँ् स्मर क्रतो स्मर कृतँ् स्मर॥

वायु, अनिल आदि (मेरी) प्राणशक्तियाँ, अमृत प्राण (ब्रह्माण्डीय ऊर्जा) में समाने को हैं, तथा यह (मर्त्य) शरीर भस्मीभूत हो जायेगा। ओ३म्, हे मेरे मन याद कर। अपने (पुण्य) कर्मों को याद कर, हे मन, अपने (पुण्य) कर्मों को याद कर।

भक्त अपने को अब मृत्यु में डूबता हुआ अनुभव कर रहा है, वह प्राणशक्ति जो इतने वर्ष तक उसके शरीर में होकर बहती रही थी, जिसके द्वारा उसने खूब श्रम किया, धन-उपार्जन किया, सामाजिक जीवन के दायित्व और आनन्द भोगे, तथा ईश्वर की पूजा की, वह प्राणशक्ति, अब बाह्य ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के समग्र योग में विलीन होने को, तथा उसके व्यक्तिगत शारीरिक जीवन की मृत्यु लाने को, शीघ्रता से ह्रास हो रही है। वह प्राणशक्ति जो जन्म के समय उसके शारीरिक जीवन में बाँधी गयी थी, जिसने उसके श्वास-प्रश्वास उपकरण, फेफड़ों का संचालन किया था, तथा उसके जटिल शारीरिक संयन्त्र का उन्हें प्रचक्र बनाया था; वही प्राणशक्ति जो अस्थाई रूप से उसके शरीर में इतने वर्ष कैद थी, और जिसने उसे जीवित का विशेषण दिया; वही प्राणशक्ति, वायु या प्राण अब शक्ति के बाह्य अमर सागर में पुनर्मिलन को जा रहा है। तो इस शरीर का क्या होता है? वह प्राण-रहित बन जाता है, मर जाता है, वह 'जीवित' विशेषण से वंचित हो जाता है। यह शरीर, अनेक भौतिक घटकों के एक जैव-संस्थान के एकत्व में संकलन द्वारा जमाव के कारण जीवित था, जो इस प्राण-शक्ति के माध्यम से हुआ था। इस शक्ति के बिदा होने पर, विभिन्न भौतिक घटक, जैविक एकत्व त्याग देते हैं, वे एक जमाव भर रह जाते हैं जो अपघटन करके मूल अवस्था में जाने को तैयार हैं।

भौतिक द्रव्यों को मिलाकर शरीर बना था, वह अब द्रव्यों में वापस जायेगा, और यह कार्य जितना शीघ्र होगा उतना बेहतर रहेगा। यह एक प्राचीन भारतीय विचार है, जिससे दाह-संस्कार का प्रचलन हुआ है। इस देश में शरीर को परिरक्षित करने का विचार कभी नहीं उठा, क्योंकि उस वैज्ञानिक सत्य को उन्होंने जान लिया था कि शरीर विकारशील तत्त्वों का संघटन है, तथा सच्चा मनुष्य अभौतिक है और इसलिए अमर है; तथा विनाश की धारणा का अर्थ पूर्ण शून्यता में जाना नहीं है, बल्कि वह है केवल रूप या अभिव्यक्ति का एक परिवर्तन।

भारतीय चिन्तन के अनुसार भौतिक द्रव्य अथवा ऊर्जा का सम्पूर्ण विनाश नहीं होता, तथा आधुनिक विचार के अनुसार भी यही है। सांख्य और वेदान्त के अनुसार विनाश का अर्थ है, केवल कारण में वापस जाना, तथा यह लागू होता है केवल यौगिक वस्तुओं के सम्बन्ध में। जो अयौगिक, अभौतिक और सरल है कोई विनाश उसे प्रभावित नहीं कर सकता। ऐसा तत्त्व—मनुष्य का सत्य स्वरूप, आत्मा है, जो चिद्स्वरूप होने से, सदैव एक वचनीय रहता है। इसलिए भक्त कहता है : 'इदं शरीरं भस्मान्तं भूयात्।' यह शरीर जो एक सम्मिश्रण का फल है, तथा इस कारण काल से प्रतिबद्ध है, जो मेरा इतने सब वर्ष दास रहा, उसका समय आ गया; वह जीर्ण हो गया, शीर्ण हो गया, अधिक सेवा के अयोग्य हो गया। जब प्राण उसे छोड़ देगा, अग्नि द्वारा जल्दी उसका घटकों में विघटन हो जाना चाहिए। शरीर की रासायनिक क्रिया ने इन घटकों को जैविक एकत्व में बाँधा था। मृत्यु ने उस रसायनशाला को तोड़ डाला है, अग्नि अब उन तत्त्वों को उनके मूल रूप में शीघ्र भेज दे।

अपनी मृत्यु से पहले भगवान बुद्ध ने इसी के सदृश भाव व्यक्त किये थे। अस्सी वर्ष के लम्बे जीवन तक आध्यात्मिक शिक्षा देने के पश्चात्, उस शरीर पर जो कभी सशक्त था, आयु का प्रभाव अनुभव हुआ। अपने प्रिय शिष्य आनन्द को सम्बोधन करते हुए वे बोले :

> आनन्द, वास्तव में, मैं अब, अधिक आयु के कारण क्षीण और वृद्ध हो गया; मैंने अपनी यात्रा पूरी कर ली, अपनी आयु पूरी कर ली, मेरा जीवन अस्सी वर्ष का हो चुका। जैसे एक पुरानी गाड़ी मरम्मत करके चलाई जाती है, वैसे ही मैं, समझता हूँ तथागत (बुद्ध) का शरीर चलाया जा रहा है। उस काल में जब बाह्य वस्तुओं से ध्यान हटा लिया जाता है, प्रत्येक संवेदना जब बन्द कर दी जाती है, मन की लोकातीत अवस्था प्राप्त करके उसमें जब रहते हैं (चेतोसमाधिम), बाह्य वस्तुओं के विचार से मुक्त, तब ही केवल तथागत के देह को चैन मिलता है।[1]

भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन के अनुसार प्रकृति ने विकास के अन्तिम प्रयोजन के लिए, अर्थात् अन्तर्व्याप्त दिव्य आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए, मानव-देह को सर्वश्रेष्ठ उपकरण के रूप में बनाया है। अपनी देह को, आजीवन इस उद्देश्य के लिए लगाये रखकर, तथा देह को अधिक सेवा के लिए क्षीण और अनुपयुक्त पाकर, ईशोपनिषद् का भक्त अब कहता है : मेरी प्राणशक्ति जहाँ से आयी थी तथा मेरे मनोदैहिक जीव-संस्थान रूप में जिसने अपना व्यक्तित्व बनाया, वह अमर ब्रह्माण्डीय शक्ति में जा मिले। वह आगे कहता है : 'अथ इदम् शरीरं भस्मान्तं भूयात्'—तो यह शरीर भस्म में परिणत हो जाय। तदनन्तर अपने मन को सम्बोधन करके जोर देकर कहता है :

ओ३म् क्रतो स्मर कृतँ्स्मर क्रतो स्मर कृतँ् स्मर।

[1] जे० जी० जेनिंग्स, द वेदान्तिक बुद्धिज्म ऑव द बुद्ध, 398।

ओ३म् । हे मन ! याद कर, अपने (अच्छे) कर्म, याद कर, हे मन ! याद कर, अपने अच्छे कर्म, याद कर।

मृत्यु, एक रचनात्मक क्रान्ति

मृत्यु काल में, वह अपने मन को सकारात्मक भावों पर, न कि नकारात्मक पर रहने के लिए चेतावनी देता है; पुण्य के चिन्तन के लिए, पाप के नहीं; शुभ के चिन्तन के लिए, अशुभ के चिन्तन के लिए नहीं।

धर्म, भक्त के लिए, मृत्यु काल में ईश्वर के चिन्तन और उसका नाम लेने की आवश्यकता का आदेश देते हैं। वैसे लोकवादी चिन्तन में मनुष्य को मूलतः एक शरीर मानते हैं परन्तु, तो भी मृत्यु सब जीवन का अन्त नहीं है। धर्म तो यही मानते हैं कि वह (मृत्यु) केवल शारीरिक जीवन का अन्त है। भारतीय आध्यात्मिक विचार के अनुसार, भाग्यशाली परिस्थितियों में, यह एक विदेह अवस्था में आध्यात्मिक ज्ञान की ओर एक निश्चित यात्रा का आरम्भ भी है, या साधारण परिस्थितियों में, आध्यात्मिक ज्ञान के मार्ग पर जीव की विकास यात्रा जारी रखने के लिए, दूसरे शारीरिक जीवन का आरम्भ है। धर्म के दृष्टिकोण से, मृत्यु का क्षण रचनात्मक क्रान्ति का क्षण बन जाता है। इसलिए यह मन को सकारात्मक भावों पर केन्द्रित करने का समय है, पुण्यशील विचारों पर केन्द्रित करने का। इस विषय पर गीता की (VIII.6–7) चिर प्रतिष्ठित उक्ति है, मृत्यु के बाद मिलने वाले नये जीवन पाने में, एक व्यक्ति के अन्तिम विचारों का बड़ा हाथ है :

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।

मृत्यु के समय एक मनुष्य जिस भाव को लेकर शरीर त्यागता है, उस भाव का निरन्तर चिन्तन करने के कारण, हे अर्जुन अवश्य ही उसे प्राप्त होता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।

इसलिए, सब कालों में, मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो; यदि तुम्हारा मन और हृदय मुझ में ही लगा है, तुम अवश्य मुझे पाओगे।

वैदिक परलोकवाद : देवयान तथा पितृयान

इसलिए अन्तकाल के विचार रचनात्मक महत्त्व रखते हैं और स्वयं अन्तिम विचार, जीवन-व्यापी विचारों से निर्णीत होते हैं जैसा कि गीता में कहा है : 'सदा तद् भाव भावितः।' ईशोपनिषद् का भक्त इस वर्ग का है—वह सत्यधर्मा है, जैसा कि पन्द्रहवें मन्त्र में वह अपना वर्णन करता है, अब वह अपने मन को, अपने

लम्बे जीवन में किये हुए पुण्य कार्यों को याद करने का आदेश देता है। इस स्थिति में इस प्रकार का कर्म भक्त के मन को आगे आने वाले महान् आध्यात्मिक उद्यम के लिए उद्यत रखेगा। यह भक्त विशेष, अब आगे कोई शरीर धारण करने से बचना चाहता है। और इसलिए वह अग्नि रूप में कल्पित ईश्वर से, अर्थात् विराट् दिव्य शक्ति से, उपनिषद् के 18वें और अन्तिम मन्त्र में प्रार्थना करता है :

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ।।

हे अग्नि, हमें सुमार्ग से ले चलो, जिससे हम अपने धन (सुकृत की कमाई) भोग सकें। आप हमारे सब कारनामे जानते हैं। हे भगवन् ! हमारे प्रवंचक पाप नाश कीजिए। हम बारम्बार अपनी उक्ति द्वारा आपको नमस्कार करते हैं।

हमारे प्राचीन वैदिक साहित्य में, मृत्यु के उपरान्त, जीव के जाने के लिए दो मार्गों का उल्लेख है : एक धूमदि मार्ग कहलाता है, जो धूम से आरम्भ होता है और अन्धकार से सम्बन्धित है, तथा दूसरा अर्चिरादि मार्ग कहलाता है, जो अग्निशिखा से आरम्भ होता है और प्रकाश से सम्बन्धित है। ये मार्ग क्रमशः पितृयान तथा देवयान भी कहलाते हैं। पहला मार्ग उनके लिए है, जिन्होंने सामान्य स्वार्थप्रेरित जीवन जिया और किसी लोकातीत मूल्य खोजने की अपेक्षा नहीं की। यह मार्ग, सूर्य के दक्षिणायन से भी सम्बन्धित है। दूसरी ओर जिन्होंने पुण्यमय जीवन जिया और ध्यान पद्धति द्वारा उच्च आध्यात्मिक मूल्यों को खोजा, वे दूसरे मार्ग देवयान से जाते हैं, जो सूर्य के उत्तरायण से सम्बन्धित हैं। अब असल में यह समझना कठिन है कि इन दोनों मार्गों का परलोकविद्या से क्या सम्बन्ध है। छान्दोग्य उपनिषद् (अध्याय 5) में इन दो मार्गों का ब्यौरेवार विवरण मिलता है। गीता भी अपने आठवें अध्याय के तेइसवें से पच्चीसवें श्लोकों में इसकी चर्चा करती है और छब्बीसवें श्लोक में अपना निर्णय इस प्रकार देती है :

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।।

ये शुक्ल और कृष्ण, संसार में दो शाश्वत मार्ग माने जाते हैं, एक के द्वारा पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है, दूसरे से बारम्बार जन्म होता है।

महाभारत में हमें भीष्म का उदाहरण मिलता है, जो इच्छा मृत्यु की शक्ति से सम्पन्न थे, वे बराबर कई दिनों तक शरशैय्या पर पड़े हुए, शरीर छोड़ने से पहले उत्तरायण के आरम्भ होने की प्रतीक्षा करते रहे। वेदोत्तर काल में दो मार्ग की इस धारणा ने, भारतीय धार्मिक मन को बहुत प्रभावित किया था। किन्तु उपनिषद् काल से इसका प्रभाव शिथिल पड़ गया। बौद्ध और जैन धर्मों के आन्दोलन के आरम्भ के पश्चात्, तथा बुद्धोत्तर वेदान्त में, ज्ञान और भक्ति की अभिव्यंजना के पश्चात् इस विचार का महत्त्व और भी कम हो गया। वेदान्त के कुछ सम्प्रदायों में यह देवयान मार्ग, कुछ अपने वैदिक विवरणों को छोड़कर, क्रममुक्ति की धारणा में विकसित हुआ,

अर्थात् क्रम, या क्रमशः विदेह अवस्था में जीव का विकास, जो आध्यात्मिक मुक्ति में पर्यवसान पाता है।

वेदान्तिक जीवन-मुक्ति

पितृयान सम्बन्धित अन्धकार, सांसारिकता की ओर संकेत करता है और फलस्वरूप उसमें आध्यात्मिक बोध का अभाव है। देवयान का प्रकाश आध्यात्मिक बोध के अस्तित्व का द्योतक है। किन्तु उपनिषद् इन दोनों मार्गों से सन्तुष्ट नहीं थे। नित्य शुद्ध, नित्य पूर्ण तथा नित्य प्रकाशमान आत्मा रूप में मनुष्य के सच्चे स्वरूप के आविष्कार के परिणामस्वरूप, उन्होंने एक तीसरा विकल्प, जीवन मुक्ति, जीवित अवस्था में मुक्ति, खोज निकाला। इसका अर्थ यह हुआ कि सर्वोच्च आध्यात्मिक मुक्ति अपने बाहर उच्च से उच्चतर लोकों में जाने पर निर्भर नहीं होती, और न भौतिक शरीर की मृत्यु पर। मुक्ति यहाँ और अभी मिल सकती है: 'स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है।' पूर्णता, इसी जीवन में आध्यात्मिक बोध की पूर्णता की उपलब्धि द्वारा प्राप्त हो सकती है। जैसा कि हमने देखा, यह ईशोपनिषद् के प्रथम चौदह मन्त्रों का विषय है।

उपनिषदों का अनुसरण करते हुए गीता (VIII.27) ने, दो प्रकार की मरणोत्तर उपलब्धियों के उल्लेख के बाद, इसको अपने ही मत के रूप में प्रतिपादित किया है:

नैते सृती पार्थ जानन् योगी न मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥

इन दोनों मार्गों के (स्वरूप और विस्तार) को जानते हुए योगी, विमोहित नहीं होता। इसलिए, हे अर्जुन, सदैव योगयुक्त रह।

वह इस उच्चतम उत्कर्ष का गुण, अपने कई श्लोकों में (V.19 तथा VI.31–32), ईशोपनिषद् के छठे और सातवें मन्त्रों के समस्वर ही, गान करती है:

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

जिनके मन साम्य में स्थित हो गये, उन्होंने इसी जीवन में जन्म (सापेक्षता) को जीत लिया, क्योंकि ब्रह्म निष्कलुष है और सबमें एक-सा है। इसलिए वे ब्रह्म में स्थित हैं।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

जो एकत्व में स्थित होकर, सर्वभूतों में स्थित मुझको भजता है, वह जीवन में किसी प्रकार भी बरते, मुझमें ही वह वास करता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

हे अर्जुन ! वह परम योगी माना जाता है, जो सब प्राणियों के सुख-दुःख अपने मानता हुआ सर्वत्र समभाव रखता है ।

गीता ने ऐसे चरित्र की उपलब्धि पर जोर दिया है, जो आद्योपान्त आध्यात्मिक हो । और ऐसा ही उपनिषदों में है । किन्तु दोनों ही में उन कुछ न्यून आध्यात्मिक आदर्शों की चर्चा भी है, जो साधकों के किसी न किसी वर्ग को रुचिकर थे । 'उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'—ये सभी साधक उच्चमना हैं किन्तु ज्ञानी (जो आत्मा को अपने में और सबमें बराबर देखता है) तो मेरा स्वयं आत्मा है, ऐसा भगवान श्रीकृष्ण गीता (VII.18) में कहते हैं । यह उदार सर्वग्राही दृष्टि वेदान्त का विशेष लक्षण है ।

स्वर्ग जाने के लिए प्रार्थना

ईशोपनिषद् का यह साधक उत्तरायण, अर्चिरादिमार्ग (प्रकाश मार्ग) से ले चलने के लिए प्रार्थना करता है, कि जिस पर चलने से उसे जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है, वह क्रमशः विदेह अवस्था में सर्वोच्च लोक, ब्रह्म लोक प्राप्त कर लेगा, जो ईसाइयों के स्वर्ग का समस्थानीय है । वह निश्चिन्तता के कारण, उसकी अत्यन्त मन्द गति से चिन्तित नहीं है ।

समकालीन चिन्तन के अनुसार भी यह उच्चतम लोक था। ईशोपनिषद्, एकमात्र उपनिषद् है जो वैदिक संहिता का भाग है । संहिता वेदों का पूर्वतम भाग है । सामान्यतः उपनिषद् वेदों के उत्तर भाग, ब्राह्मणों के समापन अंग हैं । क्रमबद्ध व्याख्या न होने से उपनिषदों में अपने से पुराने विचारों का विकास भी, अपने स्वयं विचारों की सर्वोच्च पहुँच के साथ-साथ मिलता है ।

तो यहाँ पर एक साधक है, जो ईशोपनिषद् के उच्च आध्यात्मिक विचारों एवं भावनाओं से अनभिज्ञ मालूम होता है, या यदि उससे वह भिज्ञ भी है, तो उस वातावरण में टिके रहने की अपनी आध्यात्मिक शक्ति पर उसे भरोसा नहीं । इसलिए वह पूर्व संहिता और ब्राह्मण भाग के विचारों की शरण लेकर स्वर्ग ले चलने की प्रार्थना करता है :

'अग्ने नय सुपथा राये'—हे अग्नि ! मुझे सुमार्ग से ले चलो जिससे मैं अपने कर्मों को भोग सकूँ ।

अग्नि अर्थात् आग, यहाँ प्राविधिक अर्थ में प्रयुक्त है, वह यह अग्नि नहीं जिससे हम परिचित हैं, बल्कि वह आदिम दैवी ऊर्जा है, जो इस ब्रह्माण्ड को धारण करती है ।

'अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्'—हे ईश्वर ! आप हमारे सब कर्म जानते हैं । मुझे आपसे उनके तथा अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति के विषय में कुछ कहना नहीं, आपसे कुछ छिपा नहीं । इसलिए, मुझे ज्योतिर्मय उत्तरायण मार्ग से ले चलिये ।

और यदि इसके लिए, मैं अभी अयोग्य माना गया हूँ, तो मेरे शेष पापों का नाश करके योग्य बनाइये।

'युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो'—मेरे कुटिल पापों का नाश कीजिए। पाप भार, संकुल मनुष्य, आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता, पाप पृथ्वी की ओर आकर्षण करता है, उसके निवारण विना, जीव स्थिरता से उच्च से उच्चतर स्तरों पर जाने की आशा नहीं कर सकता।

अन्त में वह अपने जीवात्मा को, मन ही मन प्रणाम करते हुए, ईश्वर को समर्पण कर देता है।

'भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम'—मैं आपको बारम्बार प्रणाम करता हूँ किन्तु केवल उक्ति द्वारा। विधिवत् प्रणाम करने के लिए शरीर अति दुर्बल है, इसलिए उसे वाणी द्वारा ही स्वीकार कीजिए। इस पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य कहते हैं :

किन्तु वयं इदानीं ते न शक्नुमः परिचयो कुर्तुं, भूयिष्ठां बहुतरां ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कार वचनं विधेम, नमस्कारेण परिचरेम—

किन्तु अब मैं आपकी सेवा योग्य नहीं रह गया, कि मैं अनेक शाब्दिक प्रणाम निवेदन करता हूँ, प्रणामों द्वारा आपकी सेवा करता हूँ।

मेरा मन श्रद्धा और नम्रता के भावों से परिपूर्ण है, यही कुछ मैं कर भी सकता था। भक्त विनय करता है, कृपया उसे स्वीकार कीजिए और आशीर्वाद दीजिए।

भारत में मुक्ति के विचार के साथ जो दो भावनाएँ अधिकांशतः सम्बद्ध हैं, वे हैं—संसार से जुगुप्सा तथा पुनर्जन्म का भय। साधारण तौर से ये दोनों विचार, जिसमें दूसरा, किंचित परिवर्तित रूप में, संसार के सब ही मोक्ष-परक धर्मों में पाये जाते हैं। मनुष्य की आध्यात्मिक शिक्षा में ये भावनाएँ एक प्रधान भूमिका अदा करती हैं। किन्तु बहुत से धर्मों ने इसे अतिरंजित कर दिया और फलस्वरूप धार्मिक जीवन के लक्षण को, अन्धकारमय तथा अप्रसन्न मनोदशा बना दिया। ईश्वर का आनन्द संसार के दुःख और बाधाओं से ढक गया है। ईश्वर के आनन्द की सूर्य-भासित शिखरें, मानो धर्म के महत्तम आध्यात्मिक अनुभवियों (मिस्टिक्स) के लिए संरक्षित है। महान् मुस्लिम स्त्री—संत राबिया से किसी ने पूछा 'क्या आप ईश्वर से प्रेम करती हैं ?' 'हाँ, अवश्य ही।' 'क्या आप शैतान से घृणा नहीं करतीं ?'—दूसरा प्रश्न हुआ। 'ईश्वर से प्रेम, मुझे शैतान से घृणा करने का समय नहीं देता'—उनका अभिलक्षक उत्तर था। 'हे ईश्वर ! हमें निरानन्द सन्तों से बचाइये'—सन्त टेरेसा पुकार उठीं। गुरु नानक तथा कई अन्य भारतीय सन्त अत्यन्त मानवीय थे तथा विनोदप्रिय और हँसमुख भी थे।

किन्तु पूर्व उल्लिखित दोनों भय भारत में मालूम होता है अतिरंजित हुए हैं। हमारी उत्तरकालीन धार्मिक पुस्तकें इन दोनों भावनाओं से भरी पड़ी हैं तथा हमारी सामान्य जनता से धर्म से एक ही आशीर्वाद माँगा है—पुनर्जन्म से मुक्ति। जीवन का भय, मुक्ति की यह आशा, पुनर्जन्म से बचने की यह तीव्र धार्मिक कामना,

इतनी अधिक बढ़ गयीं कि मानव के छोटे से पार्थिव जीवन की समस्याओं और प्रत्याशाओं को दृष्टि से ओझल कर दिया गया। इसने एक नकारात्मक मनोभाव पैदा करने में सहायता दी जो, उसके आत्यान्तिक रूपों में, एक जर्मन कवि के भावों की अभिव्यक्ति करती है :

नींद मीठी है, मृत्यु है उससे अच्छी
किन्तु कभी जन्म ही न होता, सबसे अच्छा था।

पिछले हजार वर्षों से यह नकारात्मक मनोभाव, हमारे भारतीय मन में गहरा गड़ता जाता है। वह एक घोर संकीर्ण व्यक्तित्व और सामाजिक बोध के अभाव में फलित होकर, मनुष्य को उसने न केवल अपने आध्यात्मिक कल्याण की खोज के लिए, बल्कि अपने सांसारिक कल्याण को खोजने के लिए भी अयोग्य बना दिया है। एक सीमा से अधिक भय होना चरित्र के लिए हानिकारक है। अतिशय भय, व्यक्तित्व का निरोध करता है, और व्यवहार में कुटिलता तथा मिथ्याचार भी लाता है।

भारतीयों का पुनर्जन्म से भय

यह हम में कैसे आ गया ? इसका उत्तर हमें अपने पिछले दो हजार वर्ष के इतिहास में मिलेगा। पारलौकिक मुक्ति की चिन्ता में, सामाजिक आचार नीति या धर्म की उपेक्षा के साथ निर्बलीकरण आरम्भ हुआ। बौद्ध, जैन, उत्तरकालीन हिन्दू धर्म जैसे, मोक्षपरक पन्थों के प्रभाव से इसका आरम्भ हुआ। ईशोपनिषद् की चेतावनी : 'अधिक घोर अन्धकार में मानों वे प्रवेश करते हैं, जो विद्या में रत हैं' की उपेक्षा की गयी; और न गीता के सकारात्मक और शक्तिदायक सन्देश को ठीक से समझने का और उस पर आचरण करने का प्रयास हुआ। आन्तरिक निर्बलता ने बाहरी मुसीबतों को विदेशी आक्रमणों के रूप में न्यौता दिया। ये बाहरी दबाव सदियों तक स्थानिक रोग बने रहे, और पदे-पदे हमारी जातीय उद्देश्य-पूर्ति में बाधक हुए। निर्बलता से अधिक निर्बलता पैदा हुई, जो ईसा की इस चेतावनी का चित्रण करती है : जिसके पास है उसे दिया जायगा, और जिसके पास नहीं है उससे वह भी छीन लिया जायगा जो उसके पास है।' निरन्तर बाधा ने एक अनुबन्धित प्रतिक्रिया पैदा की, पहले भय की, फिर निसंगता की, और आत्म-निर्भरता के बिलकुल अभाव के कारण, अन्त में समर्पण की। किसान हल जोतकर परिश्रम करता था, और अच्छी फसल पैदा करता था, शिल्पकार अपने दक्ष हाथों से सुन्दर और उपयोगी वस्तुएँ बनाता था। किन्तु अपनी कमाई के फल भोग लेने से पहले ही, एक आक्रान्ता आकर उनका श्रमसाधित धन लूट-पाट कर चल देता था। ऐसा पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता रहा। पहले आक्रान्ता बाहर के थे, परकाल में अव्यवस्थित राजनीतिक स्थिति के कारण घर में ही लुटेरे पैदा हो गये। विदेशी आक्रान्ताओं ने तथा छोटे स्थानीय

ठिकानेदारों की निरन्तर लूट-पाट से किसान, शिल्पकार तथा भारत की साधारण जनता में अपने परिवेशी जगत का भय तथा अपने भाग्य के बारे में उदासीनता पैदा हो गयी। अपने एक पत्र में, इस त्रासद स्थिति का उल्लेख स्वामी विवेकानन्द करते हैं:

> हिन्दू, मुसलमान या ईसाई के पाँव तले कुचले जाने पर, वे यह समझने लगे कि जिसकी जेब में पैसा है, उसी के पाँवों तले कुचले जाने के लिए वे पैदा हुए हैं। उन्हें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व वापस देना है। उन्हें शिक्षित करना है।[1]

दासता और दमन के इस लम्बे अनुभव ने न केवल हमारी साधारण जनता को ही प्रभावित किया, बल्कि हमारे दूसरे वर्गों को भी। आज भी, भारत के औसत शिक्षित नागरिक के चरित्र में सकारात्मक गुणों की अपेक्षा नकारात्मक गुणों का सम्मिलन अधिक है। कठिन स्थितियों से बचने की, दायित्व से बचने की, और धन कमाने के लिए ज्ञान और शिक्षा उपार्जन के लिए, तथा ईश्वर साक्षात्कार तक के लिए भी, सरल और निकम्मे मार्ग अपनाने की हममें प्रबल प्रवृत्ति है।

वेदान्त का अभय सन्देश

भारत में मानव को निर्भयता तथा शक्ति और जीवन तथा उसके दायित्वों को सहर्ष स्वीकारने की आवश्यकता थी। उसे अपने पुरुषत्व तथा सच्चे देवत्व की अनुभूति की तुरन्त आवश्यकता थी। और यह उसे स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से उपनिषदों से प्राप्त हुई। निर्भयता की इस शिक्षा में, समष्टि रूप में जनता को, मुक्ति तथा आनन्द के स्वर्ग के लिए जाग्रत कर देने की शक्ति है। इसके प्रभाव से जनता संसार को तथा उसमें अपने जीवन को, एक नये आलोक में देखेगी। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं:

> यदि कोई एक शब्द है, जो उपनिषदों से बम की तरह निकलकर अज्ञान के अम्बार पर बम-गोले की तरह फट पड़ता है, वह शब्द है अभय। और कोई धर्म जो पढ़ाना चाहिए, वह है अभय का धर्म। इस जगत में या धर्म के जगत् में सच बात यह है कि अवगति और पाप का निश्चित कारण भय है। भय है जो दुःख लाता है, भय है जो मृत्यु लाता है, भय है जो पाप को पैदा करता है। और भय का कारण क्या है? हमारे अपने स्वरूप का अज्ञान।[2]

और इसलिए उन्होंने अनुरोध किया:

> अपने आप को, प्रत्येक को, अपने सच्चे स्वरूप के बारे में सिखाओ, सोते हुए जीव को पुकारो, और देखो कि वह कैसे जागता है। शक्ति आयेगी, महिमा आयेगी, सद्भावना आयेगी, पवित्रता आयेगी, और सब जो श्रेष्ठ हैं आयेंगे; जब यह सोता हुआ जीव स्वचेतन क्रिया के लिए जगाया जायेगा। और हाँ,

1 कम्पलीट वर्क्स, भाग 8, 307।

2 वही, भाग 3, 160।

यदि गीता में कुछ है जो मैं पसन्द करता हूँ, वे ये दो श्लोक (XIII.27–28) हैं, जो भगवान श्रीकृष्ण की शिक्षा के असल भावार्थ, असल सारांश रूप में शक्तिपूर्वक निकले हैं—

जो विनाशी सब भूतों में, अविनाशी परमेश्वर को समभाव से देखता है, वही (वास्तव में) देखता है।

क्योंकि सबमें समभाव से स्थित परमेश्वर को समान देखता हुआ, अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता, और इस प्रकार वह परमगति प्राप्त करता है।

इस प्रकार वेदान्त के लिए, यहाँ तथा अन्य देशों में कल्याणकर कार्य करने का बड़ा अवसर है। मानव जाति के सुधार और उन्नति के लिए, यहाँ तथा अन्य देशों में, परमात्मा के साम्य और सर्वव्यापकता के इस महान् सिद्धान्त का प्रचार करना होगा।[1]

मृत्यु के भय, जीवन के भय, और पुनर्जन्म के भय के स्थान में, एक व्यापक निर्भयता आनी चाहिए। निर्बलता और कायरता, शारीरिक मृत्यु की अपेक्षा अधिक बुरे हैं। शेक्सपीयर के शब्दों में :

कई बार मरते हैं, मृत्यु से पहले कायर,
शूरवीर चखता है, मृत्यु केवल एक बार।[2]

क्या कोई एक दर्शन है, जो ऐसे वीरता और शूरता के भाव उत्पन्न और पोषण कर सकता है, जो मानव ऊर्जा के विशाल भण्डार उन्मुक्त करने की सामर्थ्य रखता है। हाँ है, उपनिषद् कहते हैं; हाँ है, गीता कहती है; और हाँ है, स्वामी विवेकानन्द कहते हैं। वह है, मनुष्य की अमर आत्मा के सत्य का ज्ञान। वेदान्त के अनुसार सच्चे धर्म का आधार यही है। मनुष्य जितना अधिक आध्यात्मिक होता है, उतना ही अधिक निर्भय, अधिक सौम्य एवं करुणामय। सत्य के ज्ञान के फल ये हैं। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में :

और सत्य की कसौटी यह है, जो कुछ दैहिक रूप से, बौद्धिक रूप से, और आध्यात्मिक रूप से, तुम्हें निर्बल बनाता है, उसे विष समान त्याग दो, उसमें कोई जान नहीं, वह सत्य नहीं हो सकता। सत्य शक्तिदायक होता है, और सत्य पवित्र होता है। सत्य सर्वज्ञान है। सत्य को शक्तिदायक, ज्ञानदायक और स्फूर्तिदायक होना चाहिए।[3]

हमारे लोगों में, पुनर्जन्म के अतिशय भय को, बहुअपेक्षित सुधार न केवल विवेकानन्द की शिक्षा से ही मिला, बल्कि उनके व्यक्तिगत प्रमाण वचन से, जो एक बहुत ओजस्वी उक्ति में व्यक्त हुआ है :

और मेरा बारम्बार जन्म हो, और सहस्रों यातनाएँ भोगूँ, जिससे कि मैं उसी ईश्वर की उपासना कर सकूँ जो है। उसी ईश्वर की केवल जिसमें मेरा विश्वास

[1] वही, 193।
[2] शेक्सपीयर, जूलियस सीजर, II.ii.32–33।
[3] कम्पलीट वर्क्स, भाग 3, 224।

है, जो सब आत्माओं का स्रोत-पुंज है। सबसे अधिक है मेरी उपासना के विशेष पात्र—वे व्यक्ति जो दुष्ट हैं, दुःखी हैं, दरिद्र हैं और जिनमें मैं अपने ईश्वर के दर्शन करता हूँ।[1]

सच्ची आध्यात्मिकता

हमारे लिए, भारत में यह एक स्फूर्तिदायक अभिनव दृष्टिकोण है। इसमें सच्ची आध्यात्मिकता है, तथा निर्भयता, प्रेम और सेवा इससे निःसृत हैं। सांसारिक मन ही संसार से भयभीत होता है। आध्यात्मिक मन, शरीर को सबसे अच्छा सेवक मानता है और जीवन की सांसारिक और आध्यात्मिक पूर्णता पाने का सबसे उपयोगी उपकरण। जीवन जब आध्यात्मिक और मानवीय उद्देश्यों से प्रेरित होता है, ऊर्जा और उत्साह से पूर्ण इन्द्रियों और मन सहित शारीरिक देह का स्वामित्व, हमारे लिए एक अवसर और आनन्द बन जाता है। ऐसे उद्देश्यों के प्रसंग में जीवन एक कुरुक्षेत्र बन जाता है। मनुष्य इस संग्राम में अपने लिए एक स्थिर और पूर्ण चरित्र अपनाने के लिए प्रवेश करता है, तथा इसके सहज सम्पादन में सुख तथा दुःख, लाभ तथा अलाभ, विजय और पराजय के उतार-चढ़ाव स्वीकार करना सीखता है। गीता (II.38) इस प्रवृत्ति को नैतिक और आध्यात्मिक जीवन का प्रथम कदम मानती है :

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

सुख और दुःख में, लाभ और अलाभ में, जय और पराजय में, मन को सम रखकर जीवन के संग्राम में कूद पड़ो, इस प्रकार तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा।

मानव मन के लिए एक सच्चे और खरे दर्शन की यह देन है। इसकी सच्चाई की कसौटी है, स्वतन्त्रता तथा निर्भयता, प्रेम तथा सेवा के भाव, जो वह मानव-जीवन को देता है। इस स्वतन्त्र तथा निर्भय मन का स्वाद हमने अपने इतिहास के पिछले दशकों में चखा है। अपराधी, कारा को एक दृष्टि से देखता है, तथा महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति और उनके सत्याग्रही वृन्द, एक बिलकुल दूसरी दृष्टि से देखते हैं। एक अपराधी अपने अमुक्त मन के साथ कारा से भयभीत होता है, और वहाँ जाने से बचता है, किन्तु एक गांधी, अपने स्वतन्त्र मन के साथ अपने लाखों देशवासियों को राजनीतिक दासता के अधिक विशाल कारागार से मुक्त कराने की शुभ तीव्र-कामना से प्रेरित होकर, न केवल कारा से भयमुक्त था, बल्कि उसमें जाने के प्रत्येक अवसर को स्वागत-योग्य मानता था। इस प्रकार मनोवृत्ति में परिवर्तन, कारा जीवन के विषय में सत्याग्रही और एक अपराधी के बीच बड़ा भेद पैदा करता है। संसार में पुनर्जन्म तथा जीवन के विषय में भी स्थिति, इसी के सदृश्य हैं। संसार का भय, तथा जीवन

[1] वही, भाग 5, 136।

का भय एक अनाध्यात्मिक मनोवृत्ति है, जिसे केवल सांसारिक लोग अपनाते हैं। संसार में जीवन और सांसारिकता वैसे ही एक बात नहीं, जैसे कारा में होना और अपराधी होना एक नहीं है। ऐसे मनुष्य हुए हैं, जो कारा में, वहाँ की स्थिति जाँच करने और सुधारने के लिए गये थे। संसार उनका महान् मानवतावादी कहकर अभिनन्दन करता है।

पुण्यभूमि में जन्म

जीवन को संसार में एक कायर और सांसारिक मनुष्य जिस दृष्टि से देखता है उससे बिल्कुल भिन्न दृष्टि से उसे एक वीर और आध्यात्मिक मनुष्य देखता है। भारत के धार्मिक लोगों में जो पुनर्जन्म का विस्तृत भय समाया हुआ है, वह धर्म की प्रशाखा नहीं बल्कि सामान्य राष्ट्रीय निर्बलता है। शंकराचार्य गीता (IV.2) के अपने भाष्य में कहते हैं: 'योग या आध्यात्मिकता का ह्रास हो जाता है, जब वह ऐसे लोगों के हाथ में पड़ती है, जो निर्बल और अजितेन्द्रिय होते हैं।' प्रह्लाद, रन्तिदेव तथा अनेक बोधिसत्व हुए हैं, जो भारतीय धार्मिकता के सुन्दरतम् उदाहरण हैं, और जिन्होंने संसार के संघर्षरत जीवों की सहायता करने के लिए सहर्ष अपनी मुक्ति का परित्याग कर दिया।

भारतीय धार्मिक चिन्तन ने भारत को पुण्यभूमि तथा कर्मभूमि की दृष्टि से देखा है, जहाँ जीवों का जन्म इन्द्रिय सुख-भोग के लिए नहीं होता, बल्कि ईश्वर से साक्षात्कार करने का मार्ग प्रशस्त करने के लिए होता है। वह संसार के प्रत्येक देश में, ईश्वर की उपस्थिति नर-नारियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप में मानता है; किन्तु उन देशों को भोग-भूमि की दृष्टि से देखता है, जिसमें इन्द्रियों तथा इन्द्रियबद्ध मनों की सन्तुष्टि की सब गुँजाइश मौजूद है। भारत को पुण्य-भूमि मानने की उसकी दृष्टि और इसलिए मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए अनुकूलता, उस तथ्य से प्राप्त हैं कि वह उसकी नदियों तथा पहाड़ों, मैदानों तथा पहाड़ियों के भूदृश्य, अवतार पुरुषों तथा पवित्र सन्तों और ऋषियों की एक तारामण्डली के चरण-स्पर्श से युगों तक पुनीत हो चुका है, भारत में जन्म पाने के लिए स्वर्ग के देवता भी लालायित रहते हैं। श्रीमद्-भागवत कहती है (V.xix.21–23):

एतदेव हि देवा गायन्ति

(स्वर्ग के) देवता (भारत में मानव जन्म की महिमा) इस प्रकार गाते हैं:

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

ओ हो! इन लोगों ने क्या पुण्य कर्म किये, जो स्वयं हरि इनसे प्रसन्न हो गये, ऐसे कर्म जिनके कारण इनका भारत में जन्म हुआ, एक जन्म जो हरि की सेवा के लिए उपयुक्त है? हम भी इसी भाग्य को पाने के उत्सुक हैं।

किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतैर्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना ।
न यत्र नारायणपादपंकजस्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात् ॥

इस स्वर्ग को पाकर हमें क्या मिला, जो वास्तव में छोटा है, किन्तु जिसके लिए उग्र तप, यज्ञ, व्रत, दानादि दूसरे सब साधन करने पड़े ? यहाँ इन्द्रियों के भोग के बाहुल्य के कारण हमें नारायण के चरण-कमलों की स्मृति भी नहीं रहती है ।

कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ॥

भारत में कुछ क्षणों का जीवन भी इन स्वर्गलोकों के कल्पायुषों से श्रेष्ठ है, क्योंकि वहाँ, वीर लोग अपने नाशवान शरीरों द्वारा, किये गये सब कर्म, हरि के अर्पण करके एक क्षण में ईश्वर में अभयावस्था प्राप्त कर लेते हैं ।

भाग्य की कैसी त्रासद विडम्बना है कि इस भारत के मनुष्य उसी भूमि में जन्म लेने से डरना और घृणा करना सीख गये हैं जिसके लिए स्वयं उनके स्वर्ग के देवता भी ललचाते रहे हैं । हमारे देशवासी यह भूलकर कि एक बड़ा स्वर्ग उनके चारों ओर फैला पड़ा है, एक मरणोत्तर स्वर्ग के लिए तरसते हैं ।

आज हमारे अधिकाधिक देशवासी, जीवन और धर्म के इस शौर्य पर उपागम के अर्थ और महत्त्व को समझना और मानना सीख रहे हैं । हमारी जनता के लिए तथा सर्वत्र सब नर-नारियों के लिए स्वामी विवेकानन्द की यह देन है । उन्होंने, उपनिषदों और आधुनिक चिन्तन में से, मनुष्य-निर्मायक शिक्षा तथा धर्म का सन्देश निकालकर और उसका पूर्व और पश्चिम में समान भाव से ऊँचे चढ़कर प्रचार किया । वह कहते हैं :

> मुझे मनुष्य चाहिए, मनुष्य !····ऐसे सौ मनुष्य भी मुझे मिल जायें तो दुनिया में क्रान्ति होने में देर न लगेगी ।····सदियों से अवनति के सिद्धान्त सिखाये गये हैं । उन्हें बताया गया है कि वे कुछ नहीं हैं । पूरे संसार में साधारण जनता से यही कहा गया है कि वे मनुष्य नहीं हैं । सदियों से वे इतने डरा दिये गये हैं कि वे लगभग पशु बन गये हैं । उन्हें आत्मा के बारे में कभी सुनने नहीं दिया गया । वे अब आत्मा के बारे में सुनें कि नीचाति-नीच में भी आत्मा है, जो न कभी मरता है और न जन्मता है; तलवार उसे काट नहीं सकती, न अग्नि जला सकती है, न हवा सुखा सकती है; ऐसा है अमर, अनादि, अनन्त, पूर्ण शुद्ध, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक आत्मा । उनमें आत्मविश्वास आना चाहिए ।····हम चाहते हैं शक्ति, इसलिए अपने में विश्वास करो । हम निर्बल हो गये हैं, इसीलिए मन्त्र-तन्त्र और गुह्य विद्याएँ आ गयीं, ये लोम-हर्षक वस्तुएँ, कदाचित् महान् सत्य भी इनमें हों, किन्तु हमें तो इन्होंने लगभग बरबाद ही कर दिया है । अपने स्नायु-तन्तु शक्तिशाली बनाओ । हम तो चाहते हैं, लोहे के पुट्ठे और इस्पात के स्नायु । हम बहुत दिन रो लिये । रोना बन्द करो, और अपने पावों पर खड़े होकर आदमी बनो । हमें चाहिए मनुष्य बनाने

वाला धर्म। हमें मनुष्य बनाने वाले सिद्धान्त चाहिए। सब तरह से मनुष्य बनाने वाली शिक्षा हमें चाहिए।[1]

जो वरदान उपनिषद् आधुनिक मनुष्यों को दे सकते हैं उनके बारे में इनसें अधिक सत्य शब्द न कहे गये हैं, और न कहे जा सकते हैं।

[1] वही, भाग 3, 223–24।

सात

केनोपनिषद्

हम अब केनोपनिषद् का अध्ययन आरम्भ करते हैं। पारम्परिक गणना में यह उपनिषद् दूसरे स्थान पर है। पहला ईशोपनिषद् है। केनोपनिषद् भी एक छोटा उपनिषद् है; इसमें पैंतीस मन्त्र हैं, जो चार अध्यायों में विभक्त हैं।

इस उपनिषद् का शीर्षक ही दार्शनिक दृष्टि से अर्थपूर्ण है। संस्कृत में 'केन' एक प्रश्न का सूचक है, तथा उसका अर्थ है 'किसके द्वारा।' दर्शन तभी परिपक्व होता है, जब वह अनुभव तथा उसके समस्त परिकल्पनाओं का, एक समीक्षक आकलन बन जाता है; अन्यथा, वह मतवादी और अपरिपक्व रहेगा, या सन्देहवादी और अति-परिपक्व। केनोपनिषद् से स्पष्ट होता है कि हमारे देश में दर्शन की परम्परा की शुरुआत ही समीक्षावादी दृष्टिकोण से हुई।

दर्शन में समीक्षक उपागम

दर्शन के दो प्रकार हैं—हठमती तथा समीक्षक। हठमती दर्शन में यह मानकर चलते हैं कि तत्त्व को समझने की सामर्थ्य इन्द्रियों और मन में है। समीक्षक दर्शन में इस मान्यता को यों ही नहीं मान लिया जाता, परन्तु उसकी जाँच अनुभव के आधार पर की जाती है। केनोपनिषद् अनुभव-जन्य तथ्यों पर ही अनन्त और निरपेक्ष तत्त्व की उपस्थिति को शुद्ध आत्म रूप में साक्षात्कार कराता है।

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में काण्ट समीक्षक दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने पहली बार यह मौलिक प्रश्न उठाया—क्या मानव-मन की तत्त्व को जानने की क्षमता है? उन्होंने ही ज्ञानमीमांसाशास्त्र को आधुनिक दर्शन का एक अनिवार्य अंग बनाया था। भारत ने युगों पहले अपने उपनिषदों में, ज्ञानमीमांसाशास्त्र में इस अनुशासन की अर्थवत्ता को मान लिया था। समीक्षक उपागम तथा प्रश्नसूचक भावना प्रत्येक उपनिषद् में भरी हैं; किन्तु केनोपनिषद् में यह विशेष रूप से है।

उपागम और निरूपण में, एवं उसके स्वयं नाम में भी यह विद्यमान है।

वेदान्त के अनुसार, दर्शन जिज्ञासा का फल है। गीता मनुष्य से, परिप्रश्न द्वारा सत्य को जानने के लिए कहती है। ऐसी समीक्षक खोज प्रकृति के वाह्य जगत की वस्तुओं तथा घटनाओं को लक्ष्य करके ही नहीं, बल्कि मनुष्य के अन्तर्जगत की वस्तुओं और घटनाओं को लक्ष्य करके भी की गयी थी, जिसमें मन तथा उसकी जानने की क्षमता तथा अहं भाव का स्थान भी समाविष्ट था। ज्ञान के स्वरूप और प्रणालियों के अध्ययन की आवश्यकता को, जिसको उपनिषदों ने बहुत पहले मान लिया था, अब आधुनिक विज्ञान द्वारा अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है। एडिंगटन कहते हैं :

> हम इस निष्कर्ष पर हैं कि (दुनिया के) जिस ज्ञान की खोज में हम हैं, उसके स्वरूप को समझना, वास्तव में, ज्ञान की खोज के लिए, केवल सहायक ही है।[1]

उपनिषदों और गीता से परिपुष्ट इस भावना और उपागम का ही फल है कि भारत में धर्म किसी स्वीकृत मत की खोज नहीं बल्कि ईश्वर के अनुभव के लिए खोज बना, जिसमें श्रद्धा और समीक्षा दोनों सम्मिलित थे। उपनिषदों के एक महान् अंग्रेजी अनुवादक रॉबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम कहते हैं :

> सत्य के लिए खोज का उत्साह, उपनिषदों का एक आनन्द और सराहनीय लक्षण है।[2]

इस भारतीय दार्शनिक उपागम को, वस्तुतः आधुनिक विज्ञान के भाव और मनःस्थिति से दृढ़ पुष्टि मिलती है। उपनिषद्, हमें पका पकाया और खाने के लिए तैयार, आध्यात्मिक खाद्य नहीं परोसते। वे आध्यात्मिक सत्य की खोज के लिए न्यौता देते हैं। वे कहते हैं कि सत्य तब तक हमारा नहीं है, जब तक हममें से प्रत्येक उसकी खोज में भाग लेकर, उसे अपना नहीं लेता। इसी बात को अपनी विवेक चूड़ामणि (श्लोक 54) में शंकराचार्य इस प्रकार कहते हैं :

> वस्तुस्वरूपं स्फुटबोधचक्षुषा स्वेनैव वेद्यं न तु पण्डितेन।
> चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषैव ज्ञातव्यं अन्यैरवगम्यते किम्॥

तत्त्व का वास्तविक स्वरूप अपने ही बोधचक्षु से जानना चाहिए किसी पण्डित के चक्षु से नहीं; पूर्ण चन्द्रमा का सच्चा स्वरूप अपनी ही आँखों से देखना चाहिए, अन्य की आँखों से कैसे जाना जा सकता है।

धर्म में समीक्षक उपागम

भारत में धर्म की ओर उपागम का यह भाव है। आत्मा और परमात्मा या ईश्वर शब्द मात्र नहीं रहेंगे, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव के सत्य बन जायेंगे; शब्दों का

1 एडिंगटन, द फिलासफी ऑव फिजिकल साइन्स, 5।

2 रॉबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम, थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्स, भूमिका, 30 पादटिप्पणी।

भेदन करके अर्थ निकालना होगा। अर्थ के लिए यह खोज, तल से गहराई में जाने के लिए, प्रतीति से तत्त्व में पहुँचने के लिए यह प्रयत्न, उपनिषदों के अनुसार, धर्म भी है, दर्शन भी है। भारत इनको दो भिन्न अनुशासनों की दृष्टि से नहीं देखता। धर्म के भाव से अलग कर देने पर, दर्शन केवल बुद्धिवाद, निष्प्राण, शुष्क औपचारिक बन जाता है; दर्शन के भाव और उपागम से अलग कर देने पर धर्म, उसी के सदृश लक्ष्यहीन, संकीर्ण, हठमती तथा असहिष्णु बन जाता है। उपनिषद् दार्शनिक तत्त्व को एक ऐसे रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसे मनुष्य स्वयं खोजे और अनुभव करे। जीवन के अनुभव को धर्म और दर्शन की नींव पर खड़ा करने का श्रेय वेदान्त को ही है।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'—आत्मा देखने योग्य है, अपनी पत्नी मैत्रेयी से याज्ञवल्क्य कहते हैं (बृहदारण्यक उपनिषद्, II.4.5)।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

मैंने, सूर्य के समान ज्योतिर्मय और अज्ञान के सब अन्धकार से परे, इस अनन्त (महान्) पुरुष का साक्षात्कार कर लिया है—श्वेताश्वतर उपनिषद् (III.8) कहता है।

प्राचीन उपनिषद् काल से श्री रामकृष्ण के आधुनिक काल तक भारत में, धर्म तथा दर्शन की ऐसी ही प्रामाणिक भाषा रही है। भारतीय ऋषियों की परिचित भाषा है—'मैंने देखा है, मैंने अनुभव किया है, और तुम भी देख सकते हो, तुम भी अनुभव कर सकते हो।' इस उपागम में विश्वास का स्थानं अन्तिम नहीं रहता है; अपने शिष्यों को यह ज्ञान देते हुए, महान् गुरु, इस ज्ञान को केवल एक कामचलाऊ परिकल्पना मानने के लिए कहते हैं। इसको अपने अनुभव द्वारा शिष्यों से प्रमाणित करने को कहा जाता है। अपने देहावसान से कुछ मास पूर्व, कालामा नाम के शिष्य वर्ग को दिये हुए भगवान बुद्ध के प्रसिद्ध प्रवचन में इसकी स्पष्ट और सबल अभिव्यक्ति मिलती है।

इति खो, कालामा, यं तं अवोचुंह—एथ तुम्हे, कालामा, मा अनुस्सवेन, मा परम्पराय, मा इतिकिराय, मा पिटकसम्पदानेन, मा तक्कहेतु, मा नयहेतु, मा आकारपरिवितक्केन, मा दिट्ठनिज्झानक्खन्तिया, मा भभरूपताय, मा समणो नो गरुति। यदा तुंहे, कालामा, अत्तना वा जानेय्याथ—इमे धम्मा कुशला, इमे धम्मा अनवज्जा, इमे धम्मा विण्णुप्पसत्था, इमे धम्मा समत्ता समादिन्ना हिताय सुखाय संवत्तन्तीति, अथ तुंहे, कालामा, उपसम्पज्ज विहरेय्याथाऽति, इति यं तं वुत्तम इदमेतं पटिच्च वुत्तम।[1]

हे कालामाओ ये सब मैंने तुम को बताया है, किन्तु तुम इसे स्वीकार करो, इसलिए नहीं कि वह एक अनुविवरण है, इसलिए नहीं कि एक परम्परा है, इसलिए नहीं कि पहले ऐसे कहा गया है, इसलिए नहीं कि यह धर्मग्रन्थ में है, यह विवाद के लिए नहीं, एक विशेष प्रणाली के लिए नहीं, सावधानी से सोच-विचार के

[1] अंगुत्तर निकाय, पाली पब्लिकेशन बोर्ड, भाग 1, 1960, 3.75.।

लिए नहीं, असत्य धारणाओं को सहन करने के लिए नहीं, इसलिए नहीं कि वह अनुकूल मालूम होता है, इसलिए नहीं कि तुम्हारा गुरु एक श्रमण है, किन्तु तुम स्वयं, यदि यह समझते हो कि यह शुभ और निर्दोष है, तथा ग्रहण कर लेने पर यह कल्याण और सुख देगा, तुम चाहो तो स्वीकार कर लो।

आध्यात्मिक लालसा

मनुष्य के हृदय में यह भारी लालसा है—सत्य के साक्षात्कार की लालसा, सत्य को अपना लेने की लालसा, न कि शब्दों और धारणाओं मात्र के स्तर पर रहने की लालसा। यदि ईश्वर है, मुझे उसका साक्षात्कार करना होगा; यदि मेरे भीतर जीवात्मा है, मुझे उसे देखना होगा, साक्षात्कार करना होगा। उसमें मेरे लिए विश्वास भर कर लेना पर्याप्त नहीं, या किसी धर्मसंघ के समान कोई विशेष वर्ग का मेरे लिए विश्वास करना भी पर्याप्त नहीं। आध्यात्मिक विषयों में भारत कभी मन्दोत्साह नहीं रहा, अपने इस मनोनीत क्षेत्र में वह तीव्र उत्साही और व्यावहारिक रहा। इस मनोवृत्ति की झाँकी हमें केनोपनिषद् के साधक में मिलती है। इसका उल्लेख करते हुए शंकराचार्य इस उपनिषद् की 'भूमिका' में कहते हैं :

कश्चिद् गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवदुपेत्य, प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र शरणमपश्यन्, अभयं नित्यं शिवं अचलम् इच्छन् पप्रच्छ।

किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास विधिवत् जाकर अन्तरात्मा के अतिरिक्त कहीं और शरण न पाकर और अभय, नित्य, शिव और अचल तत्त्व प्राप्त करने की इच्छा से, शिष्य ने उनसे यह पूछा। संक्षेप में प्रश्न यह था—मनुष्य का मन, इन्द्रियाँ और प्राण किसके द्वारा प्रेरित होते हैं ?

इस प्रकार केनोपनिषद्, एक आध्यात्मिक ज्ञानी गुरु और आध्यात्मिक उत्साही शिष्य के बीच संवाद के रूप में मिलता है। शंकराचार्य का उद्धरण, हमें शिष्य के मनोभाव के बारे में एक सूक्ष्मदृष्टि देता है। बहुत दिनों से वह सत्य की खोज में था। उसने विश्व के रहस्य को गहराई से खोजा था और उसे परिवर्तनशील तथा क्षणभंगुर पाया। उसने एक ब्रह्माण्डातीत सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ ईश्वर, विश्व के पीछे अनन्त तथा अमृत ब्रह्म के प्रचलित विश्वास को स्वीकार कर लिया था और उस विश्वास को युक्तिसम्मत पाया था—सान्त के परे एक अनन्त में, सापेक्ष के परे एक निरपेक्ष में, मृत्यु और विकार के जगत के पीछे एक अमृत और अविकारी सत्ता में। विश्वास के बल पर शिष्य विकारी और परिसीमित जगत में जीवन काट सकता था, उससे सन्तुष्ट रह सकता था, तथा समाज में एक दार्शनिक या धार्मिक पुरुष मान्य होकर रह सकता था।

किन्तु यह शिष्य इतने से सन्तुष्ट नहीं है, उसका मन जिज्ञासु है। वह किसी तर्कसम्मत निरपेक्ष तत्त्व से, या एक धार्मिक मतवाद से, जिसमें ईश्वर ब्रह्माण्ड के

बाहर है, सन्तुष्ट नहीं; और न वह विकार और मृत्यु के जगत में अपने औपचारिक जीवन से सन्तुष्ट है। वह अमृत तत्त्व को अनुभव करना अनन्त और निरपेक्ष तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहता है, जिसे वर्ड्सवर्थ 'अमृतत्त्व की सूचना' कहते हैं, वे उसे पहले ही मिल चुकी है, उसे दृढ़ विश्वास है कि अनुभव के जगत में, कहीं पर अमृतत्त्व का एक केन्द्र छिपा हुआ है। विज्ञान द्वारा, उसने उसका बाह्य जगत में पता लगाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसने पाया कि वह जगत अपने निकट या दूर के पहलुओं में, अतिसूक्ष्म व्यष्टि या विशाल समष्टि विमाओं में, परिसीमितता, विकार, और मृत्यु के वशीभूत है। उसने दर्शन द्वारा निरपेक्ष ब्रह्म की धारणा की परीक्षा की तथा उसे बौद्धिक दृष्टि से यथेष्ट, किन्तु भावात्मक दृष्टि से भावशून्य पाया। उसने धर्म की सहायता से ईश्वर की धारणा की समीक्षा की, और उसे भावात्मक दृष्टि से यथेष्ट किन्तु बौद्धिक दृष्टि से अनिश्चित पाया। विज्ञान, दर्शन और धर्म की अपनी साधनाओं द्वारा प्रकाशित तत्त्व, स्वयं में यथेष्ट है, किन्तु एक कक्षीय होने के कारण दूसरों के साथ अविनिमेय है। क्या मानव मन, इस स्थिति से सन्तुष्ट रहेगा, जिसमें तत्त्व जैसा कि प्रत्येक इन तीन साधनाओं ने समझा है, विखण्डित, अनुबन्धित तथा इसलिए परिसीमित है ? मनुष्य की सत्य तथा जीवन की सार्थकता के लिए अतृप्त बुभुक्षा इस स्थिति में रुकी नहीं रह सकेगी। वह तब तक पूर्ण सन्तुष्ट न होगी, जब तक वह अनेक के पीछे एक तत्त्व को खोज निकालकर, अपने अनुभव का एकीकरण नहीं कर लेता। वह इस गतिरोध को अवश्य तोड़ेगा या इसके प्रयास में अपने को तोड़ लेगा।

'बाह्य' से ज्ञान की अपर्याप्तता

आध्यात्मिक मनोदशा की यह स्थिति विज्ञान, दर्शन तथा ईश-विश्वास की धारणाओं का एक संगम है। ये साधनाएँ अनुभव के जगत का केवल बाहर से विचार करती हैं, तथा उनकी परिसीमितताएँ कदाचित् उसी उपागम से आती होंगी। किन्तु क्या एक दूसरा उपागम भी है, जो इस गतिरोध को तोड़ने में सहायक होगा, उसे अमृत तथा अनन्त के हृदय तक पहुँचा सकेगा, और ज्ञान के और अनुभव के सब कक्ष खोलने की कुंजी दे सकेगा। अनुभव के जगत का, निश्चय ही एक 'अन्तर' भी होना आवश्यक है। क्या वस्तुओं के 'अन्तर' के लिए एक उपागम या प्रवेश मार्ग है ?

उपनिषदों के ऋषियों ने यह प्रश्न करने का साहस किया, और उसे हल करके ही छोड़ा। आधुनिक विज्ञान ने भी आज यही प्रश्न पूछना शुरू किया है। यद्यपि बाह्य प्रकृति का ज्ञान विशाल और चकित कर देने वाला है, तो भी प्रकृति के रहस्य को सुलझाने में वह अपर्याप्त है। अपर्याप्तता के कारण ही विज्ञान को यह प्रश्न उठाना पड़ा है।

यदि मनुष्य का मन तथा चेतना 'भौतिकी के जगत के गहरे पहलुओं का संकेत देते हैं, तथा जो भौतिकी की प्रणालियों द्वारा अप्राप्य है', तो विज्ञान अपने उद्देश्य तथा प्रकार्य के प्रति निष्ठावान तभी होगा, जब वह अनुभव के इस विश्व के इस पहलू का,

लगन के साथ, अनुसन्धान करे। भारत ने उपनिषदों में यही किया था। आधुनिक विज्ञान भी जीवविज्ञान और मनोविज्ञान में अनुसन्धानों द्वारा इस क्षेत्र में अग्रसर हो रहा है।

समस्त अनुभव का एकीकरण

स्वचेतन प्रकृति के दो पहलू हैं—अचित् और चित्। आधुनिक विज्ञान के दर्शन के सदृश एक दर्शन किस प्रकार पूर्णता का दावा कर सकता है, यदि प्रकृति के चित् और अचित्, दोनों पहलुओं में उसकी सूक्ष्म दृष्टि नहीं है, वस्तुओं के 'अन्तर' और 'बाह्य' में सूक्ष्म दृष्टि नहीं है? वेदान्त जिस तत्त्व का समर्थन करता है, वह प्रकृति की समग्रता है, चित् और अचित् की यही एकता है। गीता (VII.4–7) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं :

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये हैं मेरी आठ प्रकार की प्रकृति।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

यह अपरा (निम्न) है। हे महाबाहो! इससे भिन्न जीव रूप में मेरी परा (उच्च) प्रकृति है, जिसके द्वारा सारा जगत टिका हुआ है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

यह जान लो कि ये दोनों प्रकृति सब प्राणियों का गर्भ हैं, मैं समस्त जगत का उद्भव और प्रलय स्थान हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

हे धनन्जय (अर्जुन)! मेरे परे और कुछ नहीं है, यह सब जगत सूत्र में मणियों की तरह मुझ में पिरोया हुआ है।

शंकराचार्य तीसरे मन्त्र की व्याख्या करते हैं :

प्रकृतिद्वयद्वारेण सर्वज्ञ ईश्वरः जगतः कारणम्।

इस द्विधा प्रकृति के द्वारा, सर्वज्ञ ईश्वर जगत का कारण है।

स्वविकासी कारण की धारणा वेदान्त और आधुनिक विज्ञान दोनों में समान है। अभी तक विज्ञान इस स्वविकासी कारण को केवल भौतिक दृष्टि से देखता रहा; जब तक वह प्रकृति को केवल 'बाह्य' से देखता रहा, वह और कुछ कर भी नहीं सकता था। किन्तु अब उसे अधिकाधिक दृढ़ विश्वास होता जा रहा है कि प्रकृति को 'अन्तर' से देखने की भी आवश्यकता है; कि जो सूचना प्रकृति अपने 'अन्तर' विमा

की, जीवन और चेतना की, घटना में देती है, उसका मूल्यांकन करना 'अन्तर' की एक अभिनव समीक्षा द्वारा आवश्यक है न कि 'बाह्य' की अभी तक हुई समीक्षा द्वारा। महान् स्नायुवैज्ञानिक सर चार्ल्स शैरिंगटन कहते हैं :

> प्रकृति आज, पहले से अधिक प्रकट हो रही है, तथा हमको पहले से अधिक पूर्णतया समाविष्ट भी कर रही है। यदि आप कहना चाहें, तो वह एक यन्त्र है, किन्तु अंशत: मानसीकृत यन्त्र तथा हमको अपने में समाविष्ट कर लेने के कारण, वह एक ऐसा यन्त्र है जिसमें मानवीय गुणों के सहित मन है। वह एक ऊर्जा की प्रवाहमान धारा है मानसिक और शारीरिक तथा मानव निर्मित यन्त्रों के विसदृश, वह भावना, भय और आशा, घृणा और प्रेम से प्रवृत्त होता है।[1]

भारतीय मन पर अन्तर्जगत की दृढ़ पकड़

मनुष्य के रहस्य को भौतिकी तथा खगोलकी, रसायनी तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान, जैसे विज्ञानों की सहायता से सुलझाने से हम सही परिणाम पर न पहुँच सकेंगे। ये सब सतही मानव से, 'ज्ञात मानव' से, सम्बन्धित हैं। तथा मनुष्य के इस पहलू में भौतिक प्रकृति की ही उसमें निरन्तरता है। किन्तु वास्तविक मानव, एलेक्सिस कैरॅल की भाषा का 'अज्ञात मानव' इन विज्ञानों की चंगुल से बाहर का मानव है। इस विषय से सम्बन्धित एक और विज्ञान है, जो मानव प्रकृति की गहराइयों को भेदन करने का, तथा उसके रहस्यों का उद्घाटन करने का साहस करता है, तथा ऐसे उद्घाटन द्वारा वह शेष प्रकृति के रहस्यों का भी उद्घाटन कर देता है। यह है अध्यात्म विद्या, आत्मा का विज्ञान, वस्तुओं के 'अन्तर' का विज्ञान, जिसने उपनिषदों के ऋषियों के अवधान और रुचि को ग्रहीत कर लिया, तथा जो युगों से अभी तक भारतीय मन के अवधान और रुचि को ग्रहीत किये है।

प्राचीन भारत ने बाह्य प्रकृति के विज्ञानों की उपेक्षा नहीं की। सब ज्ञान पवित्र है, इस भाव से प्रेरित होकर उसने उत्साहपूर्वक बाह्य प्रकृति के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, दोनों क्षेत्रों में, उत्साहपूर्वक अनुसन्धान किया और प्रकृति से अनेक छिपे सत्य, तथा इन सत्यों को मनुष्य के हित में प्रयोग करने की रीतियाँ भी निकालीं। इन अनुसन्धानों के दौरान वह मनुष्य के रहस्य से भी कुतूहलित हुआ। और इस नये रहस्य ने उनके मनों को, तथा परकाल में उनके हृदयों को भी, ग्रहीत कर लिया। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि जितना भारत के लोगों ने इस विषय पर अपना समय लगाया और विचार किया और वह भी निरन्तर सहस्रों वर्षों तक, उतना दूसरी किसी जाति ने नहीं किया। उन्होंने इस विषय का विशेष अध्ययन किया। इस अभिरुचि के अच्छे और बुरे दोनों परिणाम उन्हें भोगने पड़े। इसका उल्लेख करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

[1] सर चार्ल्स शैरिंगटन, मैन ऑन हिज नेचर, 38।

> 'मानव और उसके मन' के विषय पर अध्ययन एक काल में भारतीयों के लिए इतना रुचिकर हो गया कि अन्य सब अध्ययन करने की आवश्यकता उनके मन मस्तिष्क से निकल गयी । उन्हें लगने लगा कि यदि इससे किसी परिणाम पर हम पहुँच गए तो जीवन के सभी उद्देश्य पूरे करने में मदद मिलेगी । भारतीय मानव का मन ऐसा हो गया कि जादू-टोना जैसी चीजें सीखना और सिखाना (जिससे दूसरे के ऊपर काबू पाया जा सके) एक आम बात हो गई । प्रतिफल यह हुआ कि भौतिक विद्याओं की प्रगति देश से लुप्त हो गई ।[1]

अध्यात्मविद्या या अध्यात्मयोग के इस अध्ययन ने उनके लिए मनुष्य के सच्चे स्वरूप को और उसके अन्तर्जगत की क्रियाओं के ज्ञान को प्रकट कर दिया । फिर स्वामी विवेकानन्द आगे कहते हैं :

> योगशास्त्र दावा करता है कि उसने उन नियमों का आविष्कार कर लिया जो इस व्यक्तित्व का विकास करते हैं, तथा उन नियमों और प्रणालियों की ओर यथोचित ध्यान देने से, प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व को विकसित तथा सशक्त बना सकता है । यह बड़ी व्यावहारिक बातों में एक है, और सब शिक्षा का रहस्य यही है । इसका एक सार्वभौमिक प्रयोग है, गृहस्थी के जीवन में, निर्धन के, धनी के, व्यापारी के, आध्यात्मिक मनुष्य के, हर किसी के जीवन में, यह एक बड़ी बात है, इस व्यक्तित्व को सशक्त करना । हम जानते हैं कुछ नियम अति सूक्ष्म हैं, जो इन भौतिक नियमों के पीछे हैं । कहने का अर्थ यह है कि एक भौतिक जगत, एक मानसिक जगत, एक आध्यात्मिक जगत जैसी तात्त्विकताएँ नहीं हैं । जो कुछ भी है, एक है । हाँ, जो कुछ हमें दीखता है वह जहाँ सघन रूप में शरीर है वहाँ सूक्ष्म रूप में आत्मा है । समष्टि और व्यष्टि दोनों पर यह नियम इसी प्रकार लागू है । समष्टि में यहाँ सघन रूप में यह विश्व है, सूक्ष्म रूप में वही ईश्वर है ।[2]

राजविद्या

अध्यात्म विद्या, अन्तरात्मा का विज्ञान, अन्त में भारत में राजविद्या कहकर मान्य हुई । भारतीय समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, कला तथा साहित्य सबने समभाव से, इस विज्ञान की सर्वश्रेष्ठता मान ली । 'अध्यात्म विद्या विद्यमान्'—विद्याओं में, मैं अध्यात्म विद्या हूँ, अपने कृष्णावतार में भगवान् कहते हैं (गीता X.32) । मनु कहते हैं (मनुस्मृति XI.82) : मनुष्य के सदाचार और नैतिकता की उपलब्धि तथा उसके जीवन और कर्म का फल प्राप्त होते हैं उसके अपने सच्चे स्वरूप, सबके आत्मा के ध्यान और साक्षात्कार से ।

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 2, 20–21 ।

[2] वही, 16 ।

ध्यानिकं सर्वमेवैत् यदेतत् अभिशब्दितम्—
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलम् उपाश्नुते ।

सब जो कुछ पहले कहा गया है, वह अन्तर में ध्यान करने से मिलता है, जो अपने अन्तरात्मा को नहीं जानता, वह अपने किसी कर्म का फल नहीं भोगेगा ।

अध्यात्म विद्या का भारतीय धर्म और दर्शन के लिए बहुत बड़ा अवदान है । मनुष्य का बहुत सा धर्म, दूसरी सदृश घटनाओं की तरह, केवल मानव विज्ञान सम्बन्धी घटनाओं से बना है । मानव विज्ञान, धर्म के देवताओं को मानव कल्पना की तथा मानव इच्छापूर्ति की उपज मानता है । समाजशास्त्र, उनकी सत्यता पर सन्देह करते हुए, उनकी सामाजिक उपयोगिता मानता है । बाइबिल की उक्ति कि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी आकृति के अनुरूप बनाया, धर्म के मनोविज्ञान से स्वीकृत उस सत्य के बिलकुल विपरीत है कि मनुष्य ने ईश्वर या देवताओं को अपनी आकृति के अनुरूप बनाया । ऐसे सब धर्मों के देवता, एक धर्मग्रन्थ या पुजारी वर्ग की प्रामाणिकता पर आधृत हैं । और ऐसे तरह-तरह के ईश्वर, अधिकांशतः जिनका रंग-ढंग सामाजिक-राजनीतिक है, एक दूसरे के साथ तथा मनुष्य को तथा मनुष्य की लौकिक लालसाओं के साथ, संघर्षरत रहे हैं और सदैव रहेंगे । दूसरी ओर परिकल्पनात्मक या समीक्षात्मक दर्शन द्वारा मान्य तत्त्व केवल एक अभिधारणा है, वह मानव मन की उपज भी है । वह केवल एक तार्किक आवश्यकता की उपज है ।

दर्शन के निरपेक्ष तत्त्व तथा धर्म के ईश्वर, दोनों की ही मनुष्य के अन्तरात्मा के ज्ञान के आलोक में, पुनर्मूल्यांकन और पुनर्व्याख्या करने की आवश्यकता है । मानव विज्ञान, समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान द्वारा धर्म का जो मूल्यांकन किया जा रहा है वह इस दिशा में सही कदम है । किन्तु यह केवल एक शुरुआत है । काण्ट के बाद आधुनिक पाश्चात्य दर्शन ने इसी प्रकार तत्त्व की और निरपेक्ष दार्शनिक धारणाओं की, ज्ञानमीमांसाशास्त्र द्वारा समीक्षात्मक जाँच की है । निरपेक्ष या परम तत्त्व के लिए खोज के बजाय, यद्यपि दर्शन आज घटकर समाजशास्त्र या तर्कशास्त्र या भाषाशास्त्र जैसा बन गया है; तो भी उसमें ऐसी भावात्मकता के विरुद्ध असन्तोष व्यक्त किया गया है और अस्तित्ववाद की विचारधाराएँ उसी का परिणाम हैं ।

दर्शन आज ऐसी व्यवस्थाहीन स्थिति में है कि सत्य और वास्तविकता को खोजने के लिए नए उपागमों का सहारा लेना पड़ेगा । विज्ञान, दर्शन, कला और धर्म को नये तौर से बाँधना होगा ताकि उनकी मौलिक एकता सामने आ सके । ऐसा करने में उन्हें उपनिषदों की उस कार्य-पद्धति को अपनाने से काफी सहायता मिलेगी जिसके द्वारा उपनिषदों ने अन्तः तत्त्व और परम तत्त्व की खोज की ।

डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन् कहते हैं :

उपनिषदों का केन्द्रीय विषय दर्शन से सम्बन्धित है । वह है उसकी सत्य के लिए खोज । भौतिक वस्तुओं से असन्तोष, उन प्रश्नों को सुझाता है जो हम श्वेताश्वतर उपनिषद् (I.1–2) के आरम्भ में पढ़ते हैं : 'कहाँ से हमारी

उत्पत्ति हुई, हम कहाँ रहते हैं तथा हम कहाँ जायेंगे ? हे ब्रह्म के ज्ञाता ! हमें बताइये कि हम दुःख में हों या सुख में, किस के आदेश से हम यहाँ रहते हैं ? क्या काल या प्रकृति को, आवश्यकता या संयोग को, या भौतिक तत्त्वों को कारण मानें, या उसे जो पुरुष कहलाता है, वह पुरुष जो परमात्मा है।' केनोपनिषद् (I.1) में शिष्य पूछता है : 'किस की इच्छा से मन अपना काम करने जाता है ? किस के आदेश से प्रथम प्राण चलता है, किसकी इच्छा से हमारी वाणी निकलती है ? कौन देवता चक्षु या श्रोत्र का संचालन करता है ?' अनुभव को ऋषियों ने एक अव्याख्येय तथ्य नहीं माना, जैसा कि साधारण बुद्धि मानती है। इन्द्रियों की सूचना को अन्तिम मान लेने में संदेह हुआ। वे मानसिक शक्तियाँ, जिनके द्वारा हम अनुभव पाते हैं, क्या स्वयंभू हैं, अथवा वे स्वयं उनसे भी अधिक सशक्त किसी सत्ता के परिणाम हैं, जो उनके पीछे स्थित है ? हम भौतिक वस्तुओं, कार्यों तथा उत्पादनों को जैसे वे हैं, उतना ही सत्य कैसे मान लें जैसे कि उनके कारण ? इस सब के पीछे कुछ परम तत्त्व, एक स्वयंभू होना चाहिए, केवल जिसमें मन विश्राम कर सके। ज्ञान, मन, इन्द्रियाँ, तथा उनके विषय सब परिसीमित एवं सोपाधिक हैं। नैतिक क्षेत्र में हम पाते हैं कि परिसीमित से हमें सच्चा आनन्द नहीं मिल सकता। सांसारिक सुख क्षणभंगुर है, वृद्धावस्था और मृत्यु से मिट जाने के कारण। केवल अनन्त ही अक्षय सुख देता है। धर्म में हम चिरंतन जीवन के लिए पुकारते हैं। ये सब तथ्य हमें एक नित्य सत्ता में, एक आध्यात्मिक तत्त्व में दार्शनिक खोज के विषय में, हमारी कामनाओं की संसिद्धि और धर्म के लक्ष्य में, दृढ़ विश्वास करने के लिए बाध्य करते हैं। उपनिषदों के ऋषि हमें इस केन्द्रीय तत्त्व की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं जो अनन्त सत्, निरपेक्ष चित् तथा शुद्ध आनन्द है।[1]

'राजविद्या' के आलोक में एकेश्वरवाद

मनुष्य के परिमित मर्त्य अहं के पीछे, अनन्त आत्मा की बात खोज कर, उपनिषदों ने दर्शन के निरपेक्ष तत्त्व की, अर्थात् ब्रह्म की धारणा को, और धर्म के ईश्वर की धारणा को, अनुभव में दिये एक तथ्य में परिवर्तित कर दिया है। इस प्रकार ब्रह्म, न केवल तार्किक निरपेक्ष या मानवनिर्मित सामाजिक उपादेयता का देवता बन गया, बल्कि मनुष्य का अन्तरात्मा तथा ब्रह्माण्ड का आत्मा बन गया। एक निर्गुण-सगुण ईश्वर के रूप में, वह प्रकृति की अवैयक्तिक पृष्ठभूमिक सामग्री या जगत की आदिम ऊर्जा का, जैसा कि आधुनिक विज्ञान मानता है, तत्त्व-मीमांसा के निरपेक्ष तत्त्व का और धर्म के सगुण ईश्वर का, एक जीवन्त एकत्व है। उपनिषदों ने इस खोज को एक महत्त्वपूर्ण प्रगति मानकर स्वागत किया, तथा वह भारत के चिरस्थाई दार्शनिक-धार्मिक विचार-वेदान्त की आधारशिला बन गया, और वह

1 डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलासफी, भाग 1, 150।

भारतीय धार्मिक और दार्शनिक विचार के प्रत्येक परवर्ती विकास में अन्तर्व्याप्त हो गया। वृहदारण्यक उपनिषद् (III.4.1) में शिष्य पूछता है :

यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व।

जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म, सबका अन्तरात्मा है, कृपया उसकी मेरे लिए व्याख्या कर दीजिए।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (II.15) कहता है :

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

जब जितेन्द्रिय आध्यात्मिक साधक, ज्योति के समान स्वयं प्रकाश आत्मा के द्वारा ब्रह्म के तत्त्व की इसी शरीर में अनुभूति कर लेता है, तो आज, नित्य प्रकृति के विकारों से अछूता, दिव्य तत्त्व (परमात्मा) को जानकर सब पापों से मुक्त हो जाता है।

यह महत्त्वपूर्ण गहरी दृष्टि न केवल भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन में ही प्रतिष्ठित है, बल्कि जगत में सर्वत्र, उन्नत धार्मिक विचारधाराओं का भी केन्द्रीय आध्यात्मिक तत्त्व है। प्रभु जीसस आश्वासन देते हैं, 'स्वर्ग का राज्य हमारे अन्तर में है।' सूफी गुरु जलालुद्दीन रूमी कहते हैं :

प्रत्येक मानव आत्मा में छिपा है एक ख्रीस्त,
सहायता देने को या बाधा देने को, आघात करने को या स्वस्थ करने को,
किसी मानवात्मा से तुम परदा उठाओ,
निश्चय ही पाओगे तुम छिपा हुआ एक ख्रीस्त !

भारतीय आदर्श की अबाध तेजस्विता का उत्स इस गहरी दृष्टि में है। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय, जो आध्यात्मिक साधना रूप में, आँख और अन्य इन्द्रियों को बन्द करने का समर्थन करती है, जाने या अनजाने, उस पर इसी दृष्टि की छाप है। प्राचीन ग्रीक विचार की उक्ति, 'मनुष्य अपने को जान' की आध्यात्मिक अर्थवत्ता भी इसी दृष्टि के आलोक में प्रकाशित होती है। यही है जो भारत की सांस्कृतिक विरासत तथा उसका आदर्श जो सहिष्णुता के व्यवहार का पोषण करता है।

सन्त ऑगस्टाइन ईश्वर की अपनी लम्बी खोज और उनका अपने अन्तर में स्थित होने का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

मैंने पृथ्वी से प्रश्न किया तथा उसने मुझे उत्तर दिया 'मैं वह नहीं हूँ'; मैंने समुद्र की गहराइयों से, तथा रेंगने वाले प्राणियों से पूछा और उन्होंने उत्तर दिया 'हम तेरे ईश्वर नहीं, हमसे और ऊँचे खोजो'; मैंने बहती हुई हवा से पूछा और अपने निवासियों सहित समस्त हवा ने उत्तर दिया, 'एनेक्सेमिनीज को धोखा हुआ, मैं ईश्वर नहीं हूँ'; मैंने लोकों से, सूर्य, चन्द्र, तारों से पूछा, '(वे कहते हैं) हम भी वह ईश्वर नहीं जिसे तुम खोजते हो'; और मैंने उन सबसे, जो मेरी देह के द्वार को घेरे हैं (इन्द्रियों से) कहा—'तुमने मेरे ईश्वर के बारे में कहा, तुम वह नहीं हो, मुझसे कुछ उसके बारे में कहो'। और वे

जोर से चिल्ला पड़े 'उसने हमें बनाया।'....क्योंकि सत्य मुझसे कहता है, 'न स्वर्ग, न पृथ्वी, न और कोई लोक तेरा ईश्वर है।'....ओ मेरे आत्मा ! अब मैं तुमसे कहता हूँ, तुम मेरे श्रेष्ठतर अंश हो, क्योंकि तुम मेरे सारे शरीर को अनुप्राणित करते हो, जीवन देते हो, जो एक शरीर को कोई भी नहीं दे सकता। किन्तु तुम्हारा ईश्वर, तुम्हारे लिए जीवन का भी जीवन है।[1]

ब्रह्म और आत्मा की एकता

एकेश्वरवादी वैदिक दर्शन में भगवान का अनुभवातीत रूप स्पष्ट है, परन्तु उपनिषदों में भगवान अनुभवातीत होते हुए भी सर्वान्तरयामी हैं। चेतना की समस्त अवस्थाओं का साक्षी रूप होने से, वह वाणी और विचार के परे है। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की इन तीन अवस्थाओं का गहरा अध्ययन करके, उपनिषदों ने आत्मा को शुद्ध विषयी रूप में विविक्त कर लिया, और तब आत्मा और अनात्मा की आध्यात्मिक एकता को खोज निकाला। डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन् कहते हैं, 'विषयी तथा विषय की एकरूपता भारत ने प्लेटो के जन्म से पहले ही जान ली थी।' तदनन्तर वे पाल ड्यूसेन को उद्धरित करते हैं, जो मानव चिन्तन के लिए इस औपनिषदिक खोज की अर्थवत्ता के बारे में कहते हैं :

> हम यदि विचार करते समय उपनिषदों की उस अलंकारिता को एक ओर रखकर अपना ध्यान केवल ईश्वर की, जीव की, ब्रह्म तथा आत्मा की, एकरूपतापरक उसकी दार्शनिक सरलता पर केन्द्रित कर दें, तो हमें उसमें जो अर्थवत्ता मिलेगी वह उपनिषदों के काल और देश से कहीं आगे जा पहुँचती है। समस्त मानव जाति के लिए वह अनमोल निधि है। हम भविष्य देख नहीं सकते, हम कह नहीं सकते कि मानव का यह चंचल जिज्ञासु मन, अभी कितने और रहस्यों का उद्‌घाटन करने वाला है; किन्तु एक बात हम दृढ़ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि भविष्य में दर्शन कोई भी अभिनव और विरल मार्ग निकाल ले, किन्तु यह सिद्धान्त सदैव अटल रहेगा, तथा इससे कोई व्यतिरेक होना सम्भव नहीं। उस महान् पहेली का, जो किसी दार्शनिक के सामने वस्तुओं के स्वरूप को समझने के लिए प्रस्तुत होती है, यदि कभी भी एक सामान्य हल मिल गया, और हमारा ज्ञान-क्षेत्र अधिक स्पष्ट हो गया, तो उसकी कुंजी केवल वहाँ मिलेगी, जहाँ प्रकृति का रहस्य अन्तर में अनावरित मिलता है, कहने का अर्थ है कि हमारे अन्तरतम आत्मा में। यहाँ उपनिषदों के मूल विचारकों ने अपनी अमर कीर्ति स्थापित करते हुए उसे प्राप्त किया। उन्होंने हमारे आत्मा, हमारे अन्तरतम तत्त्व मनुष्य के आत्मा को, ब्रह्म, विश्वव्यापक प्रकृति और उसकी घटनाओं के अन्तरतम सत्त्व के रूप में देखा।[2]

1 सन्त ऑगस्टाइन, कन्फैशन्स, भाग 10, अध्याय 6।

2 ड्यूसेन, फिलॉसफी ऑव द उपनिषद्स, 1906, 39–40।

शान्तिपाठ का अध्ययन

हम अपने प्रस्तुत अध्ययन पर फिर आते हैं, केनोपनिषद्, मनुष्य द्वारा आत्मा की खोज-यात्रा में एक महत्त्वपूर्ण निर्देशक स्तम्भ है। हमारे सत्त्व का आत्मा रूप में ब्रह्म (निर्विशेष) के आध्यात्मिक स्वरूप पर जोर देते हुए, वह बारम्बार, प्रथम अध्याय के चौथे से आठवे मन्त्र में कहता है : 'ब्रह्म उसे जानो; न कि उसे जिसकी लोग यहाँ पूजा करते हैं।' दूसरे अध्याय के पाँचवें मन्त्र में वह ब्रह्म की अनुभूति यहाँ और अभी कर लेने के बारे में कहता है। तीसरे अध्याय में एक सुन्दर आख्यान द्वारा वह, ब्रह्म के विषय में इन्द्रियों द्वारा सूचना मिलने की असमर्थता प्रकट करता है, चौथे अध्याय के समापन मन्त्रों में ब्रह्मज्ञान के नैतिक आधार का उल्लेख करता है।

इस उपनिषद् के मन्त्रों का अध्ययन आरम्भ करने से पहले हम इसके शान्ति पाठ के मन्त्र को लेंगे। परम्परा के अनुसार, प्रत्येक उपनिषद् का शान्ति पाठ, उस उपनिषद् के अध्ययन के आरम्भ और अन्त में होना चाहिए; तथा ये शान्ति पाठ उस वेद के अनुसार बदलते हैं, जिस वेद के अन्तर्गत यह उपनिषद् होता है। केन उपनिषद् सामवेद के तलवकार ब्राह्मण के अन्तर्गत है। ईशोपनिषद् के अध्ययन के आरम्भ में हमने उसके शान्तिपाठ का अध्ययन किया और उसे शक्तिदायक आध्यात्मिक विचारों से ओत-प्रोत पाया।

ये सब शान्तिपाठ पावक और संयोजक विचारों और भावनाओं से भरे हैं। वे मन को शान्ति तथा स्फूर्ति देने का काम करते हैं, और उसे, विचार के आगामी निःशब्द प्रयास के लिए सज्जित करते हैं। कठोपनिषद् में शान्तिपाठ का मन्त्र इस प्रकार है :

ओ३म् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ओ३म् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

'ओ३म्' ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करें, हम दोनों का पोषण करें, हम दोनों ऊर्जा उपार्जन करें, हम दोनों को यह अध्ययन प्रबुद्ध करे, हम दोनों एक-दूसरे से कभी द्वेष न करें। ओ३म् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

शब्द 'दोनों', शिष्य और गुरु का द्योतक है। लौकिक क्षेत्र में भी, गुरु और शिष्य के मनों के बीच परस्पर भाविता होना सच्ची शिक्षा है। विषय जितना उच्च, परस्परभाविता उतनी ही गहरी तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वाधिक तीव्र होती है। इस पृष्ठभूमि के बिना, गुरु-शिष्य में सहभाविता हुए बिना, शिक्षा केवल गतिहीन और प्रेरणाहीन पठन-पाठन बन जाती है। समस्त शिक्षा मानव मन को कुछ जाग्रति और तेजस्विता देती है। किन्तु आत्मा का ज्ञान, जैसा उपनिषद् आगें बतायेगा, अधिकतम तेजस्विता का स्रोत है : 'आत्मना विन्दते वीर्यम्'—आत्मा द्वारा मनुष्य

तेजस्विता प्राप्त करता है। इस अध्ययन का दूसरा महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है, ज्ञान का आलोक। सत्य के आलोक से आलोकित कर देना उसका लक्ष्य है। शुद्ध चैतन्य रूप में, आत्मा ज्योति का परम तत्त्व है। मुण्डक उपनिषद् (II.2.10) कहता है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' अर्थात् उसकी ज्योति से यह सब जगत भासित है; और पंचदशी (I.7) कहती है :

मासाब्द यग कल्पेषु गतागाम्येष्वनेकधा।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा॥

अतीत और भविष्य के मास, वर्ष, युग और कल्प में भी संवित (चेतना) जो स्वयं प्रकाशमान है, न आती है न जाती है।

महान् भौतिकशास्त्री श्रौडिंगर के शब्दों में जिनका पहले उद्धरण हो चुका है :

चित् का अनुभव कभी बहुवचन में नहीं होता, सदैव एकवचन में होता है···· चित् वह एकवचन है जिसका बहुवचन अज्ञात है।[1]

शान्तिपाठ का समापन शिष्यों के मध्य तथा शिष्यों और गुरुओं के मध्य, एकता के लिए प्रार्थना करते हुए होता है।

परन्तु केनोपनिषद् में शान्ति पाठ इस प्रकार है :

ओ३म् आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ओ३म् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

ओ३म्। मेरे अंग पुष्ट हो जायें, मेरी वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत, तथा सब इन्द्रियाँ बलवान हों। समस्त सत्ता उपनिषदों का ब्रह्म है। मैं कभी ब्रह्म की उपेक्षा न करूँ, ब्रह्म कभी मेरी उपेक्षा न करे। बिलकुल उपेक्षा न हो, कम से कम मैं तो उपेक्षा न करूँ। जो कुछ गुण उपनिषदों में हैं, वे आत्मा के भक्त मुझमें हो जावें, मुझमें निवास करें। ओ३म् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

शक्ति और ज्ञान के लिए प्रार्थना

आत्मविद्या का शिष्य अंगों में बल तथा इन्द्रियों में तेजस्विता के लिए प्रार्थना करता है। आध्यात्मिक यात्रा एक कठिन यात्रा है। 'वह छुरे की धार पर चलने जैसी है'—कठोपनिषद् (III.14) कहता है। मुण्डक उपनिषद् (III.2.4) कहता है कि बलहीन इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। उपनिषद् कहते हैं कि युवा, तेजस्वी, बुद्धिमान और बलवान ही आत्मा का दर्शन करेगा। युवावस्था में

[1] श्रौडिंगर, व्हॉट इज लाइफ ?, 90–91।

इन्द्रियों में तेजस्विता होती है। किन्तु जो मन आत्मज्ञान की खोज में निरत है वह और भी बलवान होता है, इसलिए इन्द्रियों का अनुशासन करने में, तथा उनकी शक्तियों को आत्मा की ओर मोड़ देने में वह समर्थ होता है। आत्मविद्या में निरत इस युवक को वह एक वीर्यवान् धीर पुरुष बनाता है। मन, यदि दुर्बल या सुस्त है, या इन्द्रियों की आज्ञापालन की उसकी प्रकृति है, तो वह आत्मा की खोज करने और पाने की सामर्थ्य और प्रवृत्ति खो बैठता है। इस प्रकार वह उस नित्य सत्ता का, जो सबका आत्मा है, निराकरण करता है। निराकरण से अर्थ उपेक्षा का है। सबका आत्मा होने के कारण, ब्रह्म किसी की उपेक्षा नहीं कर सकता। श्री रामकृष्ण कहते हैं 'ईश्वर सब मनुष्यों में है, किन्तु सब मनुष्य ईश्वर में नहीं हैं, इसीलिए मनुष्य दुःख पाता है।' इसलिए शिष्य यह कहता है कि कम से कम वह तो ब्रह्म की उपेक्षा न करे।

आवश्यक नैतिक गुणों का उपार्जन ही इस धोखे से बचने का एकमात्र उपाय है, क्योंकि वे, आध्यात्मिक उन्नति और अनुभूति के लिए अनिवार्य साधन हैं। इसलिए शिष्य, उपनिषदों में बताये हुए गुणों का अपने में निवास होने के लिए प्रार्थना करता है। इन गुणों के विषय में उपनिषदों में कई पद मिलते हैं। मुण्डक उपनिषद् (III.1.5) का निम्न पद विशेषतः शिक्षाप्रद है :

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

इस आत्मा का साक्षात्कार सत्य, तप, वास्तविक ज्ञान, और ब्रह्मचर्य के निरन्तर अभ्यास से प्राप्त होता है। पापमुक्त यति लोग इस शुभ्रज्योतिर्मय (आत्मा) को अपने ही अन्तर में देखते हैं।

केनोपनिषद् (IV·8) आगे चलकर हमें बतायेगा :

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा।

इस (ज्ञान) का आधार तप, दम, और (निःस्वार्थ) कर्म है।

प्रभु ईसा आश्वासन देते हैं : 'धन्य हैं वे जिनका हृदय शुद्ध है, क्योंकि वे ईश्वर को देखेंगे।'

जैसा उपनिषदों के ऋषियों ने समझा था, दर्शन या धर्म का लक्ष्य, केवल बौद्धिक कसरत या किसी विश्वास या हठमत की स्वीकृति नहीं है। किन्तु वह तो उन नैतिक गुणों पर जोर देता है, जो सत्य के साक्षात्कार के लिए उत्कट इच्छा के साथ संयुक्त कर देने पर, मनुष्य को भगवान् के चरणों में ले जाते हैं।

आठ

केनोपनिषद् (क्रमशः)

जैसा कि हमने पिछले व्याख्यान में देखा, अपने भाव और मनोवृत्ति में केनोपनिषद् का दर्शन एक समीक्षक दर्शन है। यह प्राचीन भारत के दर्शन के हठमती उपागम से भिन्न, एक समीक्षक उपागम के विकास को व्यक्त करता है। इस उपागम का लक्ष्य ज्ञान और अनुभव का मूल्यांकन है। उपनिषद् हमारे इन्द्रिय-ज्ञान तथा तर्कशास्त्र और विज्ञानशास्त्र द्वारा अनुशासित मन से मिले ज्ञान के सत्य तथा प्रामाणिकता पर सन्देह करता है। इस ज्ञान को वह सापेक्ष का ज्ञान मानता है, निरपेक्ष का नहीं। यहाँ तक कि अनुशासित मन का ज्ञान जो विज्ञान है, इन्द्रिय-तथ्यों से प्राप्त होने के कारण परछाइयों का ज्ञान है, पदार्थ का नहीं।

उपनिषद् प्रश्न करता है कि क्या समग्र ज्ञान यही है ? या कुछ और है, जो उच्च, अनन्त और निरपेक्ष है ? किन्तु केनोपनिषद् तथा अन्य उपनिषद् भी एक उत्तर देते हैं। इन्द्रियों तथा मन द्वारा प्रकाशित मानव ज्ञान के स्वरूप तथा विस्तार का मूल्यांकन करने के बाद केनोपनिषद् हमें बताता है कि ज्ञान का एक अधिक उच्च रूप है, चेतना का एक अधिक उच्च रूप है, जिसमें ज्ञान और अनुभव एक हो जाते हैं, तथा जो अनित्य और सापेक्ष का अतिक्रमण करते हैं। यह मनुष्य के सत्य स्वरूप आत्मा का ज्ञान है, जो विश्व का भी आत्मा है। ऐसा होने से, निरपेक्ष और अनन्त तत्त्व को केवल अनुमान या विश्वास या निष्कर्ष की बात रह जाने की आवश्यकता नहीं।

किन्तु उपनिषद्, जिसे 'आत्मा' या 'ब्रह्म' कहते हैं, उस अनन्त और अमृत तत्त्व की अनुभूति के लिए, अनुशासन और प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इसी मन को, जो अब इन्द्रियों की दासता में है, और जिसके कारण वह परिमित तथा विकारी जगत से बद्ध है, ब्रह्म के सत्य की अनुभूति के लिए सज्जित करने को उसे अनुशासित तथा प्रशिक्षित किया जा सकता है। इसलिए भारतीय दर्शन, मन के दो रूप बताता है। एक रूप में वह इन्द्रियों की दासता में रहता है, तथा दूसरे से वह

मुक्त। यह विचार बार-बार भारतीय आध्यात्मिक साहित्य में आता है। पंचदशी (XI.116) कहती है :

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंपर्कात् शुद्धं कामविवर्जितम् ॥

मन दो प्रकार का बताया गया है—शुद्ध तथा अशुद्ध। काम के दबाव में आने पर, वह अशुद्ध तथा उससे मुक्त होने पर वह शुद्ध है।

शुद्ध मन

शुद्ध मन में ब्रह्म की अनुभूति करने की सामर्थ्य है। ब्रह्म को 'बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्'—बुद्धि को ग्राह्य किन्तु इन्द्रियों के परे (जिसमें मन शामिल है), बताया गया है। श्री रामकृष्ण कहते हैं, शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि है, और वही है आत्मा। यही है वह उद्यम, जो दर्शन को केवल बौद्धिक और सैद्धान्तिक खोज न रहने देकर आध्यात्मिक जीवन में बदल देता है, तथा धर्म को एक सामाजिक-राजनीतिक अनुशासन न रहने देकर आध्यात्मिक अनुभूति के लिए साधना में बदल देता है, और सत्य की अनुभूति करने तथा जीवन की परम उत्कृष्टता प्राप्त करने के लिए, धर्म और जीवन को संयुक्त कर देता है।

तो अब प्रश्न है कि मन को शुद्ध कैसे करें? भारत के प्रत्येक आध्यात्मिक ग्रन्थ में इस विषय का विवेचन है। मन या चेतना को उसकी इन्द्रियबद्ध परिमितता से मुक्त, और उसे उसके सच्चे अनन्त विस्तार में पुनः प्रतिष्ठित कैसे करें? मन, जैसी कि उसकी इस समय बनावट है, विभिन्न इन्द्रिय संस्कारों से प्रतिबद्ध है, जो उसे एक परिमित रीति में काम करने को बाध्य करते हैं, और जो उसे परिमित ढाँचों के द्वारा प्रकाश करने को बाध्य करते हैं। भारत के एक पवित्र ग्रन्थ 'चण्डी' या 'देवीमाहात्म्य' (I.47) में हम पढ़ते :

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोः विषयगोचरे।

सब प्राणियों का ज्ञान इन्द्रियों के ढाँचों से बन्धित है।

पशुओं समेत प्रत्येक प्राणी का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से आता है। यह ज्ञान, मानो इन्द्रिय अनुभव के छोटे टुकड़ों द्वारा रिस कर आता है, किन्तु पशुओं में, यह ज्ञान खण्डमय तथा अव्यवस्थित है, साधारण मनुष्यों में कुछ अंश में यह व्यवस्थित और सुसंगत है, तथा वैज्ञानिकों में अत्यन्त सुव्यवस्थित और सुसंगत; किन्तु यह समझना हमारी भारी भूल है कि ज्ञान का यह सर्वोन्नत रूप है। सब परिकल्पनात्मक दर्शन यही भूल करते हैं। अपने को इन्द्रिय तथ्यों तक, जाग्रत अवस्था के तथ्यों तक सीमित रखने से, समस्त अनुभव उनके अध्ययन-क्षेत्र की परिधि में नहीं आता। फलतः उसे दर्शन की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

उपनिषदों ने भारतीय दर्शन को यह भूल नहीं करने दी। उन्होंने तथ्यों के

जगत एवं मूल्यों के जगत, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की तीनों अवस्थाओं में प्रकाशित जगत, समस्त अनुभव को अपनी तथ्य सामग्री बनाकर और उसके स्वरूप और सम्भावनाओं सहित मानव मन की जाँच करके दर्शन को विस्तृत और अधिक गहन बना दिया। उन्होंने यह खोज निकाला कि प्रशिक्षित और अनुशासित करने पर इस मन ने अपनी ही ऊँची विमाओं को व्यक्त किया है, तथा प्रभेदन की नयी-नयी शक्तियों को अभिव्यक्त किया है। मानसिक स्तर पर इन्द्रियातीत प्रतीति वही है जहाँ पर मानव ज्ञान इन्द्रिय-तन्त्र की परिसीमितता से विमुक्त हो जाता है। किन्तु यह बात भी जगत तक सीमित है। उसकी सर्वोच्च प्रभेदन शक्ति तब अभिव्यक्त होती है, जब समस्त प्रपंच के परे निष्प्रपंच तत्त्व (परासत्ता) को वह प्रकट करता है। उपनिषदों के अनुसार यह पराविद्या, वास्तविक रूप में दर्शन शब्द का अर्थ है (मुण्डक उपनिषद्, I.1.5)।

भौतिक विज्ञान में मन का अनुशासन

भौतिक विज्ञान में हमें इसी के सदृश एक भौतिक घटना का परिचय मिलता है। सामान्य प्रकाश बहुत कम दूर तक पहुँचता है। किन्तु इसी विकिरण की तरंग आवृत्ति बढ़ा देने पर, विज्ञान ने अधिकाधिक प्रभेदन-शक्ति सम्पन्न विकिरण विकसित कर ली है, जो अधिक दूर तक पहुँच सकती है। भौतिक जगत की इसी घटना को हम मानसिक जगत में आवृत्त होता पाते हैं। साधारण मन अपनी क्रियाओं में अशिक्षित, अनुशासित, तथा बहुत ही तमोगुणी होता है, अनुभव के तल पर ही रुक जाता है। वह तल का प्रभेदन करके वस्तुओं की गहराई में नहीं जा सकता। वह यह सवाल भी नहीं उठा सकता कि आभास के पीछे भी कुछ है क्या? कच्चा मानव मन ऐसा होता है। फिर भी वही मन प्रशिक्षित तथा अनुशासित बनाया जा सकता है और उसे प्रभेदन-शक्ति-सम्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार उसी कच्चे मन को अनुशासित करने में परिवर्तित किया जा सकता है जिससे इन्द्रियानुभव और अन्वेषण में एक अनुशासित प्रक्रिया पैदा हो जाती है। इस अनुशासन के फलस्वरूप मन को मानव-संस्थान के संवेदी तन्त्रिका और गतिप्रेरक तन्त्रिका-संयन्त्र (सेंसरी एण्ड मोटर एपरेटस) पर नियन्त्रण करने की शक्ति मिल जाती है। अब इन्द्रियों के अनुभवों तथा सहज प्रवृत्ति के आवेग के सीधे आदेश में काम होना बन्द हो जाता है। प्रशिक्षित मन युक्ति द्वारा कल्पना को अनुशासित करता है, और उन प्रभावों और आवेगों को रोकने की तथा मूल्यांकन करने की, और यह मालूम करने की कि उनका क्या अर्थ है और कहाँ ले जायेंगे, सामर्थ्य पैदा कर लेता है। इस वैज्ञानिक अनुशासन के फलस्वरूप, मन आभासों के प्रभेदन की, और पीछे स्थित सत्य को खोज निकालने की, और आभासों पर नियन्त्रण करने वाले नियमों को भी जान लेने की, सामर्थ्य का विकास कर लेता है। मानव मन ने विज्ञान में यह अनुशासन उपार्जित किया है।

किन्तु यदि कोई वैज्ञानिक यहाँ रुक जाता है और सत्य की खोज में आगे बढ़ने से इनकार करता है, तो यही कहा जायेगा कि उसने अपना वैज्ञानिक शोध भाव त्याग दिया है, तथा वह हठमती बन गया है। उसे वहाँ क्यों रुकना चाहिए ? मानव मन यदि कुछ आभासों को प्रभेदन करने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है, तो अधिक प्रशिक्षण से, आभासों की उस समग्र पर्पटी को प्रभेदन करने के लिए, जो हमारे दैनिक अनुभव की वस्तु है, तथा समस्त प्रपंच के परे निष्प्रपंच तक, विकारी के पीछे अविकारी एकतत्त्व तक प्रभेदन के लिए शिक्षित किया जा सकता है। मानव मन के लिए यह अत्यन्त दिलचस्प विषय है; बारम्बार पराजित होने पर बार-बार मन वहीं जायेगा। ऐसे मौलिक प्रश्नों से मन को हटाने का कोई प्रयत्न करे, भावात्मकतावाद तथा मानवता के दर्शनों को अपना ले, और मन को एक नैतिक जीवन या जनकल्याण में चाहे लगाने का यत्न करता रहे; किन्तु यह थोड़े दिन के लिए होगा।

उन्नीसवीं शती से प्रत्यक्षवादी का दर्शन, धर्म के युक्तिहीन हठमतों तथा तत्त्वमीमांसा के अनिर्णित निश्चयों के विरुद्ध प्रतिक्रिया रूप में, लोकप्रिय बन गया है। यह दर्शन मानव मन की उस निराशा को अंकित करता है, जो इस मनोभावना से उत्पन्न होती है कि मनुष्य कभी परम सत्य को नहीं जान सकता। प्रत्यक्षवाद कहता है, सब तत्त्वमीमांसा बकवास है। यदि आवश्यक ही है, तो थोड़ी बुद्धि की कसरत के लिए तत्त्वमीमांसा की शरण लो, लेकिन ऐसा करते हुए, इस दुनिया को पहले से कुछ अच्छा, कुछ अधिक सुखी बनाओ। परम सत्य के विषय के झंझट में क्यों पड़ते हो ? विज्ञान में कठिन अनुशासन के बाद भी मन की बनावट ऐसी है कि वह उसकी पकड़ से बाहर है, इसलिए बुद्धिमानी यह है कि उस शक्ति और समय को व्यर्थ न गँवायें।

यह है मानव मन का निराशा भाव जिसने आधुनिक मन को जकड़ रखा है। किन्तु इस निराशा भाव में, इस पराजित भाव में, मानव निरन्तर नहीं जी सकता। जिस प्रकार पर्वतारोहण में, जहाँ किसी कठिन पर्वतश्रेणी के अनारोहित शिखर, मानव जीवट के साहस और अध्यवसाय के लिए एक निरन्तर चुनौती बने रहते हैं, और अधिक जीवटी शिखरों पर अपने अथक् अभियान तब तक जारी रखते हैं, जब तक कि अन्तिम तथा सर्वोच्च शिखर नहीं पा जाते। इसी प्रकार सत्य की खोज में परम सत्य की चुनौती तथा प्रलोभन, ज्ञान तथा अनुभव के सर्वोच्च शिखरों पर चढ़ने की इच्छा, अन्वेषकों में साहसी को भी व्याकुल बना देती है। इस प्रकार मानव मन की इस जिज्ञासा को टाला नहीं जा सकता; वह किसी भी गुप्त वस्तु से किसी रहस्य के विषय से कुतूहलित हो जाता है। यदि व्यक्तियों का एक वर्ग ऐसे सवाल नहीं करेगा तो दूसरा करेगा। यदि एक वैज्ञानिक उनकी खोज नहीं करता, तो दूसरा करेगा। विज्ञान के जगत में हम आज यही होता देख रहे हैं। आज ऐसे वैज्ञानिक हैं जो विज्ञान को उसके भावात्मक उपागम तक सीमित रखना चाहते हैं। किन्तु दूसरे

वैज्ञानिक हैं, जो विज्ञान को इस सीमा के बाहर ले जाना चाहते हैं, ऐसे मौलिक प्रश्नों के क्षेत्र में, जैसे सत्य का स्वरूप, कार्य-कारण भाव की समीक्षा, तत्त्व का स्वरूप, तथा मानव-ज्ञान का स्वरूप और क्षेत्र। ये वैज्ञानिक इन प्रश्नों के सन्तोषप्रद उत्तर न पा सकें, किन्तु इन प्रश्नों को करने का साहस उनमें है। विज्ञान की सच्ची परम्परा भी यही है कि सत्य के लिए स्वतन्त्र और निरन्तर खोज की मनोवृत्ति का समर्थन किया जाये।

वेदान्त में मन का अनुशासन

आधुनिक जगत में वैज्ञानिकों के ये दो वर्ग हैं, तथा यह एक शुभ लक्षण है कि आधुनिक विज्ञान, अपनी मनोवृत्ति और परम्परा के प्रति निष्ठावान है और सत्य की निर्भीक खोज में आगे बढ़ रहा है। वेदान्त की भी यही परम्परा है। युगों पूर्व, वेदान्त ने विचारों के अनारोहित शिखरों पर चढ़ने का प्रलोभन अनुभव किया था। उसने कभी हार नहीं मानी, और अन्तिम शिखर को जीतने आगे बढ़ता गया। वेदान्त के इस पक्ष का उल्लेख करते हुए प्रो० मैक्समूलर कहते हैं :

> निस्सन्देह यह चकित करने वाली बात है कि सहस्रों वर्ष पहले, भारत के अथक् तथा निर्भीक चिन्तकों ने धीरे-धीरे वेदान्त जैसा दर्शन उत्पन्न कर लिया, एक ऐसा दर्शन, जो अब भी हमें वैसे ही चकरा देता है, जैसे एक प्राचीन गोथिकगिरजे की लड़खड़ाती मीनार की अन्तिम सीढ़ियों पर चढ़ने से होता है। हमारे किसी दार्शनिक ने, जिसमें हिरेक्लिटस, प्लेटो, काण्ट या हीगल भी अपवाद नहीं हैं, तूफानों और बिजलियों से कदापि भयभीत न होकर, एक ऐसा मीनार बनाने का साहस नहीं किया। एक बार पहली सीढ़ी निर्माण हो जाने पर, एक बार स्पष्ट देख लेने पर, कि आदि में केवल एक तत्त्व सम्भव हो सकता था, जैसा कि अन्त में एक ही होगा, उसे हम आत्मा कहें, चाहे ब्रह्म, क्रमपूर्वक एक पत्थर के अनुगत दूसरा पत्थर रखा हुआ है।[1]

इस साहसपूर्ण जीवट में भारतीय चिन्तकों के लिए क्या प्रेरक शक्ति थी? सत्य के प्रति एक तीव्र कामना, मानव सुख तथा हित के प्रति एक तीव्र कामना। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं :

> मेरा विश्वास है कि प्राचीन संस्कृत दार्शनिकों की श्रेष्ठता का कारण यह है कि उन्होंने कोई बात यह सोचकर नहीं की कि इससे कोई प्रसन्न होगा। जिस काम को करने के लिए वे दृढ़ प्रतिज्ञ थे, उसके अतिरिक्त वे कुछ नहीं सोचते थे, उनका एकमात्र ध्येय था उस काम को यथासम्भव पूर्ण बनाने का। अपने समान या श्रेष्ठ लोगों के अतिरिक्त वे किसी अभिनन्दन को महत्त्व नहीं देते थे। प्रकाशक, सम्पादक और अभिलेखक अभी पैदा नहीं हुए थे। तो

1 मैक्समूलर, सिक्स सिस्टम्स ऑव इण्डियन फिलॉसफी, 182–83।

फिर इसमें आश्चर्य ही क्या है कि उनका काम इतना अच्छा हुआ जितना कि हो सकता था। वह काम हजारों वर्ष से टिका हुआ है।[1]

आधुनिक विज्ञान के लिए, उस अनुशासन पद्धति की खोज करना हितकर होगा, जिससे औपनिषदिक ऋषियों ने अपने मन को अनुशासित किया। उसी के द्वारा वे विचार के सर्वोच्च शिखरों पर पहुँचे थे। उसी के द्वारा उन्होंने विकारी बहु के पीछे एक अविकारी तत्त्व का साक्षात्कार किया था। सत्य के लिए उसकी एकनिष्ठ भक्ति ने, उसकी बुद्धि के अनुशासन ने, तथा उसकी नैतिक पवित्रता ने, उपनिषद् के ऋषि की, अपने साधारण मन से एक नवीन बृहत् प्रभेदन-शक्ति-सम्पन्न मन के विकास करने में सहायता की। लगता है मनुष्य में इन्द्रिय सुख की लालसा इस बात की द्योतक है कि मनुष्य आदिकाल में पशुवृत्ति का ही था। ज्यों-ज्यों वह इन्द्रिय संयम की ओर बढ़ा, त्यों-त्यों पशुवृत्ति की इस विरासत से मुक्त होता गया। सत्य के प्रेम से प्रेरित, जो ज्ञान और मूल्य, दोनों का केन्द्र समझा गया, उपनिषदों में ऐसा मानव मन, मानव के ज्ञानोदय का उपकरण बन गया। शुद्ध मन शुद्ध बुद्धि बन गया जिसने फिर बोधि पैदा की। उसी के फलस्वरूप बुद्ध का अवतरण होता है।

जब हम उन विभिन्न शक्तियों पर विचार करते हैं, जो आज वैज्ञानिक मन को, सत्य की खोज को, उसके मुख्य उद्देश्य से विचलित करने की ओर प्रवृत्त हैं तो हमारे सामने उपनिषदों के ऋषियों की स्वतन्त्र और निर्भीक खोज का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

सर्वप्रथम, इन्द्रिय सुख का प्रलोभन है। यह विज्ञान की एक अतिकुशल तकनीकी सभ्यता की देन है। लगता है विज्ञान की यह देन शायद विज्ञान की जड़ ही नाश कर दे। दूसरा है, परस्पर विरोधी राजनीतिक सिद्धान्तों के खिंचाव के कारण वास्तविक भाव का पथ छोड़ देने की प्रवणता। तीसरा है, मानव मन का नितान्त तमो भाव, जो आलस्य और हठमती वृत्ति को जन्म देता है।

विगत शतियों में विज्ञान को कभी-कभी धार्मिक हठमतों के साथ समझौता करना पड़ा था। लगता है अब उसे राजनीतिक हठमतों के साथ समझौता करना है। किन्तु विज्ञान के सच्चे भाव का कोई हठमत नाश नहीं कर सकता।

आज विज्ञान को अपने भाव को, सब प्रकार के हठमतों से, धार्मिक हो या वैज्ञानिक, राजनीतिक हो या सामाजिक, मुक्त करने की आवश्यकता है। इस काम में आधुनिक विज्ञान को सबसे अधिक सहायक प्रेरणा वेदान्त से मिलेगी। क्योंकि वेदान्त किसी हठमत से सम्बद्ध नहीं है, वह केवल सत्य से सम्बद्ध है, और उसका दृढ़ विश्वास है, सत्य की अर्धसत्यों और असत्यों पर विजय पाने की शक्ति में। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् केवल सत्य की जय होती है, न कि असत्य की। यह है उपनिषदों का नारा (मुण्डक उपनिषद् III.1.6)।

भारत के महान् ऋषि इसी खोज में लगे थे, तथा भावी पीढ़ियों के लिए उन्होंने

[1] मैक्समूलर, थ्री लेक्चर्स ऑन वेदान्त फिलॉसफी, 39–40।

एक अमर विरासत छोड़ी है। उपनिषदों को रचे हुए युगों बीत गये, और पिछले युगों की तुलना में बुद्धि तथा पाण्डित्य में अतुलित प्रगति हो गयी है, किन्तु वे उपनिषद् आज भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, और हम उनका अध्ययन करते हैं। उपनिषदों के प्रति इस आकर्षण का आधार है, वह गहन अनुभव जो मनुष्य के उसके अपने स्वरूप और विश्व के स्वरूप का पता देता है। जो विचार उपनिषद् देते हैं, जो कठिन कार्य-प्रणालियाँ उन्होंने अपनाई हैं, तथा जिस निष्पक्ष मनोभाव से वे बात कहते हैं—वे सभी हमारे लिए आकर्षण का केन्द्र हैं। आधुनिक मन, उपनिषदों के ऋषियों के उस आश्चर्यजनक समीक्षक उपागम से तुरन्त आकर्षित होता है, जिसके द्वारा उन्होंने मन तथा उसकी बनावट की, उसकी क्रियाओं तथा सामर्थ्य की, सूक्ष्मता से खोज की थी, तथा मन से मिले समस्त ज्ञान और सूचना का मूल्यांकन किया। वे यह जानने के लिए कृत-संकल्प थे कि इस विशेष क्षेत्र, आत्मा के क्षेत्र, के लिए—जो सब अनुभवों के विषयों का क्षेत्र है और जो विषयों के सब अनुभवों के क्षेत्र से विलक्षण है, तथा जिसका अध्ययन भावात्मक विज्ञानों द्वारा होता है—यह मन एक उपयुक्त उपकरण बनाया जा सकता है या नहीं।

एक विशेष क्षेत्र में काम करने के लिए एक कर्मकार अपने हथियारों को आवश्यकतानुसार ढालता है। एक वैज्ञानिक या दार्शनिक भी यही करता है, किन्तु उसका हथियार स्वयं विचार है। उसके मन और विचार से यह हथियार बनता है। जब एक विद्यार्थी एक महान् वैज्ञानिक के पास उससे विज्ञान सीखने जाता है, शिक्षक उसको विज्ञान के अनुशासन के अधीन रखता है—सत्य में, अनासक्त भाव में, वस्तुनिष्ठता में तथा असंदिग्धता में अनुशासन। अपने सामने पड़े हुए तथ्यों के ढेर से काम निकालने की सामर्थ्य विकास करने के लिए, तथा स्वयं एक मौलिक वैज्ञानिक अन्वेषक बन जाने के लिए, एक विज्ञान के विद्यार्थी को विभिन्न और जटिल प्रशिक्षण दिया जाता है।

इसी के सदृश, वेदान्त आध्यात्मिक साधक को इस क्षेत्र के उपयुक्त अनुशासन के प्रकार के अधीन अपने आपको रखने का अनुरोध करता है। कठोपनिषद् (I.iii.12) का वचन है—'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'—जो सूक्ष्म सत्य देख सकते हैं, उनके एकाग्रमन अवश्य आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं, ऐसे मन जिनको सूक्ष्मज्ञान प्राप्त करने के लिए साधा गया है। हम जब आध्यात्मिक खोज के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, हम जब परम तत्त्व को खोजते हैं, हमारा मन इससे भी अधिक अनुशासित होना चाहिए। यदि विज्ञान के लिए मन का प्रशिक्षण कठोर है, तो आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए उसका, प्रशिक्षण और भी कठोर है, क्योंकि कठोपनिषद् (I.iii.14) कहता है :

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

मनीषी ऐसा कहते हैं कि वह पथ छुरे की धार जैसा है, जिस पर चलना और जिसको पार करना कठिन है।

इसलिए हमें नैतिक शुद्धता—स्फूर्ति और एकाग्रता—में अधिक उत्कट प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इस प्रशिक्षण विना आध्यात्मिक सत्य के लिए हमारी खोज निष्फल होगी। विक्षेप, विषयकामना, तथा आलस्य से मन खोज करने से विचलित हो जायगा। मन को विचलित करने के लिए नाम और यश की आकांक्षा आ सकती है, अनेक दूसरी आकांक्षाएँ आ सकती हैं, किन्तु आध्यात्मिक साधक को संकरे रास्ते पर सीधा चलना होगा, जिसकी तुलना छुरे की धार पर चलने से की गयी है। ईसू ख्रीस्ट कहते हैं, 'पूर्णता की ओर ले जाने वाला रास्ता संकीर्ण है।' यही प्रशिक्षण है, जिसे महान् भारतीय ऋषियों ने अपनाया था, और यही प्रशिक्षण है, जिसे हमें भी अपनाना चाहिए। ऐसे प्रशिक्षण द्वारा हमारे मन उस प्रभेदन शक्ति का विकास करेंगे, केवल जो, उस परदे को छेदने में सहायक हो सकता है, जो ब्रह्म के परम सत्य को हमसे छिपाये है।

अनुशासन की शक्ति

अपने दैनिक जीवन में ही अति तुच्छ भौतिक वस्तुओं को भी, विशेष स्थितियों के अधीन करने पर, असाधारण वल या प्रभेदन शक्ति दी जा सकती है। उदाहरणस्वरूप वायु को बहुत निःसार मानते हैं। किन्तु जब उसे दवाव में रखा जाय, तो वह बहुत अधिक प्रभेदन शक्ति उपार्जन कर लेती है, ऐसी वायु, शिलाओं को काट सकती है। यदि वायु को अनुशासित करके इतना शक्तिशाली उपकरण बनाया जा सकता है, तो मानव मन को क्यों नहीं ? मन अभी बहुत तुच्छ हो सकता है; वह दुर्बल हो सकता है, हो सकता है उसमें कोई प्रभेदन शक्ति न हो और मार्ग में किंचित् बाधा आने पर प्रतिक्षिप्त होकर वह अपनी पहल शक्ति खो दे। किन्तु उसे इस तुच्छ अवस्था में पड़े रहने की आवश्यकता नहीं है। वह प्रशिक्षण द्वारा सबल बनाया जा सकता है। एक अकेला धागा इतना कमजोर होता है कि एक झटके से तोड़ा जा सकता है। किन्तु और बहुत से धागों के साथ बट दो और रस्सी बनालो, वह फिर एक हाथी को बस में कर सकता है। यह शास्त्रों का चिरप्रतिष्ठित उदाहरण, हमें यह याद दिलाने के लिए है कि मन को बल और लचीलेपन में प्रशिक्षित किया जा सकता है, तथा उसको सत्य के मर्म में प्रभेदन की सामर्थ्य दी जा सकती है।

इसलिए, सत्य की खोज में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, मन को, समग्र मन को, यह प्रशिक्षण तथा अनुशासन देने की। इस प्रशिक्षण का अंश वहाँ होता है, जिसे हम लौकिक क्षेत्र कह सकते हैं, जो सामाजिक तथा शैक्षणिक उद्यम का क्षेत्र है। इन क्षेत्रों में भी अनुशासन ही है, जो मन को अधिक ऊर्जा और बल देता है।

हमारे राष्ट्र का आज यह दुर्भाग्य है कि आमतौर से लोगों ने आत्म-अनुशासन के महत्त्व को नहीं समझा है और न ही उसकी शैक्षणिक तथा सामाजिक उपयोगिता को अनुभव किया है। वे समझते हैं कि मन को मनमानी करने या इन्द्रियों के आदेश

पर चलने की छूट देकर वे महान् हो जायेंगे। 'अनुशासन' शब्द बहुत लोगों के लिए हौआ है। इससे केवल यह सिद्ध होता है कि हमने स्वतन्त्रता का पूरा अर्थ नहीं समझा। गुलाम अनुशासन का विरोध करता है, आजाद आत्म-अनुशासन के सब अवसरों का स्वागत करता है। अनुशासनहीनता मन को निरन्तर दुर्बल बनाने का मार्ग है, तथा उसे सामाजिक या आध्यात्मिक जीवन दोनों के अयोग्य बनाता है।

किसी भी क्षेत्र में कठोर आन्तरिक अनुशासन बिना कभी महानता प्राप्त नहीं हो सकती। अनुशासन सम्बन्धित ऊर्जा है, तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में यह परिमाण तथा गुण दोनों की वृद्धि है। भौतिक या अभौतिक, समस्त ऊर्जा का स्वरूप यही है। मानव संस्थान में मानसिक ऊर्जा, गुण तथा मात्रा के सर्वोच्च स्तर पर, केवल आन्तरिक अनुशासन द्वारा उठायी जा सकती है। बारम्बार उपनिषद् कहते हैं कि इसका और कोई मार्ग नहीं। जितना शीघ्र हमारे लोग इस सत्य का अनुभव करलें, जितना शीघ्र हमारे युवक इस मर्म के अर्थ को ग्रहण करलें, उतना ही उनके लिए और राष्ट्र के लिए अच्छा होगा। इच्छा-शक्ति प्रबल करने का, सहानुभूति बढ़ाने का, चरित्र को उदार करने का, तथा सर्वतोमुखी सामाजिक और आध्यात्मिक कुशलता प्राप्त करने का, आत्मानुशासन ही मार्ग है।

पुरुषत्व से देवत्व की ओर

लौकिक क्षेत्र में, दैनिक उद्यम से महानता प्राप्त करने का यह राजमार्ग है। एक कदम आगे बढ़ाने पर यही अनुशासन हमें उस आध्यात्मिक उच्चाकांक्षा तथा अनुभूति में ले जाता है। सामान्यतः यह सोचकर कि संसार के लिए अयोग्य मन, ईश्वर-प्राप्ति के योग्य बनाया जा सकता है, हम भारी भूल करते हैं। बारम्बार हम अपनी अयोग्यता को छिपाने के लिए धार्मिक वृत्ति का बाना पहन लेते हैं। भारतीय समाज ने इस भूल को बहुत दिनों तक किया। शिक्षण क्षेत्र में हम एकांगिता को बहुत अधिक दिनों तक चिपटाये बैठे रहे। फलस्वरूप हमारे चरित्र और व्यक्तित्व भी एकांगी हो गए। और यह गीता की स्पष्ट शिक्षा के रहते होता रहा है। गीता ने कहा कि देवत्व (धार्मिकता) पुरुषत्व का फल है, न कि उसका निराकरण। पहले मनुष्य बनो, तब सन्त होने का प्रयत्न करो, यह शिक्षा हमें स्वामी विवेकानन्द से मिली है। पुरुषत्व पहले, देवत्व पीछे। किन्तु हममें से बहुतों ने पहले सन्त होना चाहा, और अब भी यही कर रहे हैं। हम गाड़ी को घोड़े के आगे जोतते हैं और इस सौदे में हम पुरुषत्व तथा संतत्व दोनों खो बैठते हैं। व्यक्ति तथा जाति के लिए यह दोषपूर्ण प्रणाली और उसके हानिकर फलों की ओर हमारा ध्यान हमारे महान् ऋषि स्वामी विवेकानन्द ने आकर्षित किया था। उन्होंने उपनिषदों तथा गीता के पावक, बलदायक और संयोजक संदेश के द्वार हमारे लिए खोल दिये। प्रत्येक नर और नारी में अनन्त आत्मा पर आधृत एक शिक्षा का स्वरूप और विस्तार उन्होंने हमें दिखाया,

जो पुरुषत्व और देवत्व दोनों की ओर ले जायेगा।

यह महान् साहित्य—उपनिषद् तथा गीता—और गीता भी उपनिषद् कहलाती है—प्रेरणा का एक अकेला सारभाग है जो जीवन की अभिव्यक्ति के उन्नत से उन्नततर स्तरों पर ले जाता है और इस प्रकार मानव जीवन में सर्वश्रेष्ठ रूपों का विकास करता है। परन्तु मानव जीवन में वह श्रेष्ठतम क्या है? वह स्वयं अनन्त सत्य ही; तथा केवल सत्य ही नहीं, अपितु अनन्त सौन्दर्य और अनन्त कल्याण, और अनन्त आनन्द भी। मनुष्य का सच्चा आत्मा ये सब हैं और उपनिषद् जीवन-व्यापी उद्यम द्वारा इस सत्य की खोज के आनन्दमय साहसिक कर्म के लिए हमें आह्वान कर रहे हैं :

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।

उसे ही ब्रह्म जानो (जो सर्वात्म तत्त्व है); उसे नहीं जिसकी उपासना लोग यहाँ करते हैं—केनोपनिषद् (I.4) बार-बार जोर देकर हमसे कहेगा।

मन उस एक वादक यन्त्र की तरह है जो अच्छा संगीत, ठीक प्रकार से सुर मिला लेने पर ही, पैदा करता है। यदि तार बहुत ढीले हैं, या बहुत कसे हैं, तो श्रेष्ठ संगीत पैदा नहीं हो सकेगा। मानव संस्थान में मन और शरीर दोनों की पूर्णता के लिए खोज व संघर्ष करना पड़ता है; तथा जब वह प्राप्त हो जाती है तो जो संगीत उससे निकलता है, वह सत्य, ज्ञान, सौन्दर्य तथा आनन्द का होता है। यह सर्वोच्च अनुभव है, जो सर्वोच्च ज्ञान भी है, तथा उपनिषद् मनुष्य को उसका स्वाद देना चाहते हैं—यहाँ इसी जीवन में, जैसा कि केनोपनिषद् (II.5) में हम आगे चलकर देखेंगे।

उपनिषदों को समझने के लिए, तथा उनसे लाभ उठाने के लिए, जीवन और धर्म के बारे में, अपने विचारों को एक नया मोड़ देना पड़ेगा। उपनिषद् किसी मरणोत्तर उत्कृष्टता की आशा नहीं दिलाते हैं। यहाँ और अभी, इसी देह में इसी मन सहित, मनुष्य सर्वोच्च सत्य और सर्वोच्च जीवन उत्कृष्टता का अवश्य उपार्जन करेगा। यहाँ और अभी मनुष्य मोह और दुःख का अनन्त सागर अवश्य पार करेगा; तथा उसे पार करने पर, वह अपने मनोदैहिक संस्थान को उसी प्रकार धन्यवाद देगा, जिस प्रकार एक नाविक, किसी उत्पाती समुद्र को सकुशल पार करने पर, अपनी नौका को देता है।

इस प्रकार शरीर और मन को यथोचित प्रशिक्षण देने पर, हम सत्य और उत्कर्ष के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकते हैं। एक प्रशिक्षित मन के सहित मनुष्य स्वास्थ्य तथा चरित्र का, ज्ञान तथा सौंदर्य का, संस्कृति और सभ्यता का आनन्द रस भोग सकता है। एक प्रशिक्षित मन सहित वह सापेक्षता के ऊपर उठ सकता है, तथा निरपेक्ष तत्त्व की अनुभूति का आनन्द भोग सकता है, जिसे बौद्ध लोकोत्तर कहते हैं, जो इन्द्रियों के तथा इन्द्रियबद्ध मन के जगत के परे हैं।

सर्वोच्च के लिए खोज

आत्मा इन्द्रियों के जगत के परे है, फिर भी वह इन्द्रियों के अनुभवों द्वारा यदा-कदा हमें प्रभावित करता है। वर्ड्सवर्थ उन्हें अमृतत्व की सूचनाएँ बताता है। शायद उसकी हमें एक झलक मिलती है, और वह तुरन्त विलीन हो जाता है। सूचना आती है, किन्तु अगले ही क्षण वह विलीन हो जाती है। किन्तु हम उससे कुतूहलित हो जाते हैं, क्योंकि हमें यह आश्वस्त करने के लिए इतना ही काफी है कि इन्द्रियों के सीमान्त के परे एक महत्तर तत्त्व मंडरा रहा है और हमें अपनी खोज वहाँ करनी चाहिए। वह सूर्य को आच्छन्न किये हुए बादल के समान है। वर्षा ऋतु में यहाँ, तथा शीत ऋतु में उत्तरी प्रदेशों में, हम सूर्य देखने को तरसते हैं, क्योंकि मेघ या कुहरा हमारी दृष्टि से उसे छिपाता है। अकस्मात् मेघ या कुहरा फट जाता है और सूर्य चमक उठता है। अगले ही क्षण मेघ या कुहरा फिर से छा जाता है। हमें सूर्य दिखाई दे या न दे, हम जानते हैं कि वह वहाँ है। सत्य के लिए हमारी खोज ठीक ऐसी ही है। कभी-कभी सत्य हमारे मनोदैहिक अनुभवों द्वारा, हमारे जीवन की दैनिक घटनाओं द्वारा, हमें अपनी झाँकी दे देता है। हमारे सांसारिक जीवन के दबाव में हम जल्दी ही इन छोटी लोकातीत सूचनाओं को भूल जाते हैं और उनकी उपेक्षा करते हैं। फिर भी यदा-कदा रुककर यह पूछने लगते हैं, क्या यह सत्य है ? क्या इस दैनिक विषयगत जीवन के परे भी कोई अधिक शुभ, अधिक पवित्र जीवन है ?

और इस तरह खोज आरम्भ होती है, परम सत्य तथा आध्यात्मिक अनुभूति के लिए खोज। लोकातीत तत्त्व का सुराग ढूँढ़ निकालने के लिए, सब अनुभव सूक्ष्म परीक्षा के अधीन रखे जाते हैं। ऐसे स्तर पर मनुष्य एक तीर्थ यात्री तथा उसका जीवन एक साधना बन जाता है जो उसे यथा काल आध्यात्मिक सत्य पर पहुँचाता है। वह एक साधक बन जाता है, सच्चा साधक। वह आध्यात्मिक उच्चाकांक्षी है, जिसका हृदय, आत्मा के लोकोत्तर शुद्ध जीवन के लिए, सचमुच व्याकुल रहता है।

यही उत्साही मन है, यही खोज भावना है, जिसकी अपेक्षा केनोपनिषद् अपने विद्यार्थी से करता है। इसमें जब कोई प्रतिष्ठित हो जाता है, तो समझ लो उसने अपनी पाल ठीक दिशा में चढ़ाई है। बुद्ध धर्म की भाषा में वह एक स्रोतापन्न बन जाता है अर्थात् 'जो (आध्यात्मिक) धारा में प्रविष्ट हुआ है।' मान लो, एक नाव गंगा में समुद्र की ओर जा रही है। यदि वह अपना मार्ग भूलकर नहरों और नालों में जा पड़ती है, कदाचित् वह बहुत गति अनुभव करती है, किन्तु कोई प्रगति नहीं करती। किन्तु एक बार नदी के मध्य पहुँच कर उसकी मुख्य धारा में प्रवेश करती है, तो उसे कोई भय नहीं रहता। वह दृढ़ता से समुद्र की ओर चलेगी। यह है उस साधक की स्थिति जो स्रोतापन्न है। आध्यात्मिक जीवन की मुख्य धारा में पहुँचकर वह क्रमशः आगे बढ़ता है, और सत्य की अनुभूति करता है।

ऐसा साधक-भाव जीवन-व्यापी होना चाहिए। हम काम करते हों या आराम करते हों, किसी भी स्थिति में हम हों, हमारी लगन यह होनी चाहिए कि हमारे हृदय सत्य की खोज में रहें, कि हम समग्र अनुभव द्वारा शुद्ध और अमृत तत्त्व की ही खोज करें। तब दूसरी सब वस्तुएँ आनुषंगिक मात्र बन जाती हैं, हमारे उपार्जन के उपकरण, हमारे प्रशिक्षण के क्षेत्र। सच्ची खोज, इनमें से किसी के लिए नहीं है। सच्ची खोज है, अनन्त सत्य के लिए, परम शुद्ध और परम श्रेष्ठ के लिए। 'भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति'—भूमा अर्थात् अनन्त ही सुख है; केवल अनन्त ही खोजनीय है—छान्दोग्य उपनिषद् (VII.23.1) कहता है। सुख में अथवा दुःख में, जय में अथवा पराजय में, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम उसी सत्य का अनुभव करेंगे। मानव मन का सबसे बड़ा जीवट कर्म है यह। इसमें प्रवेश करने पर मनुष्य, जीवन में एक नयी उमंग से ग्रहीत होता है, सत्य के लिए जीवन जीना, तथा इन्द्रिय स्तर के जीवन का अभिलक्षण उचाट और निराशा की सम्भावनाओं को बहुत पीछे छोड़ आता है। वह एक नवीन व्याकुलता से ग्रहीत होता है, जो रचनात्मक और सर्जनात्मक, पवित्र और शुद्ध है। ये सब उपनिषद् बताते हैं। मानव आत्मा की महानता तथा बल और आध्यात्मिक अनुभव के शिखरों पर चढ़ने और रह सकने की उसकी सामर्थ्य तथा आनन्द के साम्राज्य पर दखल करने की सामर्थ्य, जिसका उत्तराधिकारी वह है, इन बातों से साधक को प्रभावित करने के लिए, उपनिषद् कितने विभिन्न ढंग अपनाते हैं। मनुष्य के सच्चे गौरव और महत्त्व के जिस गान को उपनिषद् गाते हैं, वह मनोहारिता और शक्ति में अतुल्य है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

> (जाग्रत) चेतना के परे है, हमारी साहसपूर्ण खोज। (जाग्रत अवस्था की) चेतना इन्द्रियों से बद्ध है। आध्यात्मिक जगत के सत्यों तक पहुँचने के लिए, इसके परे, इन्द्रियों के परे, जाना मनुष्य के लिए अवश्यम्भावी है, और अब भी ऐसे व्यक्ति हैं जो इन्द्रियों की सीमा के पार जाने में सफल होते हैं। ये ऋषि कहलाते हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक सत्य का साक्षात् करते हैं।[1]

केनोपनिषद् हमें एक ऐसे जीवन की ओर चलने की प्रेरणा देता है जहाँ इन्द्रियाँ हमारे वश में हों, आत्मा की खोज में हम निश्चयपूर्वक बढ़ रहे हों और हमारा प्रत्येक अनुभव हमें सत्य का दर्शन करा रहा हो। अनुभव में वह कहीं छिपा है, तथा खोज जारी है। शरीर तथा ज्ञानेन्द्रियाँ, जिन्हें सामान्य बुद्धि तथा दर्शन की कुछ विचारधाराएँ, स्वपर्याप्त तथा अन्तिम मानते हैं; ऐसे नहीं हैं। वे अपने परे, एक तत्त्व की ओर निर्देश करते हैं। इस तत्त्व को जानने के लिए शिष्य गुरु से एक प्रश्न करता है, जो इस उपनिषद् का प्रथम मन्त्र है :

> ओ३म् केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
> केनेषितं वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 3, 253।

किसकी इच्छा से और किसकी प्रेरणा से मन विषयों में प्रवृत्त होता है ? किसकी प्रेरणा से प्राण पहले पहल चालू होता है ? किसकी प्रेरणा से मनुष्य शब्द उच्चारण करते हैं ? कौन देवता इन आँखों और कानों का संचालन करता है ?

नवजात शिशु को अपने परिवेश के जगत की सूचना उसकी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होती है । जन्म के समय, वह वस्तुओं तथा व्यक्तियों के जगत से घिरा होता है, जो उसे विलियम जेम्स के शब्दों में, 'एक गूँजता गुनगुनाता कोलाहल' मालूम पड़ता है । इस गूँजते कोलाहल में से बच्चा एक-एक चीज का विवेचन करके धीरे-धीरे ज्ञान का विकास करता है, तथा पहली चीज जिसका वह विवेचन करता है वह है उसकी माँ के शब्द और सामीप्य । परिवेश की सामान्य अस्तव्यस्तता से माँ बिल्कुल अलग है । शनैः शनैः बच्चा अधिक ज्ञान उपार्जन करता है तथा अस्तव्यस्तता में कुछ स्पष्टता और व्यवस्था आ जाती है । इस प्रकार बच्चा दुनिया को समझना, उसे मन से ग्रहीत करना, उस पर नियन्त्रण करना, अपने को भी समझना सीख जाता है, यद्यपि एक अस्पष्ट भाव में ही, तथा अन्त में वह अपने पाँवों पर खड़ा होने में समर्थ होता है, तथा माता से स्वतन्त्र हो जाता है । तत्पश्चात् बच्चा और अधिक प्रशिक्षण के अधीन होता है । उसे पढ़ाया जाता है । संसार के बारे में उसका ज्ञान स्पष्ट होता जाता है । अपने विषय में उसका ज्ञान पिछड़ा हुआ ही रहता है । उसका जीवन आत्म तत्त्व तथा अनात्म तत्त्व का सम्मिश्रण रहता है जिसमें अनात्म अंश की बहुलता होती है । कदाचित् वह एक वैज्ञानिक बन जाता है, और महान् वैज्ञानिक सत्यों को खोज निकालता है ।

किन्तु उसकी शिक्षा आगे बढ़ाई जा सकती है, अनात्म पहलुओं से विहीन, अपनी सच्ची आत्मा को समझने का वह प्रयत्न कर सकता है । यह कदम उसको आध्यात्मिक साधक बनाता है । वह आत्म-विज्ञान का एक सच्चा विद्यार्थी बनता है । अपने आत्मा को अज और अमर, शुद्ध और पूर्ण अनुभव करता हुआ, वह उसी आत्मा को विश्व के आत्मा रूप में देखता है, तथा इस प्रकार समस्त विश्व की मौलिक आध्यात्मिक एकता की दार्शनिक दृष्टि उपार्जित करता है । यही है मानव के विकास की प्राप्ति का चित्र जो उपनिषदों में देखने को मिलता है ।

जैसा कि हमने अभी देखा, केनोपनिषद् का आरम्भ होता है, गुरु के प्रति शिष्य के एक प्रश्न से, और यही प्रश्न आज आधुनिक तन्त्रिका-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के उच्च स्तरों पर पूछा जाता है । क्या अयौगिक और स्वतन्त्र कोई शुद्ध चित् तत्त्व है, जो मनुष्य के मनोदैहिक संस्थान का संचालन करता है ?

हमारा दैनिक अनुभव है कि सब ज्ञान इन्द्रियाँ-जन्य है, तथा हमारा मन उसको व्यवस्थित कर देता है । क्या मनुष्य का आत्मा या अहं—प्रत्यय वस्तु, अनात्म तत्त्वों का एक अस्थाई संश्लेषण मात्र है, या वह एक शुद्ध चित् तत्त्व है, जिसके पीछे उपस्थिति के बिना, मन, इन्द्रियाँ तथा शरीर जड़ और मृत, कार्य करने में असमर्थ

सत्त्वों में, परिणत हो जाता है ? दूसरा मन्त्र गुरु का उत्तर है—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

वह श्रोत्र का श्रोत्र है, मन का मन है, वाणी की वाणी है, प्राण का प्राण है, तथा चक्षु का चक्षु है। धीर पुरुष (मनीषी) इनमें से (इन्द्रिय कार्यों में से) आत्मा को पृथक् करके, इन्द्रिय-बद्ध जीवन में से, ऊपर उठकर अमृतत्व लाभ करते हैं।

गुरू शिष्य को आश्वासन देता है कि उसकी सूचना सही है। अमृत की वह थोड़ी सी सूचना, जिससे प्रेरणा पाकर शिष्य ने यह प्रश्न उठाया था, सही है। अब उसे इस बोध को स्पष्ट तथा पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

गुरु के पहेली भरे शब्दों का अर्थ बताते हुए शंकराचार्य कहते हैं :

अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरात्मं कूटस्थम् अजम् अजरम् अमृतं अभ श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि, तत्सामर्थ्यनिमित्तम्।

मनुष्य के अन्तरतम में एक कूटस्थ, अज, अजर, अमर और अभय तत्त्व है, जो ज्ञानी के लिए बुद्धिगम्य है। कर्णादि इन्द्रियों की क्रिया द्वारा वह अपने को प्रकाशित करता है।

गुरु शिष्य को यह स्पष्ट कर रहे हैं कि विभिन्न इन्द्रियों के पीछे जो शक्ति है वह आत्मा है। यह केवल एक धारणा या उक्ति नहीं है, किन्तु चेतना का चैतन्यस्वरूप है, जो सब धारणाओं तथा उक्तियों को अर्थ देता है। आत्मा होने के कारण वह एक वस्तु है, जो अनुभव की जा सकती है, तथा सावधानी से उसे मन और इन्द्रियों से पृथक् कर लेना, उसको अनुभव कर लेने का उपाय है। इन्द्रियाँ, विषय या अनात्म जगत की मर्त्य और विनाशी वस्तुओं से सम्बन्धित हैं, किन्तु आत्मा नित्य विषयी, अमृत और अविकारी है। मर्त्य के परे अनात्मा से आत्मा तक पहुँचने के लिए असाधारण बुद्धि तथा साहस आवश्यक है, ये ही विशिष्ट गुण हैं, जिनसे हम संसार में परिचित हैं। क्योंकि केवल वे ही जीवन के किसी भी क्षेत्र में विजय आश्वस्त करते हैं। शंकराचार्य व्याख्या करते हैं :

नहि विशिष्टधीमत्वमन्तरेण श्रोत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुं

विशिष्ट प्रखर बुद्धि के बिना, आत्मा का श्रोत्रादि इन्द्रियों के साथ तादातम्य दूर करना शक्य नहीं है।

मनुष्य को तब यह ज्ञान होता है कि वह केवल यह शरीर नहीं, संवेदनाओं का, विचारों का, तथा भावनाओं का एक पुंजमात्र नहीं है, किन्तु वह दिव्य तत्त्व है। यह ज्ञान हमें आसानी से नहीं मिलता। उसके लिए पैनी विवेक दृष्टि तथा नैतिक बल और अदम्य साहस चाहिए।

इस ज्ञान को उपार्जन करने के लिए जो ठीक-ठीक कदम मानव मन को उठाने आवश्यक हैं उन्हें उपनिषदों में स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से बताया गया है। इस मार्ग में जो आपत्तियाँ सामने आती हैं, उनका भी स्पष्ट रूप से वर्णन है। साधक

से उन दुर्बलताओं के विरुद्ध अत्यन्त सतर्कता बरतने की बात कही गई है। इसलिए, यहाँ दूसरे मन्त्र में गुरु का विवेचन मिलता है—धीर पुरुष आत्मा को समस्त मन और देहसंस्थान से अलग कर लेता है, वह इन्द्रियबद्ध जीव से ऊपर उठकर आत्म-ज्ञान द्वारा अमृतत्व लाभ करता है। साधारण कच्चा व्यक्ति जैसा कि वह अभी है, आत्मा का शरीर और इन्द्रियों के साथ मूलवश तादात्म्य करता है, अधिक बुद्धिमान व्यक्ति कदाचित् आत्मा का मन या अहं के साथ तादात्म्य कर सकता है। केवल ज्ञानी ही इस बात को जानता है कि यह सब जिसमें विकारशील, विनाशशील अहं भी शामिल है, आत्मा नहीं है, केवल उसका आत्मा ही अमृत और अभय है। शंकराचार्य विवेक चूड़ामणि (श्लोक 160) में कहते हैं :

देहोऽहमित्येव जड़स्य बुद्धिः देहे च जीवे विदुषः त्वहं धीः।
विवेकविज्ञानवतो महात्मनो ब्रह्माहमित्येव मतिः सदात्मनि॥

जड़ बुद्धि सोचता है कि वह केवल शरीर है, ग्रन्थों का विद्वान् अपने को शरीर और आत्मा का सम्मिश्रण मानता है। किन्तु वह महात्मा जो विवेकी और विज्ञानी है, नित्य या सनातन आत्मा को अपना स्वरूप मानता है और सोचता है—'मैं ब्रह्म हूँ सब का आत्मा।'

इस शिक्षा की प्रतिध्वनि हमें भगवान् बुद्ध के दूसरे प्रवचन में मिलती है, जो उन्होंने बोद्धि प्राप्ति के तुरन्त उपरान्त, सारनाथ में अपने पाँच शिष्यों को दिया था। आत्मा को समस्त मिथ्या अनात्म अंशों से निरावृत्त करते हुए भगवान् बुद्ध (विनयपिटक, महावग्ग, खन्धक I.VI) ने कहा :

—भिक्खुओ, अच्छा फिर बताओ ? भौतिक रूप, नित्य (निच्चम) या अनित्य (अनिच्चम) है ?

—भगवन् ! अनित्य है।

—तो बताओ कि जो अनित्य है वह दुःख है या सुख है ?

—भगवन् ! वह दुःख है।

—तो अब जो अनित्य है, दुःख है, और स्वभाव से परिवर्तनशील (विपरिणाम धम्मम्) उसे ऐसा कहना उचित होगा क्या—यह मेरा है, मैं यह हूँ, यह मेरा आत्मा है (एतं मम, एषोऽहमस्मि, एषो मे अत्ता)।

—नहीं, बिल्कुल नहीं, भगवन् !

—और इसलिए भिक्खुओ, समस्त भौतिक रूप, चाहे भूत के हों, भविष्य के हों, वर्तमान के हों, हमारे भीतर हों, हमारे बाहर हों, स्थूल हों, या सूक्ष्म हों, नीचे हों या ऊँचे हों, दूर हों या निकट हों, जैसे हैं (यथा भूतम्) यथार्थ दृष्टि से देखने चाहिए, इसलिए यह मेरा नहीं है, मैं यह नहीं हूँ, यह मेरा आत्मा मेरा नहीं है····समस्त संवेदन····स्थूल या सूक्ष्म, समस्त प्रतीति····स्थूल या सूक्ष्म, समस्त संस्कार नीच या उच्च, समस्त विज्ञान····दूर या निकट

> यथार्थ दृष्टि से जैसे हैं, वैसे देखने चाहिए; इस प्रकार—यह मेरा नहीं है, मैं यह नहीं हूँ, यह मेरा आत्मा नहीं है।
>
> हे भिक्खुओ, उनको ऐसा समझकर एक शिक्षित आर्य शिष्य भौतिक रूपों से उदासीन हो जाता है (निब्बिन्दति) संवेदना से उदासीन हो जाता है, प्रतीति से उदासीन हो जाता है, विज्ञान से उदासीन हो जाता है। उदासीन हो जाने पर वह इच्छाओं से मुक्त हो जाता है (विरज्जति) और विरक्ति (विराग) द्वारा वह मुक्त हो जाता है।

केनोपनिषद् कहता है, ऐसा अनुभव होने पर मनुष्य अमर हो जाता है, 'अमृताः भवन्ति।' सम रूप भाषा में भगवान् बुद्ध ने अपने प्रथम प्रवचन में अपनी अनुभूति का वर्णन किया है (मज्झिम निकाय, सूत्त 26) :

> हे भिक्खुओ ! सुनो, मुझे अमृतत्व प्राप्त हो गया है। मैं धर्म सिखाता हूँ और दिखाता हूँ। जैसा मैं सिखाता हूँ यदि वैसा ही तुम अमल करो, तो शीघ्र ही इसी जीवन में पूरी तरह सीख जाओगे, अनुभव कर लोगे और उसे प्राप्त करके पवित्र जीवन की परमपूर्णता में रहने लगोगे।

यही अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन की नींव है। सार्वभौमिक और व्यावहारिक आध्यात्मिकता का सन्देश यहीं मिलता है। आत्मा का ज्ञान, यह ज्ञान कि 'मैं शुद्ध और अमर आत्मा हूँ' वह शिला है, जिसको आधार बनाकर हम एक पुष्ट, स्थिर और उदार चरित्र का निर्माण कर सकते हैं। आध्यात्मिक गुरुओं ने मानवता को बारम्बार यही शिक्षा दी है। ईसा ने मूर्ख और बुद्धिमान् की लघु कथा में यही बात बतायी है। मूर्ख लोगों ने अपना घर रेती पर और बुद्धिमान लोगों ने उसे चट्टान पर बनाया। (लूक VI.48–9)

गीता ने भी व्यावहारिक आध्यात्मिकता की अपनी योजना का मानव में, अन्तस्थ दिव्यता के आधार पर, विकास किया। वह उस मनुष्य के बारे में कहती है, जो स्थित-प्रज्ञ····अर्थात् जिसकी बुद्धि स्थिर है, जो आध्यात्मिकता का फल है।

उपनिषद् के अगले मन्त्र (I.3) में गुरु शिष्य को आत्मा के स्वरूप के अधिक पूर्ण बोध की ओर ले जाता है :

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥

वहाँ न आँख पहुँच सकती है, न वाणी, न मन। इसलिए उसे हम नहीं जानते और न उसे सिखाना जानते हैं। ज्ञात से वह अभिन्न है, और अज्ञात से वह परे है। हमने अपने उन पूर्वजों से ऐसा सुना है, जिन्होंने हमें इसके बारे में शिक्षा दी थी।

गुरु अपनी भाषा में यहाँ कितनी सतर्कता बरत रहे हैं। जिस अनुभव का यह वर्णन है उसको दूसरे तक पहुँचाना सरल कार्य नहीं है। इसलिए भाषा में बहुत सावधानी बरतनी पड़ी। आम बोलचाल की भाषा से, प्रयोगशाला की भाषा बिल्कुल

भिन्न प्रकार की होती है। प्रयोगशाला वाली भाषा में असंदिग्धता और संक्षिप्तता की अधिक आवश्यकता पड़ती है। आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्र में भी इन बातों की ही जरूरत पड़ती है।

ऋषि यहाँ शिष्य तक अपनी गहरी अनुभूति पहुँचाने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु वह इसको व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं पाते। इसलिए वह इतना ही कहते हैं :

> आँख वहाँ नहीं पहुँचती आदि। आँख, कान, वाणी और मन उन उपकरणों में हैं, जिनके द्वारा हमें अनुभव होता है और उसी अनुभव को हम औरों को बताते हैं। किन्तु ये उपकरण आत्मा के सम्बन्ध में विफल हो जाते हैं।

विचार जितने अधिक सूक्ष्म होते हैं उनको व्यक्त करने के लिए भाषा उतनी ही अधिक सुसंस्कृत होनी आवश्यक है। किन्तु अत्यन्त विशुद्ध और सुसंस्कृत भाषा भी आत्मा का वर्णन करने में असमर्थ रहती है। उसी प्रकार विचार चाहे कितना भी विशुद्ध हो आत्मा के सत्य को ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। इसलिए ऋषि बहुत सरल भाव से आगे कहते हैं : 'न विद्मों'—हम नहीं जानते, 'न विजानीमो यथैतत् अनुशिष्यात्'—न हम यह जानते हैं कि उसको तुम तक कैसे पहुँचाएँ। अनुभूति इतनी लोकातीत है कि वह अपने पीछे कोई चिह्न नहीं छोड़ती। गौड़पाद् अपनी माण्डूक्य कारिका (IV.95) में कहते हैं :

अजे साम्ये तु ये केचित् भविष्यन्ति सुनिश्चिताः।
ते हि लोके महाज्ञाना तच्च लोको न गाहते ॥

केवल वे ही महाज्ञानी कहलाते हैं जिनका अज और साम्य आत्मा में दृढ़ विश्वास है। साधारण लोग उसको नहीं समझ सकते।

इस श्लोक के अपने भाष्य में शंकराचार्य एक स्मृति से निम्नलिखित श्लोक का उद्धरण देते हैं—

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतहितस्य च।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥

जिन लोगों ने अपने आत्मा को सब प्राणियों के आत्म में देख लिया और सबके कल्याण में सर्वदा रत हैं, पद-चिह्न न छोड़ने के कारण, ऐसे लोगों को खोजने के प्रयत्न में देवता लोग भी चकरा जाते हैं।

उपनिषद् बारम्बार ब्रह्म को एक पदांक विहीन पथ का छोर बताते हैं, किन्तु हमें वे असहाय अवस्था में नहीं छोड़ देते। हमें वे आश्वासन देते हैं कि आत्मा की प्राप्ति यद्यपि कठिन है, किन्तु अप्राप्य नहीं है। उस रीति से उसका पढ़ाना आसान नहीं है, जिस रीति से अन्य विषय पढ़ाये जाते हैं, किन्तु विद्यार्थी को सहायता देकर उसकी और मार्ग-दर्शन किया जा सकता है। इसमें पहली आवश्यकता है कि इस विषय के विद्यार्थी की मनोवृत्ति दूसरे सब विषय सीखने वाले विद्यार्थियों की मनोवृत्ति

से कुछ भिन्न होनी चाहिए। यहाँ आवश्यकता है अत्यन्त सतर्कता की। शिक्षा के पहले स्तरों में शिक्षक द्वारा शिक्षा में बहुत बोलना होता है, और यह उन्नत स्तरों में जहाँ शिष्य का मन सतर्कता और विचार में शिक्षित हो जाता है तथा शिक्षक के सुझाव और संकेतों से सीखने की सामर्थ्य पैदा हो जाती है, शिक्षक का बोलना क्रमशः कम होता जाता है। यह प्रक्रिया आध्यात्मिक ज्ञान के संचार में अपना पर्यवसान पाती है। अनेक उपनिषदों में गुरु-शिष्य संवाद के प्रसंगों में इसका सजीव चित्रण मिलता है।

यहाँ, केनोपनिषद् के प्रथम अध्याय के तीसरे मन्त्र में ऋषि को हम शिष्य के मन पर यह छाप देते हुए पाते हैं कि जो ज्ञान वह खोजता है वह केवल माँगने से नहीं मिलेगा। उसे स्वयं ही प्राप्त करना होगा। गुरु कहते हैं, 'मैं प्रथागत रीति से तुम्हारे लिए इसका संचार करने में असमर्थ हूँ' किन्तु मैं कुछ सुझाव देकर तुम्हारी सहायता करूँगा। इसी मन्त्र में आगे गुरु कहते हैं, आत्मा 'अन्यदेव तद्विदितात्' —ज्ञात से वह अन्य है। कठिनाई यह है : 'विदितात्' का अर्थ ज्ञात वस्तु है। जो कुछ इन्द्रियों और मन द्वारा ज्ञात होता है, आत्मा उनसे नितान्त भिन्न है। इसलिए हमें समस्त वर्तमान ज्ञान का निराकरण करना होगा। उसका यहाँ कोई मूल्य नहीं। वह केवल हमें विकार के, अर्थात् दृश्य के जगत के ज्ञान में पहुँचाता है। वह हमें उन वस्तुओं का ज्ञान देता है, जो जन्म, वृद्धि, जरा और मृत्यु के विकारों के अधीन है। किन्तु आत्मा इनमें से कोई भी नहीं। समस्त ज्ञात वस्तुओं से वह भिन्न है।

यह सुनकर हमारे मन यह निर्णय करने के लिए प्रवृत्त होते हैं कि आत्मा अवश्य कोई ऐसा तत्त्व है जो यदि नितान्त असत् नहीं है, तो अज्ञात और अज्ञेय है। इसलिए उसकी खोज ही क्यों करें? स्वाभाविक ही है कि मन उस वस्तु की खोज से जो अज्ञात और अज्ञेय है झिझकता है। ये विचार पश्चिम के कई आधुनिक दर्शनों में विशेषतः हरबर्ट स्पेन्सर के दर्शनों में, कान्ट के 'क्रिटिक ऑव प्योर रीजन' में यह सिद्ध करने के बाद, कि मानव मन में अप्रपंच को जानने की सामर्थ्य नहीं है, प्रवेश कर गया।

किन्तु उपनिषद् इस प्रश्न का एक अन्य प्रकार से समाधान करते हैं। मन और वाणी के वर्गों के परे, ज्ञात और अज्ञात के वर्गों के परे, निरपेक्ष और अनन्त तत्त्व आत्मा है। इस अर्थ में आत्मा अज्ञात नहीं है। क्योंकि वह दृक् है, नित्यदृष्टा, सब का आत्मा, इसलिए वह सबसे अधिक ज्ञात है। वह विषयगत अनुभव की ज्ञात वस्तु नहीं है, किन्तु वह स्वयं ज्ञाता का आत्मा ही है, तथा इसलिए, किसी भी ज्ञात वस्तु से वह अधिक ज्ञात है। क्योंकि मुझे स्वयं अपनी आत्मा से अधिक और क्या ज्ञात हो सकता है? और इसलिए, गुरु दूसरा संकेत देते हैं कि वह 'अविदितादधि' अर्थात् अज्ञात से परे है; और कहते हैं :

इति शुश्रम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे

जिन्होंने उसकी व्याख्या हमारे लिए की थी, उन पूर्व गुरुओं से हमने ऐसा ही सुना है।

कितने नम्र भाव से गुरु बोलते हैं। वह अपने लिए कोई दावा नहीं करते। स्वामी विवेकानन्द भारत के ऋषियों की इस विनम्रता का कई बार उल्लेख करते थे, जिन्होंने महान् ग्रन्थों की रचनाएँ कीं, किन्तु अपने लिए मौलिकता का कोई दावा नहीं किया। दूसरी ओर एक आधुनिक लेखक कदाचित् दूसरों के विचार चुराकर बहुत से विषयों पर लिखता है, और उनको अपना ही होने का दावा करता है।

किन्तु केनोपनिषद् के ऋषि की इस उक्ति में एक और भी अर्थवत्ता है। चूँकि आत्मा का अनुभव इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता, इसलिए शिष्य को उसके विषय में प्रबुद्ध लोगों से सुनना आवश्यक है, जैसा कि स्वयं ऋषि ने अनुभव किया, जैसा कि उनके गुरुओं ने पहले किया था। इस आश्वासन द्वारा शिष्य उस पथ पर चलने के लिए प्रोत्साहित होगा जिसको उसने उन थोड़े से मिले सुझावों से जान लिया था। यदि आत्मा वाणी और मन के परे है, यदि वह 'अन्यदेव तद्विदितात्' अर्थात् सब ज्ञात वस्तुओं से भिन्न है और 'अविदितादधि' अर्थात् अज्ञात से परे है। तो वह है क्या ? और कैसे उसको जान सकूँगा ? यह है वह प्रश्न जिसका उत्तर प्रथम अध्याय का शेष भाग देने का प्रयत्न करता है।

नौ

केनोपनिषद् (क्रमशः)

केनोपनिषद् के प्रथम तीन मन्त्रों ने हमें आत्मा के स्वरूप और उसे समझने की कठिनाई के बारे में बताया था। उस विषय का विवेचन करते हुए, मैंने मनुष्य की परम सत्य की खोज में प्रवेश के महत्त्व का उल्लेख किया था। मन पहले बाह्य जगत की विभिन्न वस्तुओं और घटनाओं में संसार का अर्थ ढूँढ़ता है। इस क्षेत्र में कोई निर्णायक उत्तर न मिलने पर, बाद को मनुष्य अपने ध्यान को, उस अन्तस्थ गहन रहस्य, अपने आत्मा, की ओर लगा देता है। इस रहस्य की खोज उसे मन, वाणी से प्रकाशित, सापेक्ष जगत के परे, शुद्ध सत् और शुद्ध चित्, अनन्त अद्वय आत्मा पर पहुँचाती है जो उसके सच्चे स्वरूप का जगत है।

यह अनुभूति मानव प्रतिभा की चरम उपलब्धि है; यह वह विरासत है, जो उपनिषदों ने समस्त मानवता के लिए छोड़ी है। स्वयं केनोपनिषद् (II.4) में इस अनुभूति की महिमा के बारे में आगे के कुछ मन्त्रों के उपरान्त हमें बताया गया है :

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।

मनुष्य आत्मा द्वारा महान् वीर्य प्राप्त करता है और उसके साक्षात्कार द्वारा अमृतत्व।

तत्त्व का स्वरूप

पिछले प्रवचन में हमने आत्मा की अनुभूति को शिष्य तक पहुँचाने में, गुरु की कठिनाई का विवेचन किया था। भाषा तथा विचार अति सूक्ष्म हो जाते हैं। गुरु और शिष्य कदाचित् ही बोलते हैं, वे अपना अभिप्राय केवल सांकेतिक सुझावों में व्यक्त करते हैं। आत्मा के अलौकिक क्षेत्र में, शब्द, सांकेतिक प्रतीक रूप में अपना सच्चा स्थान पाते हैं, जितने अधिक अस्पष्ट, उतने अधिक अर्थगर्भित। जैसे वेदान्त में, वैसे ही आज के महान् वैज्ञानिक विचार में, शब्दों का मूल्य केवल प्रतीकात्मक है। जैसा कि एक महान् वैज्ञानिक कहता है :

शब्द, मनीषियों के संकेत चिह्न मात्र हैं, किन्तु मूर्खों के लिए वे ही सब कुछ हैं।

केनोपनिषद् के तीसरे मन्त्र में हमें बताया था कि यह आत्मा वाणी के परे, श्रोत्र के परे है, मन के परे है, और उसी मन्त्र में उपनिषद् आगे कहता है :

अन्य देव तद्विदितादथो अविदितादधि

सब ज्ञात वस्तुओं से भिन्न और अज्ञात के परे है। यह उक्ति उपनिषद् की दार्शनिक वृत्ति की उत्सुकता को बताती है। इसकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं :

न हि अन्यस्य स्वात्मनो विदिताविदिताभ्यां अन्यत्वं वस्तुनः सम्भवति इति आत्मा ब्रह्म।

आत्मा के अतिरिक्त वस्तुतः और कोई सत्ता हो ही नहीं सकती जो ज्ञात और अज्ञात दोनों से भिन्न हो, इसलिए आत्मा ब्रह्म है।

निर्विशेष तत्त्व का आध्यात्मिक स्वरूप

आत्मा की अनन्तता का बोध इस तथ्य का परिणाम है कि आत्मा ज्ञात और अज्ञात दोनों से भिन्न है। यदि अनन्त आत्मा हमारा सच्चा स्वरूप है, तो हम वास्तव में जन्महीन, मृत्युहीन तथा अमृत हैं।

मृत्यु का सम्बन्ध है देह से, इन्द्रियों से, मन से, और अहं से। ये निरन्तर विकारशील रहते हैं, और अन्त में नाश हो जाते हैं; ये हमारा आत्मा नहीं है, न तो अकेले, न सब मिलकर भी। हमारा सच्चा रूप अनन्त और अमृत है, यह बात उपनिषदों में अनेक गुरु-शिष्य संवादों द्वारा स्पष्ट की गयी है। इन संवादों से स्पष्ट है कि कहने और सुनने वाले एक विशेष मानसिक स्तर पर बात कर रहे हैं। कुछ आधुनिक कॉलिजों में असावधान विद्यार्थी वर्ग को किसी विद्वान् प्राध्यापक द्वारा दिये गये दर्शन के लेक्चर जैसे यह नहीं होते। इनमें दार्शनिक और आध्यात्मिक खोज के लिए उत्साह की छाप दिखाई देती है। जो-जो शिक्षा वे देते हैं वह आध्यात्मिक अनुभूति से आती है, और सुनने वाले को आध्यात्मिक बोध की ओर ले जाती है।

अब उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चौथे तथा उसके बाद के चार मन्त्रों में मनुष्य के आत्मा के अनन्त स्वरूप का स्पष्टीकरण है :

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

जिसको वाणी व्यक्त नहीं कर सकती, किन्तु जिसकी प्रेरणा से वाणी में बोलने की शक्ति आती है, उसे तुम ब्रह्म जानो; प्राकृत वाणी से उस बतलाये हुए तत्त्व को नहीं जिसकी उपासना लोग यहाँ करते हैं।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

मन जिसको ग्रहण नहीं करता, किन्तु जिसकी शक्ति और प्रेरणा को पाकर मन अपने

ज्ञेय पदार्थों को जानता है, उसको तुम ब्रह्म जानो; प्राकृत मन-बुद्धि से जाने हुए उस तत्त्व को नहीं जिसकी उपासना लोग यहाँ करते हैं।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जिसे चक्षु नहीं देख पाता, किन्तु जिसकी शक्ति और प्रेरणा से चक्षु अपने विषयों को देखता है, उसको ही तुम ब्रह्म जानो; उस पदार्थ-समूह को नहीं जिसकी उपासना लोग यहाँ करते हैं।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदँ श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जिसे श्रोत्र नहीं सुन सकता, किन्तु जिसकी शक्ति और प्रेरणा से श्रोत्र अपने विषयों को सुनने में प्रवृत्त होता है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो; उस पदार्थ-समूह को नहीं जिसकी उपासना लोग यहाँ करते हैं।

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जिसका प्रकाश प्राण-शक्ति नहीं कर सकती, किन्तु जिसकी प्रेरणा से प्राण विचरता है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो; उसे नहीं जिसकी उपासना लोग यहाँ करते हैं।

सम्प्रत्ययात्मक ईश्वर बनाम सच्चा ईश्वर

ये पाँच मन्त्र ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप को उद्घोषित करते हैं। वह मनुष्य का आत्मा है, जिसको उसकी इन्द्रियाँ और मन प्रकाशित नहीं कर सकते, किन्तु जिसकी शक्ति से इन्द्रियाँ और मन प्रकाशित होते हैं। ये मन्त्र इस बात की आवश्यकता पर भी बल देते हैं कि ईश्वर को भाव में तथा वास्तव में भजने के लिए समस्त प्रतिमोपासना से परे जाना होगा। वेदान्त केवल पाषाणादि की मूर्ति-पूजा को ही प्रतिमोपासना नहीं मानता (जिसको सेमितिक एकेश्वरवाद काफिरों का अन्धविश्वास कहकर निन्दा करता है) बल्कि सेमितिक ईश्वरवादीय सगुण ईश्वर की पूजा को भी प्रतिमोपासना मानता है। क्यों वह ईश्वर भी एक प्रत्यय या धारणा है, तथा इसलिए वह भी, उसी प्रकार विषयवस्तुगत जगत की वस्तु है (जैसी कि काफिर की मूर्तियाँ हैं)। मनुष्य एकेश्वरवादीय ईश्वर समेत, अपने देवताओं की रचना करता है। अकल्पित ईश्वर, केवल मनुष्य के अन्तर की नित्य आत्मा है, तथा वही ईश्वर है, वेदान्त जिसकी घोषणा करता है। 'वास्तविक और प्रतीयमान' मनुष्य विषय पर भाषण देते हुए, स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

> ईश्वर की उपासना करने में हम सदैव अपने में छिपे हुए आत्मा की उपासना करते रहे हैं।[1]

[1] वही, भाग 2, 279।

मनुष्य की वाणी तथा विचार द्वारा घोषित ईश्वर भी, एक वैसी ही प्रतिमा है, जैसे उसके हाथों द्वारा बनी। मानव कल्याण की इन रचनाओं से असन्तुष्ट होकर उपनिषदों ने अमृत तथा नित्य ईश्वर की खोज मनुष्य की जीवात्मा में की और उसे 'आत्मा में जो सबका साक्षात् एवं अपरोक्ष तथा अन्तरतम है' पाया, जैसाकि वृहदारण्यक उपनिषद् (III.iv.1) व्यक्त करता है। उपनिषदों ने यह भी प्रतिपादित किया कि इस जीवन्त ईश्वर के ज्ञान से प्रबुद्ध होकर, प्रतिमाओं की समस्त पूजा, आदर्शों की पूजा बन जाती है, प्रतिमाएँ तब प्रतीक मात्र हो जाती हैं।

यह दार्शनिक बोध है, जिसने वेदान्त को सब प्रकार की प्रतिमा पूजा और सब प्रकार की जनसाधारण उपासना के लिए, सहानुभूति और उदार दृष्टि पैदा करने में सहायता की। जैसाकि ऋग्वेद कहता है—'एकंसत्, विप्रा बहुधा वदन्ति'—सत्य एक है, किन्तु ऋषि उसे विविध नामों से पुकारते हैं। ठीक इसी दार्शनिक बोध के अभाव में सेमितिक धर्मों को हठमती, संकीर्ण तथा एकमात्रक दृष्टि-सम्पन्न बना दिया, और हर प्रकार की प्रतिमा पूजा को अन्धविश्वास कहकर निन्दित करने लगे, अर्थात्, अपनी विशिष्ट छापवाली पूजा के अतिरिक्त समस्त प्रतिमा पूजा को निन्दित करने लगे।

धर्म के जगत में, ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व की अनुभूति, भारत की उदारता तथा समझौते की भावना का आधार है। धर्म, विश्वास के अन्य प्रकारों के अनुमोदन की अपनी व्यापक मनोवृत्ति उसके लम्बे इतिहास में अंकित है। यह अनुभव केवल एक आध्यात्मिक विचार तक सीमित नहीं रहा, किन्तु सन्तों और भक्तों को जितनी प्रेरणा उसने दी वह प्रशासकों और राजनेताओं को देता रहा। हमारे काल में श्री रामकृष्ण की जीवनी में उसकी एक दीप्तिमान अभिव्यक्ति मिलती है, जिन्होंने सत्य की सार्वभौमिकता और धर्मों के सामंजस्य का दर्शन किया। मनुष्य, ईश्वर के एक विशेष प्रतीक को वरण कर लेता है, और उसकी पूजा करने लगता है, वह उसमें निष्ठा रखता है। अन्य सबकी उपेक्षा करता है, और इस भावना को पैदा करता है कि सत्य केवल यही है और केवल यही मुक्ति का मार्ग है। वह समझता है कि प्रकाश केवल उसके पास है, और अन्य सब न्यूनाधिक अन्धकार में हैं, और तब वह अपने ईश्वर से प्रार्थना करता है—'हे भगवान् और सबको वह प्रकाश दो, जो मेरे पास है।'

धर्मान्धता, संकीर्णता और उसके पीछे-पीछे उत्पीड़न, जगत में ऐसे ही आता है। दूसरी ओर भारतीय विचार है कि दिव्य आलोक सबके हृदय में विद्यमान है, तथा मनुष्य विभिन्न प्रतीकों की सहायता से उसके पास पहुँचते हैं। पथ अनेक हैं, किन्तु गन्तव्य एक ही है। इस भारतीय उपागम से सहिष्णुता, समझौता और शान्ति आती है। इन्द्रियों की सीमितता के सत्य को भारत ने बहुत पहले जान लिया था। इन्द्रियाँ बहुत कम प्रकाश करती हैं, यद्यपि एक साधारण मनुष्य के लिए समस्त प्राप्य ज्ञान के द्वार इन्द्रियाँ और मन ही हैं। किन्तु जैसे-जैसे उसके बोध का विकास होता जाता है, मनुष्य अधिकाधिक यह समझने लगता है कि प्रतीतियों को भेद कर सत्य का ज्ञान देने की सामर्थ्य इन्द्रियों में बिलकुल नहीं है। यह समझ, आधुनिक विज्ञान

को बीसवीं शती में आयी है जो उन्नीसवीं शती में नहीं थी।

केनोपनिषद् के गुरु, इन्द्रियों और मन में आत्मा के तत्त्व को प्रकाश करने की सामर्थ्य का निराकरण करते हैं, क्योंकि वह तत्त्व, वही शक्ति है, जो उनका भी आधार है। क्या एक मशाल सूर्य को दिखा सकने में सहायक हो सकती है। वे अपने सीमित कार्य उसी अनन्त स्रोत से पोषण लेकर करते रहते हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे। इस उपनिषद् के अन्तिम अध्याय में इस सत्य की एक मोहक लघु कथा द्वारा व्याख्या है।

उपनिषद् कहता है 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'—केवल उसे ही ब्रह्म जानो, उसे नहीं जिसकी उपासना लोग यहाँ करते हैं।' इस भाव में उपनिषद् मनुष्य की ईश्वरीय धारणा में से भौतिकता और वस्तुनिष्ठता के समस्त चिह्न मिटा देने के, और मनुष्य की मानवरोपी धारणाओं के स्थान में उसे जीवन्त ईश्वर की धारणा देने के उद्विग्न भाव को व्यक्त करता है। मनुष्य का नित्य आत्मा यह है। इस जीवन्त ईश्वर की प्रभा में, मानवरोपी देवता भी जीवन्त देवताओं में परिणत हो जाते हैं, तथा विभिन्न धर्म, सहिष्णु सहकारी इकाइयों में परिणत हो जाते हैं। वेदान्त किसी धर्म या पूजाविधि की न निन्दा करता है, न नाश। उसका लक्ष्य प्रत्येक धर्म को, प्रत्येक पूजा पद्धति को, समस्त धर्मों के एक जीते जागते परमात्मा के आलोक की सहायता से प्रकाशमय बनाना है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

> धर्म और ईश्वर और परलोक की खोज के ये सब विचार क्या हैं? मनुष्य ईश्वर को क्यों खोजता है? प्रत्येक जाति में, समाज की प्रत्येक अवस्था में, मनुष्य क्यों कहीं एक पूर्ण आदर्श को, ईश्वर में, मनुष्य में या और कहीं, क्यों चाहता है? क्योंकि यह विचार तुम्हारे भीतर है। यह तुम्हारे ही हृदय की धड़कन थी और तुम उसे समझे नहीं थे, उसे तुम कोई बाहर की वस्तु समझते रहे। यह तुम्हारे अन्तर का ईश्वर ही है, जो उसे ढूंढ़ने के लिए उसे पाने के लिए प्रेरित कर रहा है। यहाँ और वहाँ ढूंढ़-ढूंढ़कर, मन्दिरों में, गिरजों में, पृथ्वी में, स्वर्गों में, वृत्त पूरा करके अन्त को तुम वहीं आते हो जहाँ से तुम चले थे, अपनी ही आत्मा पर आ पहुँचते हो, और यह पाते हो कि जिसको तुम दुनिया भर में ढूँढ़ते फिरे, जिसके लिए तुम मन्दिरों में, गिरजों में रोते और प्रार्थना करते फिरे, जिसको तुम मेघों में छिपे रहस्य का रहस्य मानते रहे वह तो, निकट से निकट तुम्हारा आत्मा है, तुम्हारे जीवन, शरीर और आत्मा की तात्त्विकता है। यह तुम्हारा अपना स्वरूप है। उसकी रक्षा करो, उसका प्रकाश करो। तुम्हें शुद्ध नहीं बनना है, तुम पहले से ही शुद्ध हो। तुम्हें पूर्ण नहीं होना है, क्योंकि तुम पहले से ही पूर्ण हो। प्रकृति उस पर्दे के समान है, जो परिस्थित तत्त्व को छिपाये है। प्रत्येक शुभ विचार जो सोचते हो या जिस पर अमल करते हो, मानो केवल उस पर्दे को फाड़ना है। मानव का सम्पूर्ण इतिहास इतना ही है। पर्दा जितना-जितना झीना होता है, उतना ही प्रकाश, जो पीछे है, चमक उठता है, क्योंकि चमकना उसका

स्वभाव है। वह जाना नहीं जा सकता; व्यर्थ ही उसको जानने का हम प्रयास करते हैं। यदि वह ज्ञेय होता, तो जैसा है वैसा न होता, क्योंकि वह तो नित्य दृक् या विषयी है। ज्ञान परिसीमन है, ज्ञान विषय-वस्तुकरण है। वह प्रत्येक वस्तु का नित्य विषयी है, इस विश्व का नित्य साक्षी, तुम्हारा अपना आत्मा। ज्ञान मानो एक निम्न सीढ़ी है, एक अवनति। हम तो नित्य विषयी या दृक् पहले से ही हैं; उसे हम कैसे जान सकते हैं? वह प्रत्येक मनुष्य का सच्चा स्वरूप है और मनुष्य उसका प्रकाश करने के लिए हर तरह का प्रयत्न कर रहा है।

पथ की बाधाएँ

इस उपनिषद् के दूसरे अध्याय में गुरु शिष्य को आध्यात्मिक सत्य का सूक्ष्म संचार करता हुआ मिलता है। गुरु, शिष्य को आत्मा के अति सूक्ष्म सत्य को ग्रहण करने के लिए उचित मनोदशा पर अधिकार करने में सहायता देते हैं। शिष्य मन लगाकर प्रयत्न करता है, और समझता है कि उसने सत्य को अच्छी तरह जान लिया है, और वह गुरु से भी यही कह देता है। किन्तु गुरु, शिष्य के ऐसे एक मार्मिक सत्य को समझने में छोटी से छोटी त्रुटि निवारण करने के लिए प्रथम मन्त्र में ही शिष्य से अपना पुनर्मूल्यांकन करने के लिए कहते हैं :

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमाँस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥

यदि तुम सोचते हो कि ब्रह्म को अच्छी तरह जान गये तो वास्तव में बहुत कम जानते हो, क्योंकि ब्रह्म का प्राणियों में और देवताओं में, जो उपाधिग्रस्त रूप तुम देखते हो वह तो क्षुद्र है। इसलिए ब्रह्म के विषय में तुम्हें और खोज करनी चाहिए। (शिष्य ने और अधिक सोच-विचार किया और ब्रह्म को पूर्णतया समझ कर उत्तर दिया)—

'मैं सोचता हूँ कि मैं (ब्रह्म को) जान गया हूँ।'

गुरु को सन्देह था कि शिष्य ने ब्रह्म को इस विशाल विषय-वस्तु जगत के अनेकत्व में आध्यात्मिक उपस्थिति रूप में समझा है; तथा इसमें भी उन्हें प्रतीत हुआ कि उस उपस्थिति के अनन्त विमाओं को नहीं समझा था। 'दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्'—वास्तव में ब्रह्म के रूप को तुमने बहुत कम जाना है—गुरु ने कहकर और आगे ये कहा, 'अथ नु मीमाँस्यमेव ते (ब्रह्म)—इसलिए तुम्हारे ब्रह्म की अभी और मीमांसा होने की आवश्यकता है।

शिष्य ने आशय समझ लिया और शान्त बैठकर गुरु के उन वचनों के तात्पर्य के विषय में गहन चिन्तन करने लगा कि ब्रह्म, ज्ञात से अन्य और अज्ञात के परे है। यह गहन सत्य क्या हो सकता है?

[1] वही, 81–82।

अपने ध्यान की गहराई में, शिष्य के शुद्ध हृदय में सत्य का उदय हुआ और वह बोल उठा—'मन्ये विदितम्'—मैं सोचता हूँ कि मैं जानता हूँ।

गुरु और शिष्य का सतर्क मनोभाव विषय की अत्यन्त सूक्ष्मता बताते हैं। सरल और त्वरित बोध कदाचित् मूलबोध निकल आये जैसा कि विरोचन के विषय में हुआ, जो प्रजापति का शिष्य था। इन्द्र भी प्रजापति का शिष्य था। उन दोनों के शिष्यत्व का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् (VIII.vii–xv) का एक रोचक प्रसंग है।

इस घटना का उल्लेख करते हुए केनोपनिषद् के इस मन्त्र के अपने भाष्य में श्री शंकराचार्य कहते हैं :

दृष्टं च, 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच, एतदमृतं अभयं, एतद् ब्रह्म', इत्युक्ते प्राजापत्यः पण्डितोऽपि असुरराट् विरोचनः, स्वभावदोषवशात् अनुपपद्यमानमपि विपरीतमर्थं शरीरं आत्मेति प्रतिपन्नः। तथा इन्द्रो देवराट्, सकृत द्विस्त्रिरुक्तं च अप्रतिपद्यमानः, स्वभावदोषक्षयं अपेक्ष्य चतुर्थे पर्याये प्रथमोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान्।

यह देखा गया है कि जब गुरु ने कहा—'जो पुरुष आँख में दिखाई देता है, वही आत्मा है, वही अमृत, अभय, ब्रह्म है। विरोचन ने जो पण्डित और असुरों का राजा था, और प्रजापति का पुत्र था, अपने स्वभाव-दोष के कारण और उपदेश को समझे बिना ही, जो सिखाया गया था उसके विपरीत यह समझा कि शरीर ही आत्मा है। इसी प्रकार देवताओं के राजा इन्द्र ने अपने पहले, दूसरे तथा तीसरे प्रयत्न में भी शिक्षा ग्रहण न कर सकने पर, चौथी बार स्वभाव-दोष की निवृत्ति हो जाने पर प्रथम उपदेश में ही ब्रह्म के सत्य को समझ लिया था।

शिक्षा में ये दैनिक अनुभव की बात है कि कुछ विद्यार्थी एक साधारण विषय को समझने में भी कई बार उलझते रहते हैं। विषय-ग्रहण शक्ति सबकी अलग-अलग होती है। शंकराचार्य की इसी विषय पर एक रोचक उक्ति है :

लोके अपि, एकस्मात् गुरोः श्रण्वतां, कश्चित् यथावत् प्रतिपद्यते, कश्चित् अयथावत्, कश्चित् विपरीतं, कश्चित् न प्रतिपद्यते, किमु वक्तव्यं अतीन्द्रियं आत्मतत्वम्।

संसार में भी हम देखते हैं कि एक ही गुरु से सुनने वाले शिष्यों में, कुछ ठीक-ठीक समझ लेते हैं, कुछ गलत, कुछ इसके बिलकुल विपरीत, जबकि कुछ ऐसे भी हैं, जो कुछ भी नहीं समझते (यदि लौकिक क्षेत्र में ऐसा है), तो आत्मा के सत्य को, जो इन्द्रियातीत है, समझने की तो बात ही क्या है ?

उक्ति में सतर्कता

विद्यार्थी ने कहा : 'मन्ये विदितम्'—मैं सोचता हूँ कि मैं जानता हूँ। उसके ज्ञान की विषय-वस्तु क्या थी ? अगले मन्त्र (II.2) में हमें वह मिलती है, स्वयं

विद्यार्थी के शब्दों में :

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

मैं नहीं सोचता कि मैं ठीक-ठीक जानता हूँ; और न यह सोचता हूँ कि मैं नहीं जानता। हम में से उसे वह जानता है, जो यह जानता है कि वह अज्ञात और ज्ञात दोनों से भिन्न है।

इस मन्त्र की अपनी व्याख्या में शंकराचार्य ने विद्यार्थी के शब्दों में सन्निहित आध्यात्मिक दृढ़ विश्वास की शक्ति प्रकाशित की है :

अन्यदेव तत् विदितात्, अथो अविदितात अधि, इत्याचार्योक्तागम सम्प्रदायबलात् उपपत्यनुभवबलाच्च, जगर्ज च ब्रह्म विद्यायायं दृढ़निश्चयतां दर्शयन्नात्मनः।

गुरु ने बताया था कि 'वह (आत्मा) ज्ञात से भिन्न और अज्ञात से परे है, उक्ति में निहित इस आध्यात्मिक परम्परा के बल पर, और युक्तियुक्त दृढ़ विश्वास और अपने स्वयं के अनुभव के बल पर, इस प्रकार शिष्य, ब्रह्म-विद्या में अपना निश्चय दिखाते हुए, विद्यार्थी ने (सिंह के समान) गर्जन किया।

'नाहं मन्ये सुवेदेति'—मैं नहीं जानता कि उसे ठीक-ठीक जानता हूँ। इस प्रकार का जानना (सुवेद) केवल विषय-वस्तुओं के लिए लागू हो सकता है। किन्तु ब्रह्म तो नित्य विषयी है। और इसलिए दूसरा नकार : 'नो न वेदेति' किन्तु यह नहीं कि मैं उसे नहीं जानता। विद्यार्थी यह कैसे कह सकता है कि वह उसे नहीं जानता जब उसने उसे अपने आत्मा रूप में अनुभव कर लिया है? उसने जो प्राप्त किया है, वह परोक्ष ज्ञान नहीं, किन्तु वह प्रत्यक्ष और अपरोक्ष ज्ञान है, अपने नाम को पहचानने जैसा, और इसलिए आगे कहता है : 'वेदच'—मैं जानता भी हूँ।

अपने विवेकचूड़ामणि (श्लोक 532) में शंकराचार्य कहते हैं :

देवदत्तोऽहं इत्येतत् विज्ञानं निरपेक्षकम्।
तद्वत् ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम् ॥

मैं देवदत्त हूँ, यह ज्ञान वाह्य परिस्थितियों से निरपेक्ष है, उसी प्रकार से ब्रह्म ज्ञानी की अनुभूति भी है कि वह ब्रह्म है।

गुरु के प्रश्न करने पर केनोपनिषद् का शिष्य, मन्त्र के उत्तरार्द्ध में अपनी बात को स्पष्ट करता है :

यो नस्यद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च

हम में से उसको वह जानता है, जो यह जानता है कि वह ज्ञात तथा अज्ञात दोनों से परे है।

और अगले मन्त्र (II. 3) में उपनिषद् स्वयं ही विद्यार्थी की उक्ति स्पष्ट करता :

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।

उसे वह जानता है, जो उसे नहीं जानता (कल्पना नहीं करता), और जो उसे जानता है (कल्पना करता है), वह नहीं जानता। जिसे सत्य ज्ञान है, उसके लिए वह 'अज्ञात' है, तथा अज्ञानी के लिए वह 'ज्ञात' है।

ब्रह्म की धारणा या एक प्रत्यय, ब्रह्म नहीं है। जब कोई मनुष्य यह सोचता है कि वह ब्रह्म को जानता है तो उसने केवल एक धारणा बना ली है, वास्तव में वह ब्रह्म को नहीं जानता। प्रतिपक्ष में जो वास्तव में ब्रह्म को जानता है वह यह जानता है कि वह अपनी इन्द्रियों तथा मन के द्वारा ब्रह्म को नहीं जान सकता। अष्टावक्र संहिता (XII.7) के शब्दों में :

अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मात् एवमेवाहं आस्थितः ।।

अचिन्त्य का चिन्तन करते हुए, मनुष्य केवल एक प्रत्यय या धारणा के किसी रूप का ही आश्रय लेता है। इसलिए उसके बारे में धारणा का परित्याग करके मैं टिका हुआ हूँ।

श्री रामकृष्ण इस सत्य की एक लघु कथा द्वारा व्याख्या करते हैं :

> एक मनुष्य के दो पुत्र थे। पिता ने उन दोनों को ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने गुरु के पास भेजा। कुछ वर्षों बाद, गुरु-गृह से वापस आकर दोनों ने पिता को प्रणाम किया। दोनों के ब्रह्म ज्ञान की गहराई नापने के लिए पहले उसने ज्येष्ठ पुत्र से प्रश्न किया, 'बेटा ! तुमने सब शास्त्र पढ़ लिये हैं, मुझे बताओ कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है ?' लड़के ने वेद-मन्त्रों का उच्चारण करके ब्रह्म की व्याख्या करनी आरम्भ की। पिता कुछ नहीं बोले। अब उन्होंने दूसरे से यही प्रश्न किया। किन्तु लड़का मूक रहा और आँखें मूंदें खड़ा रहा। मुंह से एक शब्द भी नहीं निकाला। पिता प्रसन्न हो गये, और उसने कहा, 'बेटा ! तुमने थोड़ा सा ब्रह्म को समझा है। ब्रह्म क्या है शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता।'[1]

पूर्व और पश्चिमी के अध्यात्म-अनुभवियों में अग्रणी व्यक्तियों ने मनुष्य की भाषा द्वारा गहनतम आध्यात्मिक संचारण की व्यक्ति की अपर्याप्तता का उल्लेख किया है। जेकब बोहमे एक अशिक्षित महान् आध्यात्मिक अनुभवी, पेशे से चमार, तथा यूरोप के विद्वान् सन्त एकहार्ट के विचार उपनिषद् के विचारों से बहुत मिलते-जुलते हैं।

बोहमे कहते हैं :

> मैं तो महान् रहस्यों के विषय में केवल बोलना सीखने वाले किसी बालक जैसी तुतलाती भाषा में कह सकता हूँ; इसीलिए पार्थिव वाणी, जिसका अन्तरात्मा अनुभव करता है, कितना कम व्यक्त कर सकती है।[2]

[1] द गॉस्पेल ऑव श्री रामकृष्ण, 1947, 28।

[2] इवेलिन अन्डरहिल, द मिस्टिक्स ऑव द चर्च, 217।

एकहार्ट कहते हैं :

तुम ईश्वर को बिना मूर्ति के, बिना आकार के, बिना माध्यम के समझोगे। किन्तु ईश्वर को इस रीति से बिना माध्यम के समझने के लिए मुझे ईश्वर हो जाना पड़ेगा, और उसे (ईश्वर को) मैं बन जाना पड़ेगा।

भाषा के महान् पण्डितों तक ने संसार के गहन रहस्य के सामने एक अत्यन्त विनीत भाव अनुभव किया है। अंग्रेजी कवि टैनिसन ने 'इन मैमोरियम' (LIV) में गाया है :

देखो, हम लोग कुछ नहीं जानते,
मैं केवल यह यकीन कर सकता हूँ कि मंगल होगा।
अन्त में—दूर अन्त में—अन्ततः सब का,
और हर शीत बदल जायेगा वसन्त में।
ऐसा है मेरा स्वप्न किन्तु मैं हूँ क्या ?
रात्रि में रोता एक शिशु
ज्योति के लिए रोता एक शिशु
तथा नहीं है कोई भाषा, केवल है एक रूदन।

ब्रह्मानुभूति का स्वरूप

यदि जानने वालों का ब्रह्म नितान्त अज्ञात है—अविज्ञातं विजानताम्—तो ज्ञानी और अज्ञानी में भेद क्या है ? इसलिए यह नहीं हो सकता कि ज्ञानी के लिए ब्रह्म नितान्त अज्ञात है। तो वह ब्रह्म को किस प्रकार जानता है ? अगला मन्त्र, दूसरे अध्याय का चौथा मन्त्र, इस प्रश्न का उत्तर देता है जो उपनिषदों की अत्यन्त गम्भीर उक्तियों में से एक है :

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥

निश्चय ही वह अमृतत्व लाभ करता है, जो बोध (ज्ञान तथा चेतना का स्पन्दन) में और बोध द्वारा उसका अनुभव करता है, आत्मा द्वारा वह शक्ति तथा ओज पाता है, और उसके ज्ञान द्वारा अमृतत्व।

'प्रतिबोधविदितं' का अर्थ है 'बोधं-बोधं प्रति विदितम्'—प्रत्येक मानसिक क्रिया द्वारा ज्ञात। शुद्ध चैतन्य रूप में, आत्मा सब मानसिक अवस्थाओं का, चाहे जाग्रत, स्वप्न हो या सुषुप्ति, अविकारी साक्षी है। इस मन्त्र पर शंकराचार्य की टिप्पणी प्रबोधक है :

सर्वे प्रत्यया विषयीभवन्ति यस्य, स आत्मा, सर्वबोधान् प्रतिबुद्धयते, सर्वप्रत्ययदर्शी, चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः, प्रत्ययैरेव प्रत्ययेषु अविशिष्टतया लक्ष्यते, नान्यत् द्वारम् आत्मनो विज्ञानाय।

वह है आत्मा, जिसके लिए मन के सब प्रत्यय बोध के विषय हैं, जो मन की समस्त अवस्थाओं को जानता है, जो मन की समस्त अवस्थाओं को देखने वाला है। जो स्वयं शुद्ध चैतन्य के सारतत्त्व स्वरूप है, जिसका प्रतिविम्ब मानसिक अवस्थाओं में, और उनके द्वारा, उनसे अभेद्य भाव में दिखाई देता है, क्योंकि उसे जानने का और कोई उपाय नहीं।

शुद्ध चैतन्य का प्रकाश आत्मा है, जो ज्ञान की प्रत्येक क्रिया को तथा मन के प्रत्येक बोध को प्रकाशित करता है। तदनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि मन का प्रत्येक विकार आत्मा के चैतन्य का प्रकाश करता है, उस चैतन्य का प्रकाश जो विकार को प्रकाशित करता है। इसलिए आत्मा 'प्रतिबोधविदितम्' है—ज्ञान और चेतना के प्रत्येक स्पन्दन द्वारा ज्ञात। शंकराचार्य ने जैसा अपनी विवेक चूड़ामणि (श्लोक 217) में कहा है :

जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिषु स्फुटतरं योऽसौ समुज्जृंभते
प्रत्यग्रूपतया सदा अहं अहं इत्यन्तः स्फुरन्नैकधा।
नानाकारविकारभागिन इमान् पश्यन्नहंधीमुखान्
नित्यानन्द चिदात्मना स्फुरतितं विद्धि स्वमेतं हृदि ॥

जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में अपने को स्पष्ट प्रकाशित करता है, जो अनेक रूपों में मन के भीतर, अटूट क्रम से 'अहं, अहं' भाव में अनुभव होता है; जो अहंकार वुद्धि आदि के नाना आकारों और विकारों का साक्षी है; और जो नित्य सत्-चित् आनन्द-निर्विशेष रूप में प्रकाश करता है, उसे तुम अपने हृदय में अपना आत्मा जानो।

भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की निरन्तरता

उपनिषदों के अनुसार, आध्यात्मिकता उतनी ही संचारणीय तथा सत्यापनीय है जितना कि कोई भौतिक वैज्ञानिक सत्य। द्रव, ठोस और गैसीय पदार्थों की गति ऊँचे या नीचे तापमान के प्रभाव में अथवा ऊँचे या नीचे दवाव के प्रभाव में एक सत्यापित वैज्ञानिक तथ्य है, तथा किसी भी योग्य मनुष्य द्वारा उसकी जाँच हो सकती है। आत्मा, मनुष्य का दिव्य स्वरूप, तथा उसका अनुभव, जो यह उपनिषद् एक प्रबुद्ध गुरु तथा उत्साही शिष्य के संवाद प्रख्यापन करता है, एक वैसा ही सत्य है, जो तादृश आध्यात्मिक प्रयोग द्वारा प्रतिष्ठित है और परवर्तीकाल में अनेक आध्यात्मिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान में, उसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी हम अटकल या अनुमान पर निर्भर नहीं रहते परन्तु जाँच करके ही सत्य पर पहुँचते हैं। गुरु तथा शिष्य के बीच यह संवाद मनुष्य की अपने आध्यात्मिक केन्द्र की ओर की यात्रा के अन्तिम चरणों को प्रकट करता है, जो केन्द्र समस्त जगत का भी केन्द्र है। इस अनुभूति का शिखर वह सत्य है, जो इस समीकरण

में व्यक्त किया है : आत्मा ब्रह्म है। जिनको यह प्राप्त होती है, वह अनुभूति उन भाग्यशाली व्यक्तियों की दृष्टि तथा सहानुभूति में सार्वभौमिकता लाती है।

केनोपनिषद् का संवाद किसी ऐसे गुप्त ज्ञान की ओर इंगित नहीं करता जिसे हमसे बलात् विश्वासपूर्वक मानने के लिए कहा जाता है। दूसरी ओर वह है, एक ज्ञान, जिसको प्रत्येक नर-नारी स्वयं अपने जीवन में पुनर्निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र है, परकाल में सैंकड़ों आध्यात्मिक प्रयोगकर्त्ताओं ने इसकी जाँच की है, जिनमें अत्यन्त महान् तथा प्रमुख थे भगवान बुद्ध। पिछली शती में, श्री रामकृष्ण की जीवनी में इसकी अभिनव सत्यापनीयता मिली है। उनके गुरु तोतापुरी के शिष्यत्व में उनकी अद्वैत साधना का वर्णन, केनोपनिषद् के संवाद पर प्रकाश की एक बन्या उँडेलता है तथा उपनिषदों की आध्यात्मिक परम्परा की जीवन्तता तथा अटूट निरन्तरता प्रकाशित करता है।

तोतापुरी और श्री रामकृष्ण

लगभग सन् 1865 ई० के अन्त में, जब श्री रामकृष्ण 29 वर्ष के थे, उन्होंने भक्ति मार्ग (अर्थात् वह भक्ति, जिसमें भक्त ईश्वर को पुरुष रूप में तथा अपने से भिन्न रूप में देखता है) के आधार पर अपनी दस वर्ष लम्बी साधनाओं को समाप्त किया था। वे बहुत से दर्शन तथा अन्य आध्यात्मिक अनुभूतियों को पाकर धन्य हुए थे। परम विशुद्धता और त्याग से सम्पन्न, उनका मन एक विलक्षण नैतिक तथा आध्यात्मिक संवेदना प्राप्त कर चुका था, जिसके कारण वह एक अत्यन्त सूक्ष्म आध्यात्मिक संकेत पाकर समाधि में लीन हो जाता था। एक ऐसी ही अवस्था में लीन, एक दिन श्री रामकृष्ण पावन माँ गंगा के दक्षिणेश्वर मन्दिर के घाट पर एक दालान के एक कोने में बैठे थे। ठीक उसी समय तोतापुरी नामक एक परिव्राजक साधु उस घाट पर नाव से उतरा और दालान तक आया। जैसे ही श्री रामकृष्ण पर उसकी दृष्टि पड़ी, इस युवक के प्रति उसने एक क्षणिक आकर्षण अनुभव किया, तथा हृदय के अन्तर में यह दृढ़ विश्वास हो गया कि यह व्यक्ति बहुत असाधारण है।

स्वयं तोतापुरी असाधारण पुरुष थे। पंजाब में जन्म तथा किशोरावस्था में संन्यास धारण कर लेने के कारण, वे शरीर से हृष्ट-पुष्ट तथा एक लौह संकल्प शक्ति से सम्पन्न थे। अद्वैत ब्रह्म के प्रति उनका आकर्षण था। मध्य प्रदेश में, पवित्र नर्मदा नदी के तट पर, चालीस वर्ष तक निरन्तर आध्यात्मिक अभ्यास के पश्चात्, उन्हें अद्वैत मार्ग का फल, निर्विकल्प समाधि की अनुभूति हो गयी। एक निर्गुण तथा निरुपाधिक अवस्था, जिसका वर्णन शंकराचार्य विवेक चूड़ामणि के तीन भव्य श्लोकों (श्लोक 408–410) में इस प्रकार करते हैं :

किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपम्
निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम्।

निरवधिगगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥

समाधि में ज्ञानी अपने हृदय में उस अनन्त, ब्रह्म की अनुभूति करता है, जो अकथनीय है, जिसका स्वरूप नित्य चित् और केवल आनन्द है, जो निरूपम है, जो सब सीमाओं को पार करता है, नित्य मुक्त और निष्काम है, जो आकाश के समान असीम, अविभाज्य और निरपेक्ष है।

प्रकृतिविकृतिशून्यं भावनातीतभावम्
समरसं असमानं मानसम्बन्धदूरम्।
निगमवचनसिद्धं नित्यंमस्मत्प्रसिद्धं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥

समाधि में ज्ञानी, अपने हृदय में उस अनन्त ब्रह्म की अनुभूति करता है, जो कारण और कार्य से रहित है, जो समस्त कल्पना का अतीत तत्त्व है, जो समरस है, अतुलनीय है, तर्क प्रमाणों की पहुँच से बाहर है। यह सब ज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध है, जैसा कि वेदान्तिक आध्यात्मिक परम्परा में अंकित है, तथा आत्मचेतना के आधार रूप में मनुष्य के लिए सदा उपलब्ध है।

अजरमरम् अस्ताभाववस्तुस्वरूपम्
स्तिमितसलिलराशि प्रख्यमाख्याविहीनम्।
शमितगुणविकारं शाश्वतं शान्तमेकम्
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥

समाधि में ज्ञानी अपने हृदय में, उस अनन्त ब्रह्म की अनुभूति करता है, जो अजर और अमर है, वह तत्त्व जो सब नकारों का नकार है, तरंगों के शान्त हो जाने पर जो समुद्र के समान है, जो संज्ञाहीन है, जिसमें (प्रकृति के) गुणों के सब विकार शान्त हो गये हैं, तथा जो शाश्वत, शान्त और अद्वितीय है।

यह धन्य अनुभूति पाकर, तोतापुरी, स्वयं अपने निजी किसी लक्ष्य और उद्देश्य के, किन्तु उसके द्वारा निर्गुण दैवी उद्देश्यों को पूर्ण करते हुए, यहाँ से वहाँ भ्रमण कर रहे थे। जो अनुपम शक्ति और स्वतन्त्रता उस भ्रमण के पीछे काम करती है। उसको मापना साधारण बुद्धि द्वारा कठिन है। एक प्रबुद्ध मनुष्य को दिए हुए, भगवान बुद्ध के आदेश (धम्मपद) में हमें उसकी एक झलक मिलती है:

आगे बढ़ो बिना रास्ता देखे !
बिना किसी के भय, बिना किसी की परवाह के,
अकेले फिरो गैंडे के समान !
शोर से अविचल जैसे सिंह,
जाल में फँसी नहीं जैसे वायु,
जल से अलिप्त जैसे कमल पत्र,
चलो रे अकेले तुम, गैंडे के समान !

केवल ब्रह्म को पारमार्थिक सत्ता अनुभव करते हुए, और संसार को एक प्रतीति मात्र मानते हुए, तोतापुरी भिक्षा पर निर्वाह करते थे, आंधी-तूफान हो या वर्षा, पूरे वर्ष खुले में आकाश के नीचे रहते थे। अपने भ्रमण में वह भारत के अनेक तीर्थ स्थानों में गये, जिनमें गंगा सागर भी था जहाँ पवित्र गंगा समुद्र में मिलती है। वहाँ से लौटते समय वे दक्षिणेश्वर के मन्दिर में गये। दक्षिणेश्वर का मन्दिर रानी रासमणि की धार्मिक वृत्ति, उदारता तथा विशाल हृदयता के फलस्वरूप सभी मतवादों और सम्प्रदायों के अनेक साधु-सन्तों के मिलन का केन्द्र बन गया था। इनमें से कुछ, जैसे जटाधारी और भैरवी ब्राह्मण, श्री रामकृष्ण से पहले ही मिल चुके थे, तथा अपने-अपने भक्ति सम्प्रदाय के आध्यात्मिक पन्थों द्वारा साक्षात्कार में उनका मार्ग-दर्शन कर चुके थे। तोतापुरी इन मार्गों से भिन्न एक मार्ग, ज्ञान मार्ग, के अनुयायी थे। यही है निर्गुण ब्रह्म का मार्ग जिसको उपनिषदों के ऋषियों ने और भगवान बुद्ध ने आलोकित किया है।

जैसे ही तोतापुरी की दृष्टि श्री रामकृष्ण पर पड़ी उन्होंने वैसे ही उनको निर्गुण, निरपेक्ष ब्रह्म के योग्य साधक के रूप में पहचान लिया। उन्होंने श्री रामकृष्ण से पूछा, 'क्या वेदान्त सीखना चाहोगे? तुम मुझे सत्य के एक उन्नत साधक जान पड़ते हो। क्या तुम अद्वैत अनुभूति के मार्ग में दीक्षित होना चाहते हो?' श्री रामकृष्ण को इस प्रस्ताव को मानने की अन्तर से एक दैवी प्रेरणा अनुभव हुई। तोतापुरी के निदेशन में, श्री रामकृष्ण ने महान् संस्कार 'संन्यास' के सब प्राथमिक अनुष्ठान पूरे किये। एक दिन उषाकाल से दो घण्टे पहले, वे दोनों, श्री रामकृष्ण के कमरे के समीप ही स्थित एक छोटी सी कुटिया में पहुँचे। तोतापुरी ने श्री रामकृष्ण से परम्परागत संन्यास सम्बन्धी जीवन के लौकिक और अलौकिक सब सुखों के सम्पूर्ण त्याग की समस्त प्रतिज्ञाएँ कराईं और अपना मन तथा हृदय उस एक, और अद्वितीय परब्रह्म के सत्य को पूर्णतया अर्पण करने की और समस्त प्राणियों के लिए अभय की प्रेरक स्रोत बनने के लिए पवित्र शपथ दिलाई। उस उषाकाल से पूर्व की पूर्ण निस्तब्धता में, गुरु और शिष्य ने आध्यात्मिक प्रत्यक्षीकरण का महत्त्वशाली नाटक एक बार फिर से खेला, जो भारत में कितनी ही बार खेला जा चुका है। गुरु के सामने साष्टांग प्रणाम करके श्री रामकृष्ण तोतापुरी से ब्रह्म तत्त्व दर्शन की शिक्षा लेने बैठ गये। श्री रामकृष्ण के एक पट्ट-शिष्य स्वामी शारदानन्द के शब्दों में :

> उन्होंने (तोतापुरी ने) मेरे गुरु (श्री रामकृष्ण) से कहा : 'ब्रह्म ही एक तत्त्व है जो नित्य शुद्ध, नित्य चैतन्य, देशकाल तथा परिणाम से अपरिसीमित बिल्कुल सत्य है। अनहोनी को होनी बनाने वाली, माया द्वारा वह अपने प्रभाव से यह दिखाता है कि वह नाम और रूपों में विभक्त जैसा दिखाई देता है। ब्रह्म तत्त्वत: ऐसा कभी नहीं होता। क्योंकि समाधि की अवस्था में कहना चाहिए, माया निर्मित देश, काल, नाम, रूप का बिन्दुमात्र भी अनुभव में नहीं आता। इसलिए जो कुछ भी नाम और रूप से परिसीमित है परम् सत्य कभी

नहीं हो सकता। दूर से ही उसका त्याग करना अच्छा है। सिंह की सी पराक्रमी शक्ति के साथ, नाम और रूप के दृढ़ पिंजरे को तोड़कर निकल आओ। अपने भीतर स्थित आत्मा के सत्य सागर में मज्जन करो। समाधि के सहारे उसके साथ एकाकार हो जाओ। तब तुम देखोगे कि यह नाम, रूप का जगत मानो शून्य में समा गया है। तुम देखोगे कि इस 'क्षुद्र अहं' की चेतना उस महान् 'अहं' की चेतना में विलीन हो गई है। तुम्हें यह प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायेगा कि स्वयं तुम वह अखण्ड सत्-चित्-आनन्द हो। बृहदारण्यक उपनिषद् (II.iv.14) कहता है : जिस चेतना की सहायता से मनुष्य किसी दूसरे को देखता है, जानता है और सुनता है, वह क्षुद्र या सीमित है; सीमित सब निरर्थक है; क्योंकि परमानन्द वहाँ नहीं है; किन्तु जिस ज्ञान में प्रतिष्ठित होकर, मनुष्य दूसरा देखने की, दूसरा जानने की, दूसरा सुनने की चेतना से विहीन हो जाता है, वह भूमा या असीम है। उस ज्ञान की सहायता से मनुष्य परमानन्द के साथ एकाकार करता है। विज्ञाता रूप में जो सबके हृदय में स्थित है, उसे कौन-सी बुद्धि या मन जान सकेगा?'[1]

इस प्रकार अपने शिष्य को वेदान्त के ज्ञानमार्ग के सिद्धान्तों में शिक्षित करके तोतापुरी ने, श्री रामकृष्ण को निरुपाधिक ब्रह्म पर मन केन्द्रित करने का आदेश दिया। इस महत्त्वपूर्ण कथा का यह भाग स्वयं श्री रामकृष्ण के शब्दों में कहना सब से अच्छा होगा :

दीक्षा के उपरान्त 'नांगटा' (श्री रामकृष्ण अपने गुरु तोतापुरी को सम्मानपूर्वक इसी नाम से याद करते थे, क्योंकि वह नागा सम्प्रदाय के होने से अधिकतर नग्न विचरण किया करते थे) ने मुझे अद्वैत वेदान्त के विभिन्न सिद्धान्त बताने आरम्भ किये, और मुझ से अपने मन को समस्त विषयों से खींचकर अलग करने को कहा, और आत्मा में गहरे अवगाहन करने का आदेश दिया। किन्तु मेरे सब प्रयास करने पर भी मेरा मन नाम-रूप की सीमा को पार नहीं कर सका, तथा मैं अपने मन को निरुपाधिक अवस्था में न ला सका। मुझे केवल एक को छोड़कर, सब वस्तुओं से मन को हटाने में कोई कठिनाई नहीं हुई और वह एक वस्तु थी, आनन्दमयी माँ का अति सुपरिचित रूप—दीप्तिमान और शुद्ध चैतन्य का सार स्वरूप, जो मेरे समक्ष एक जीवन्त रूप में आती थी और मुझे नाम-रूप के क्षेत्र के परे जाने से रोकती थी। बारम्बार मैंने अद्वैत की शिक्षाओं पर मन एकाग्र करने की चेष्टा की, किन्तु प्रत्येक बार माँ की मूर्ति सामने खड़ी थी। निराश होकर मैंने नांगटा से कहा, 'मुझे असाध्य लगता है, मैं अपना मन निरपेक्ष अवस्था में नहीं ला सकता और आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकता।' यह सुनते ही वे उत्तेजित हो गये और रुष्ट होकर बोले, 'क्या? तुम यह नहीं कर सकोगे, तुम्हें यह करना पड़ेगा।' उन्होंने इधर-उधर अपनी दृष्टि दौड़ाई और काँच का एक टुकड़ा पड़ा देखकर उसे उठा लिया और मेरे भ्रूमध्य चुभाकर कहा : 'इस बिन्दु पर मन एकाग्र

[1] श्री रामकृष्ण द ग्रेट मास्टर, 1952, 254–55।

करो।' फिर अति दृढ़ संकल्प करके मैं ध्यान करने बैठा, और जैसे ही माँ का कल्याणकारी स्वरूप सामने आया मैंने अपनी विवेक शक्ति की असि से उसके दो टुकड़े कर दिये। मेरे मन के सामने अब कोई बाधा नहीं रह गई थी और मैं समाधि में खो गया।'[1]

श्री रामकृष्ण निर्विकल्प समाधि की निरूपाधिक अवस्था में पहुँच गये, इन्द्रियों और मन ने अपने काम बन्द कर दिये, शरीर निश्चेष्ट हो गया। उन्होंने ब्रह्म की अनुभूति कर ली, मन और वाणी के परे ब्रह्म के साथ एकाकार हो गये। तोतापुरी चुपचाप बहुत देर तक अपने शिष्य को बैठे निहारते रहे। और उन्हें अभी भी चेष्टा रहित पाकर, कुटिया के बाहर आ गये और ताला बन्द कर दिया, जिससे कोई अनजाने आकर विघ्न न डाले, वे भीतर से शिष्य की पुकार की प्रतीक्षा में बैठ गये। दिन बीत गया रात आई, दूसरा और तीसरा दिन और रात बीत गये, फिर भी कोई पुकार नहीं। तोतापुरी विस्मित थे। उन्होंने द्वार खोला और भीतर प्रवेश किया। जिस आसन पर तोतापुरी श्री रामकृष्ण को बैठे छोड़ गये थे उसी पर उन्हें बैठे देखकर वे अवाक् रह गये। उनका मुख शान्त, गम्भीर और कान्तिमय था। अवाक् और विस्मित होकर तोतापुरी ने, शिष्य की हृदय गति, श्वास-प्रश्वास की परीक्षा की तथा बारम्बार शिष्य की मृतप्राय देह को स्पर्श करते रहे। चेतना का कोई लक्षण नहीं मिला। जिस निर्विकल्प समाधि के सर्वोच्च साक्षात्कार को प्राप्त करने में उन्हें चालीस वर्ष का कठिन अभ्यास करना पड़ा था उसको इस युवक के एक ही दिन में प्राप्त कर लेने के चमत्कार को देखकर तोतापुरी हक्का-बक्का रह गये और चिल्ला पड़े।

तोतापुरी अपने शिष्य के मन को प्रपंचमय जगत में लाने के लिए तुरन्त सचेष्ट हुए, गुरु के द्वारा गम्भीर शब्द में उच्चरित पवित्र मन्त्र 'हरि ओ३म्' से कुटी गूँज उठी। शनैः शनैः श्री रामकृष्ण के मन को बाह्य प्रपंच की चेतना आने लगी। और जब उन्होंने आँख खोली, तो गुरु को प्रेमिल और सराहनीय दृष्टि से अपनी ओर देखते पाया। शिष्य श्रद्धा और सम्मानपूर्वक गुरु के चरणों में लोट गया, तथा गुरु ने अति प्रेम से उसका गाढ़ आलिंगन किया।

ज्ञान का फल शक्ति है

'आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्'—आत्मा से मनुष्य सच्ची शक्ति पाता है और ज्ञान से अमृतत्व।' केनोपनिषद् के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ मन्त्र में यह कहा गया था। अपने को जानने का फल शक्ति है, थोड़े से आत्मबोध द्वारा मनुष्य अपने से शरीर में अधिक बली पशुओं को वश में कर सका है। आत्मबोध सम्पन्न पुरुष आत्मबोध विहीन मनुष्य पर शासन करता है। साधारण आत्मबोध का

1 लाइफ ऑव श्री रामकृष्ण, 189–90।

प्रयोग दूसरों को वश में करके अपने स्वार्थ साधन के लिए हो सकता है, किन्तु आत्मा द्वारा प्राप्त आत्मबोध, जैसा कि इस उपनिषद् के अगले मन्त्र में बताया जायेगा, दृष्टिकोण और सहानुभूति की सार्वभौमिकता प्रदान करता है। यह आत्मा समस्त शक्ति और ऊर्जा का अनन्त भण्डार है। जो हम सम्यक् शिक्षा द्वारा उपार्जन करते हैं, वह उसकी अभिव्यक्ति है। एक दूषित चरित्र की तुलना में, एक सुविकसित चरित्र इस सहज शक्ति और ऊर्जा को अधिक अभिव्यक्त करता है। चरित्र के समस्त रूपों से प्राप्त शक्ति में सहजता और अहरणीयता का गुण, धन और सत्ता तथा अन्य वाह्य सम्पदाओं से प्राप्त शक्ति से विलक्षण होता है। इसलिए शक्ति ओर ऊर्जा का सबसे विश्वसनीय स्रोत है चरित्र। दूसरी ओर वाह्य सम्पदा, सीमित शक्ति और सीमित निर्भयता ही दे सकती है। समस्त चरित्रों में एक आध्यात्मिक चरित्र, अन्तस्थ आत्मा से पोषित एक चरित्र, सबसे अधिक शक्ति अभिव्यक्त करता है, क्योंकि वह स्वयं मृत्यु को भी जीत लेता है। इस पद की व्याख्या में शंकराचार्य कहते हैं :

धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोति अभिभवितुम्, अनित्यवस्तुकृतत्वात्; आत्मविद्याकृतम् तु वीर्यं आत्मनैव विन्दते, न अन्येन, इत्यतो अनन्यसाधनत्वात् आत्मविद्यावीर्यस्य, तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोति अभिभवितुम्।

धन से, मित्रों से, मन्त्रों से, औषधियों से, तप से, मनोनिग्रह से प्राप्त शक्ति द्वारा मृत्यु पर विजय पाना आवश्यक है, क्योंकि वह स्वयं अनित्य वस्तुओं की उपज है। दूसरी ओर, आत्मा के ज्ञान से प्राप्त शक्ति आत्मा से ही मिलती है, न कि अन्य किसी वस्तु से। इसलिए आत्मा के ज्ञान से मिली शक्ति, किसी और माध्यम से प्राप्त न होने के कारण, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकती है।

परम शक्ति का स्रोत होने के कारण, यह ज्ञान अमृतत्व ही देता है। यह ज्ञान कि 'मैं आत्मा हूँ', यह भी ज्ञान है कि 'मैं अमृत हूँ'।

अमृतत्व के ज्ञान का स्वरूप इस दूसरे अध्याय के पाँचवे और अन्तिम मन्त्र का विषय है, जिसका हम आगे विवेचन करेंगे।

दस

केनोपनिषद् (क्रमशः)

पीछे, केनोपनिषद् हमारे लिए उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति के स्वरूप की व्याख्या कर रहा था, जो मन और इन्द्रियों के परे होने के कारण बहुत विरल प्राप्ति है।

अपनी पहेली-पूर्ण भाषा में उपनिषद् ने हमें यह बताया कि हमारे अमृत दिव्य स्वरूप, आत्मा का गहन 'सत्य उनके लिए अज्ञात है, जो जानते हैं; और उनके लिए ज्ञात है जो नहीं जानते।' किन्तु यदि यह सत्य इतना अलौकिक और इतना अधिक सूक्ष्म है, तो उसे कैसे समझें और लाभ उठावें ?

दूसरे अध्याय के चौथे मन्त्र में—उपनिषद् ने हमें आश्वासित किया था कि यद्यपि यह आत्मा मन और इन्द्रियों के परे है, तो भी उसने अनुभव के जगत पर, विशेषतया मन और इन्द्रियों पर, अपनी छाप या कहना चाहिए अपने पदचिह्न छोड़े हैं :

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।

जो ज्ञान और चेतना के प्रत्येक स्पन्दन में, और उसके द्वारा अनुभूति करता है, निश्चय ही वह अमर पद पा लेता है।

अनुभव की रेती पर आत्मा के पद-चिह्न

मन की क्रियाएँ अपने पीछे स्थित आत्मा को प्रकाशित करती हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (I.iv.7) कहता है :

तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं ।

इन सब में, इस आत्मा की खोज करना है। ये सब उसी के द्वारा जाने जाते हैं। जिस प्रकार किसी पशु की खोज और प्राप्ति उसके पद-चिह्न द्वारा की जा सकती है, उसी प्रकार अनुभव के रेत पर उसके पद-चिह्नों द्वारा आत्मा तक पहुँच सकते हैं।

उपर्युक्त पद की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं :

कथं पुन: एतत् पदनीयम्, इति उच्यते; यथा ह वै लोके पदेन, गवादि खुराङ्कितो देश: पदम् इत्युच्यते, तेन पदेन, नष्टं विवित्सितं पशुं पदेन अन्वेषमाणो अनुविन्देत्, लभेत।

तो फिर इस आत्मा की प्राप्ति कैसे करें ? इस प्रकार इसका उत्तर दिया जाता है : जैसे संसार में एक खोये हुए पशु को उसके पद द्वारा खोज कर ढूंढ़ लेते हैं। यहाँ 'पद' का अर्थ है जिस पर गऊ आदि का पद चिह्नित होता है।

केनोपनिषद् ने हमें यह भी बताया कि यह अनुभूति अनन्त शक्ति का स्रोत है : 'आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्'—मनुष्य को आत्मा के द्वारा शक्ति और ऊर्जा प्राप्त होती है, और उसके ज्ञान द्वारा अमृतत्व।

विकार और मृत्यु शरीर, इन्द्रिय और मन से सम्बन्धित हैं, उन सब वस्तुओं से जो हमारे व्यक्तित्व के अंशों का सम्मिश्रण है। किन्तु आत्मा सरल तत्त्व है, मिश्रण नहीं। इसलिए वह मृत्युहीन है। जब वास्तव में हम अपने स्वरूप को पा लेते हैं, अपने सच्चे स्वरूप को जान लेते हैं, हम अमर हो जाते हैं।

पाण्डित्य और आध्यात्मिकता

यह विद्या या ज्ञान, वह नहीं है जो हम बहुधा पुस्तकों से या प्रकृति के अध्ययन से प्राप्त करते हैं। यह अमृतत्व नहीं दे सकते, क्योंकि इसका सम्बन्ध मरणशील और विकारशील और हमारे बाहर की वस्तुओं से है। दूसरी ओर यह ज्ञान अनुभव के अविकारी तत्त्व से सम्बन्धित है, यह आत्मज्ञान है, अनात्मज्ञान नहीं। इन्द्रिय ज्ञान से यह परे है, वह 'अज्ञात और ज्ञात के परे' है।

ज्ञान और अज्ञान ही इन्द्रिय-स्तर पर ज्ञान की दो कोटि हैं, 'अन्यदेव तत् विदितात् अथो अविदितात् अधि।'

मनुष्य जब यह समझ लेता है तो पुस्तक ज्ञान का अब तक प्राप्त विपुल भण्डार उसे मस्तिष्क में भरा काठ-कबाड़ लगने लगता है। उस समय वह इस मानसिक जड़ भार से, इस विद्वत्तापूर्ण अविद्या से मुक्त होने से अधिक और कुछ नहीं चाहेगा तथा सत्य ज्ञान पाने के लिए उद्यम करेगा। जब श्री रामकृष्ण जवान हुए तो उनके बड़े भाई ने उन्हें पाठशाला भेजने का आग्रह किया। श्री रामकृष्ण ने इसी मनोवृत्ति और भाव दशा के अनुकूल एक उत्तर दिया :

> दादा, मैं चालकौला बांदानो विद्या अर्थात् केवल रोटी कमाने की विद्या को लेकर क्या करूँगा ? मैं तो उस ज्ञान का उपार्जन करूँगा जो मेरे हृदय को प्रकाशित कर देगा, और जिसको पाकर मनुष्य सदा सन्तुष्ट रहेगा।[1]

1 लाइफ ऑव श्री रामकृष्ण, 50।

जब स्वामी विवेकानन्द (उस समय के युवक नरेन्द्र) वकालत की परीक्षा में बैठने वाले थे, तब उन्होंने भी इस आध्यात्मिक साक्षात्कार की उग्र प्यास अनुभव की थी और शिष्य और गुरु (श्री रामकृष्ण) के बीच निम्न रोचक सम्वाद हुआ :

गुरु (नरेन्द्र से मुस्कराते हुए): क्या तुम आगे नहीं पढ़ोगे ?

नरेन्द्र (गुरु तथा मास्टर जी की ओर ताकते हुए): यदि मुझे कोई ऐसी औषधि मिल जाये कि जिसके प्रभाव से, मैंने जो कुछ पढ़ा भूल जाऊँ, तो मेरा बहुत बोझ कम हो जायेगा ।[1]

अष्टावक्र संहिता (XVI.1 और 11) के शब्दों में :

आचक्ष्व श्रनु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकश: ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणात् ऋते ॥

तात् ! तुम नाना शास्त्रों को कहो या सुनो, तो भी तुम उस समय तक आत्मनिष्ठ नहीं हो सकते जब तक तुम सब न भूल जाओ ।

हरो यद्युपदेष्टा ते हरि: कमलजोऽपि वा ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणात् ऋते ॥

यदि तुम्हारे उपदेष्टा हर हों या हरि हों, या ब्रह्मा हो, तो भी तुम आत्मनिष्ठ नहीं हो सकते, जब तक तुम सब नहीं भूल जाते ।

बुद्ध, ईसा, रामकृष्ण और विवेकानन्द जैसे मानवता के महान् आध्यात्मिक गुरुओं से नि:सृत महान् ऊर्जा का स्फुरण—इस अमृत दिव्य आतमा से होता है। समस्त ज्ञान शक्ति है किन्तु आत्म-ज्ञान सर्वश्रेष्ठ शक्ति है ।

अनुभूति यहाँ और अभी

इस प्रकार इस ज्ञान की महिमा और उत्कृष्टता की व्याख्या करके, उपनिषद् अब दूसरे अध्याय के पाँचवें और अन्तिम मन्त्र में बताता है कि यह अनुभूति यहीं और अभी होनी चाहिए; इसी जीवन में, किसी मरणोत्तर स्वर्ग में नहीं :

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि: ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा: प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

जो उसे यहाँ (इसी जीवन में) साक्षात्कार कर लेता है उसका जीवन सत्य (सफल) है। और जो उसका साक्षात्कार नहीं करता, उसके लिए महाविनाश है । एक-एक प्राणी में आत्मा को देखकर ज्ञानी इस (विषयगत) संसार के लिए मृत हो जाता है और अमृत बन जाता है ।

वेदान्त की यह एक महान् उक्ति है कि सत्य का साक्षात्कार 'इह'—यहाँ और अभी, इसी जीवन में करना होगा । इस पर जोर देना युक्तियुक्त तभी है, जब सत्य हमारा अपना स्वरूप हो, अपना जन्मसिद्ध अधिकार हो । वेदान्त घोषणा करता है

[1] द गॉस्पेल ऑव श्री रामकृष्ण, 925 ।

कि सत्य मनुष्य का अपना आत्मा है । मनुष्य के लिए सच्चा जीवन केवल तब आरम्भ होता है जब वह अपनी शक्तियाँ, अन्तस्थ अन्तहीन आत्मा की ओर मोड़ देता है । आत्म-दर्शन होने पर वह पूर्ण कृतार्थ होता है । उपनिषद् मनुष्य को इस साक्षात्कार के लिए इसलिए बुलाते हैं कि वह शरीर-पात् होने से पहले सच्चे जीवन का अनुभव कर लें । किन्तु यदि वह इसकी उपेक्षा करता है, और इस जीवन में चूक जाता है, तो उसकी महान् हानि होगी । सम्पत्ति सत्ता और सुख या स्वर्ग के क्षणिक भोग-विलास रूप में इस संसार का दूसरा क्या लाभ है जो इसकी क्षतिपूर्ति कर सकता है । ईसा पूछते हैं (मार्क, VIII.36–37) :

> मनुष्य यदि अपना आत्मा खो दे, और समस्त जगत भी पाले तो उससे क्या लाभ होगा ? या मनुष्य अपने आत्मा के बदले में क्या दे सकता है ?

विषयी-जीवन परिसीमित और क्षुद्र होता है । समस्त एकमात्रक लौकिक शिक्षा जीवन के परिसीमित स्तर से सम्बन्वित है । शिक्षा स्वस्थ और रचनाशील तभी है, जब वह मनुष्य को इस अनन्त जीवन की खोज की ओर, सच्चे जीवन की खोज की ओर, ले जाती है; नहीं तो वह मनुष्य की विषय-वासना को अधिक तीव्र बनाने में और क्षुद्र तथा परिमित जीवन के चक्र में पहुँचाने में परिणत होती है, जिसको वेदान्त संसार का गत्यावरोध कहकर चित्रण करता है ।

विशाल और अनन्त का उत्तराधिकारी होने पर भी, मनुष्य के अपने को आध्यात्मिक अन्धता द्वारा सीमितता और क्षुद्रता में कैद रखने में वेदान्त उसके जीवन की त्रासदी देखता है ।

उस चेतना की क्या विमा होगी जो मनुष्य को परिमित और क्षुद्र से उठा कर भूमा और अनन्त की सूक्ष्म दृष्टि देती है । परिमित से अनन्त की ओर यह गति, असत्य जीवन से सत्य जीवन की ओर भी गति है, और यह मर्त्य से अमर्त्य में भी गमन है । समस्त नैतिक और आध्यात्मिक जीवन अनन्त की ओर इस तीव्र कामना को और गति को व्यक्त करता है । मानव हृदय क्षुद्र से, अल्प से कभी सन्तुष्ट नहीं होता, सदैव महान् को या भूमा को ढूँढ़ता है । छान्दोग्य उपनिषद् (VII.xxiii.1) कहता है :

> यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति ।
> भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति ।।

अनन्त ही वास्तविक सुख है, अल्प (परिमित) में कोई सुख नहीं, भूमा या अनन्त ही सुख है, (इसलिए) केवल अनन्त को ही खोजना चाहिए ।

सार्वभौमिक दृष्टि

अनासक्त की वैज्ञानिक तथा नैतिक साधना द्वारा सीमित अहं का अतिक्रमण और विश्व-मानव की उन्मुक्ति प्राप्त करना उस खोज का लक्ष्य है । अनासक्ति की साधना से व्यक्ति का नाश नहीं होता, अपितु वह अधिक विशालता तथा पूर्णता पाता

है । अपनी पुस्तक 'पॉसिबल वर्ल्ड्ज' में जे० बी० एस० हालडेन कहते हैं :

> मैंने यह देखा है कि जब मैं तर्कसंगत या वैज्ञानिक ढंग से विचार करता हूँ या नीति के अनुकूल काम करता हूँ, तो मेरे विचार और कर्म, मेरी अपनी वैयक्तिक विशेषता के अनुकूल नहीं रह जाते, तथा उसी स्थिति में होने वाले किसी बुद्धिमान या नैतिक व्यक्ति जैसे हो जाते हैं । वास्तव में, मैं पहले से ही अपने मन को, एक पूर्ण या निर्विशेष या निरुपाधिक मन के साथ एकाकार कर रहा हूँ ।
>
> जब तक मैं ऐसा करता हूँ, तब तक ही अपने बचे रहने की सम्भावना देख सकता हूँ, तथा जितना अधिक मैं ऐसा करता हूँ, उतना ही कम अनुरक्त, अपने निजी धन्धों से होता जाता हूँ, और उतनी ही कम इच्छा व्यक्तिगत अमरता की अनुभव करता हूँ ।

'व्यावहारिक वेदान्त' पर भाषण में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

> वेदान्त का भाव व्यक्ति का नाश नहीं, उसकी सच्ची सुरक्षा करना है । व्यक्ति की विश्वात्मकता के सन्दर्भ में ही यह सम्भव है । यदि व्यक्ति को हम विश्व की प्रत्येक वस्तु से पृथक् मानें, तो वह एक क्षण भी टिक नहीं सकता । ऐसा व्यक्ति कभी था ही नहीं ।[1]

मनुष्य अनन्त और अमृत को कहाँ ढूँढ़ेगा ? उपनिषद् कहते हैं—अपने भीतर ढूँढ़ो । ईसा भी कहते हैं कि अपने ही भीतर ढूँढ़ो । अनन्त उसका सच्चा स्वरूप है, वह ही उसकी सच्ची विमा है । वेदान्त कहता है—मनुष्य का आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है । छान्दोग्य उपनिषद् की भाषा (VI.viii.7) में :

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि

विश्व की प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म (अनन्त) तत्त्व उसका आत्मा है; वही सत्य है, वही आत्मा है, वही तू है ।

क्रम-विकास दृष्टि

वेदान्त समस्त क्रम-विकास प्रक्रिया के ढाँचे और रूप को उन्नतिशील विकास और अन्तस्थ अनन्त आत्मा की अधिकाधिक अभिव्यक्ति के रूप में देखता है । जीव-संस्थानों का प्रथम आविर्भाव चेतना के एक अविकसित रूप की अभिव्यक्ति से परिलक्षित है । क्रम-विकास की सीढ़ी पर जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते हैं, यह चेतना, समृद्धि और विविधता में विकसित होती है । स्नायुतन्त्र का क्रम-विकास, चेतना की गहराई और विस्तार की उत्तरोत्तर वृद्धि अनावृत्त करता है । जीव-संस्थान या प्राणी की, पर्यावरण पर दृढ़ पकड़ उसका परिणाम है ।

क्रम-विकास के घटना दृश्य पर मनुष्य के प्रकटन के साथ चेतना को एक

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 2, 331 ।

नयी और अर्थपूर्ण विमा प्राप्त होती है। अन्य सब जीव-संस्थानों की चेतना का क्षेत्र अधिकांशत: बाह्य जगत का पर्यावरण है। कुछ अंश में, उनके शरीरों का अन्तर भी है। केवल मनुष्य को ही अनात्म के बोध के साथ आत्मा का बोध है। आत्मबोध जिसे प्रकृति ने मानव जीव-संस्थान के क्रम-विकास द्वारा प्राप्त किया, बोध या चेतना की एक नवीन विमा है, जिसमें प्रकृति तथा मनुष्य दोनों के लिए महान् निहितार्थ हैं। आत्मबोध के अल्पविकसित रूप ने आदितम मनुष्य को समस्त पशु जगत पर शासन करने की सामर्थ्य दी। स्नायु विज्ञान के ज्ञाता आदितम मानव में कल्पना-शक्ति के आविर्भाव के अस्तित्व को मानते हैं। दूसरे शब्दों में, कल्पना-शक्ति को हम मन में विचारों को सुरक्षित रखने की सामर्थ्य कह सकते हैं। इस सामर्थ्य का उच्चतम अवमानुषिक जातियों में भी अभाव है।

स्नायु विज्ञान के प्रसिद्ध ज्ञाता डब्लू० ग्रे वाल्टर कहते हैं :

> इस प्रकार मस्तिष्क की यन्त्र रचनाएँ मनुष्य और वनमानुष के बीच एक गहरा शरीर-क्रियात्मक भेद प्रकट करती हैं।···· यदि इन विचाराधीन उच्चतर क्रियाओं का नाम जीवात्मा रखा जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि जिस आलोक का प्रकाश मनुष्यों के सामने ऐसे होता है, वह दूसरे पशुओं में झलक मात्र है····हमसे निकटतम पशु चिपैंजी (एक बन्दर) अपने मन में एक चित्र को इतनी देर तक धारण नहीं कर सकता कि वह उस पर विचार कर सके, चाहे कला-बाजियाँ सीखने में या उसकी पहुँच से बाहर रखे हुए भोजन प्राप्त करने में वह कितना ही कुशल हो। योजना की कार्य-शक्ति से विहीन होने से, किसी उद्दीपन की विभिन्न प्रतिक्रियाओं के सम्भाव्य परिणामों को दोहराने में असमर्थ वनमानुष तथा दूसरे पशु भी अपनी भावनाओं का दमन करना नहीं सीख सकते। यही तो पर्यावरण से स्वतन्त्रता की ओर, और अन्ततोगत्वा उस पर अधिकार पा लेने की दिशा में, पहला कदम है। अनेक सम्भाव्य प्रतिक्रियाओं में से एक को चयन कर लेने का समय निकाल लेने के लिए, पशु के मस्तिष्क की क्रिया रोकी नहीं जाती, किन्तु एक ही प्रतिवर्त या प्रतिबन्धित प्रतिक्रिया को प्रकट होने देती है। बन्दर का मस्तिष्क अभी तक इन्द्रियों की दासता में है। 'मैं भावना करता हूँ इसलिए मैं हूँ।' कदाचित् किसी किंचित् मतवाले एक बन्दर का प्रथम चिन्तन है। ऐसा ही चिन्तन किसी शराबी मनुष्य का अन्तिम चिन्तन होता है।
>
> सिंह, व्याघ्र, गेंडे तथा दूसरे बली पशुओं में भी कल्पना-शक्ति की यन्त्र-रचना का अभाव है, नहीं तो हम इस बात का विवेचन करने के लिए यहाँ न होते। अपने पर्यावरण में परिवर्तन को वह सोच भी नहीं सकते। अत: अपने प्राकृतिक निवास-स्थान पर अधिकार जमाये रखने तक ही उनका उद्यम रहता है।[1]

केवल मनुष्य ने ही धारणाओं के चित्रण करने की यह सामर्थ्य प्राप्त की। साथ ही साथ उसने अवलोकन, स्मरण, तुलना, मूल्यांकन, चयन और निर्णय करने की

[1] डब्लू० ग्रे वाल्टर, द लिविंग ब्रेन, 2।

योग्यता को भी अर्जित किया। इससे उसे दो बातें मिलीं : प्रथम, उसे वह रास्ता मिल गया जो कच्चे अनुभव को ज्ञान में, ज्ञान को शक्ति में, और शक्ति को अनुभव के अनात्म से बने पर्यावरण के नियन्त्रण और संचालन करने की ओर ले जाता है। दूसरे, विषयी या दृक् रूप में, क्षणिक रूपों के पीछे आत्मा के रूप में; स्वरूप की अस्पष्ट चेतना तथा तत्त्व की इस नवीन विमा के पूर्ण बोध पर ले जाने वाला पथ भी उसे मिल गया। इन दो मोर्चों पर मनुष्य की दृढ़ प्रगति से सभ्यता और संस्कृति का इतिहास बनता है। वही सभ्यता के विकास की कहानी है। अनात्मा और आत्मा के ज्ञान में विविध मात्रा में प्रशिक्षित मानव मन के आविर्भाव के साथ विकास के घटना दृश्य पर प्रकृति अधिकाधिक मात्रा में मनुष्य को विकास-प्रक्रिया का नियन्त्रण और संचालन सौंप देती है।

ज्ञान से प्रज्ञा की ओर

आदि मानव में आत्मबोध बहुत थोड़ा था। वह उससे पशु जगत पर शासन तो करने लगा पर अपनी वासना और व्यवहार में करीब-करीब निरा पशु ही बना रहा। ज्यों-ज्यों समय बीता सामाजिक अनुभव भी बढ़ा और चिन्तन भी। इसी से उसमें अनुशासन और मानवता दोनों ही गुण बढ़े। मानव सभ्यता के विकास तथा मानव की सामाजिक और राजनीतिक प्रगति में यह प्रक्रिया निरन्तर साधक रही है। आज तो बात यहाँ तक आ पहुँची है कि अपने आपको छोड़कर मानव का अपने बाह्य वातावरण पर नवीन तकनीक के माध्यम से पूरा अधिकार हो गया है। फिर भी उसके अपने ऊपर अधिकार के बीच और प्रकृति के ऊपर अधिकार के बीच, उसकी नैतिक कुशलता के और तकनीकी कुशलता के बीच, विषमता ने उसके सामने एक ऐसी गम्भीर समस्या खड़ी कर दी, जो उसके विकासक्रम में कभी प्रस्तुत नहीं हुई थी। लगता है कि यदि यह समस्या सुलझ न पाई तो मनुष्य सभ्यता का और क्रम-विकास की सांसारिक उपलब्धियों का विनाश हो जायेगा। इसी बीच मानव को एक तनाव से दूसरे तनाव में, एक दुःख से दूसरे दुःख में होकर निकलना पड़ रहा है। इस सबका समाधान तभी होगा जब वह अपने नैतिक और गत्यात्मक बोध को और अधिक गहन बनायेगा। जैविक क्रम-विकास को यदि देखें तो पता लगेगा कि मानव के जीवन में अपने आत्मा के अस्पष्ट बोध की बात बहुत शुरू में ही पैदा हो गई थी। ज्यों-ज्यों मानव की बुद्धि का विकास हुआ और सामाजिक विकास की प्रक्रिया अधिक विकसित हुई त्यों-त्यों यह आत्मभाव समाज में और अधिक विकसित हुआ। विकास की यह प्रक्रिया निरन्तर गतिमान रही। यदि इस प्रक्रिया की गति को बनाये रखना है तो मनुष्य की शिक्षा बराबर चलती रहनी चाहिए और तब तक चलनी चाहिए जब तक उसमें स्वकेन्द्रीयता के प्रति भावातीत भाव न आ जाए और उसका ज्ञान, प्रज्ञा में परिवर्तित न हो जाए। बर्ट्रेण्ड रसल कहते हैं :

आज साधन और साध्य के बीच मानव मूढ़मति बनकर खड़ा है। एक ओर मानव बुद्धि निरन्तर वेहतर और वढ़िया साधनों को मनुष्य को देने में लगी है। दूसरी ओर अपनी मूढ़ता के कारण मनुष्य उन सव साधनों का प्रयोग गलत वातों की प्राप्ति के लिए करने से नहीं चूकता। इससे वरावर इस वात की सम्भावना वढ़ती जा रही है कि कहीं मानव अपने वढ़िया साधनों को अपने घटिया साध्यों की प्राप्ति के उपयोग में लगाकर मानव जाति को विनाश के कगार पर न पहुँचा दे। जव तक मानव का ज्ञान, प्रज्ञा में परिवर्तित नहीं हो जाता तव तक उसकी बुद्धि की देन ये सभी साधन उसके विनाश को अपने गर्भ में छिपाये रहेंगे।[1]

संकल्प शक्ति का आध्यात्मिक प्रशिक्षण

प्रज्ञा में यह वृद्धि मनुष्य तब प्राप्त करता है, जब वह अपने क्षुद्र पृथक् अहं का अतिक्रमण करता है, और जब अपने सच्चे आत्मा की ओर, जो सबका आत्मा है, चलने लगता है। इसका मार्ग इन्द्रियों और मन पर उत्तरोत्तर अधिकार द्वारा तथा सत् और असत् के बीच और अविकारी एक तथा विकारी अनेक के बीच विवेक करने से प्राप्त होता है। उपनिषदों के अनुसार मनुष्य के लिए यह सर्वोच्च शिक्षा है; उसके लिए यही शिक्षा है, जिसे मुंडक उपनिषद् (I.i.5) में पराविद्या कहा गया है—सर्वोच्च ज्ञान, प्रज्ञा या अनेक विनाशशील वस्तुओं में एक अविनाशी तत्त्व की अनुभूति।

उपनिषद् कहते हैं इस शिक्षा को टालना नहीं चाहिए। उसे प्रकृति के मन्द क्रम-वैकासिक प्रक्रिया द्वारा प्राप्त करने के आसरे पर भी नहीं छोड़ना चाहिए। जैसा कि मैंने पहले कहा आद्य मानव को अल्पविकसित आत्मबोध देने में, प्रकृति ने अपना काम पूरा कर दिया था। सभी में से, मानव को पूर्ण आत्मबोध और पूर्ण आत्मकृतकृत्यता के मार्ग पर प्रकृति ने रख दिया था। आधुनिक मनुष्य को, अब प्रकृति माता की, उतनी देख-रेख की आवश्यकता नहीं रही, जितनी आदि मानव को थी, या पशु जगत को अव भी है। आज मनुष्य में प्रकृति और समाज की प्रक्रियाओं पर नियन्त्रण करने की वुद्धि और सामर्थ्य है। किन्तु उसकी इच्छा-शक्ति विकृत है; वह मूढ़ता के मार्ग ढूँढ़ती है, और जव तक वह उसके पशु स्वभाव और उसके स्वभाव में केन्द्रित क्षुद्र 'अहं' भावना की दासता में रहेगी, तब तक वह मनुष्य का कोई भला नहीं कर सकेगी। उसको अपने दिव्य अन्तस्थ स्वरूप की ओर मोड़ना होगा, तब कहीं उसका चित्त, संकल्प शक्ति और भावना मिलकर बुद्धि रूप में एक नया मूल्य बनेगा। यह सात्त्विक संकल्प शक्ति है, जो प्रकाश रूप और शुद्ध है, गीता (XVIII.33) के अनुसार :

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

[1] बर्ट्रेण्ड रसेल, द इम्पैक्ट ऑव साइन्स ऑन सोसाइटी, 120–21।

वह संकल्प शक्ति जो मन, प्राण व इन्द्रियों की क्रियाओं पर नियन्त्रण करती है, और उनकी शक्तियों को एक रूप से अन्तस्थ दिव्य आत्मा की ओर मोड़ देती है, हे पार्थ ! वह सात्त्विक इच्छा शक्ति या धृति है ।

मानव क्रम-विकास की दिशा

क्योंकि मनुष्य और उसकी पूर्णता की अभिवृद्धि का यह विषय, वेदान्त में और आधुनिक जैविक चिन्तन में एक से महत्त्व का है; मैं स्वामी विवेकानन्द का ही एक तत्सम्बन्धी उद्धरण देना अधिक अच्छा समझता हूँ । 'मन की शक्तियाँ' विषय पर सन् 1900 में कैलीफोर्निया में दिए व्याख्यान में स्वामी जी ने कहा :

> मैं आपको एक सिद्धान्त बताता हूँ, जिसका तर्क मैं अभी प्रस्तुत नहीं करता, केवल उसका निर्णय आपके सामने रखता हूँ । अपने बाल्यकाल में हर एक मनुष्य उन अवस्थाओं में होकर निकलता है जिसमें होकर उसकी समस्त जाति आई है; केवल जाति ने इस कार्य को करने में हजारों वर्ष लिये जबकि बालक थोड़े से वर्ष लगाता है । बालक पहले वही प्राचीन वहशी मनुष्य की तरह आचरण करता है । उदाहरणार्थ, वह एक तितली को अपने पांव से कुचलता है । पहले-पहल बालक अपनी जाति के आदिम पूर्वजों के अनुरूप होता है । जैसे-जैसे वह बढ़ता है, वह विभिन्न स्तरों में होकर गुजरता है, और अन्ततः वह अपनी जाति के वर्तमान विकास तक पहुँच जाता है । वह तीव्रता और शीघ्रता से इसको कर लेता है । अच्छा अब, समस्त मानवता को एक जाति रूप में लें, या समस्त पशु-सृष्टि को मनुष्य और निम्न पशुओं को एक समष्टि रूप में लें; तो हम देखेंगे कि लक्ष्य एक है, जिसकी ओर समष्टि की गति है । हम इस लक्ष्य को 'पूर्णता' कहेंगे । कुछ स्त्री और पुरुष ऐसे पैदा होते हैं, जो मानवता की समस्त प्रगति का पूर्व सम्पादन कर लेते हैं । समस्त मानव जाति द्वारा उसकी पूर्णता प्राप्ति के समय तक प्रतीक्षा करके, बारम्बार युगों तक जन्म लेते रहने के बजाय, उसको मानो, वे अपने जीवन के थोड़े से वर्षों में इस अवस्था से तेजी से निकलकर पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं । और यदि हम अपने प्रति सच्चे हैं तो हम जानते हैं, कि इन प्रक्रमों को हम त्वरित कर सकते हैं । यदि कुछ मनुष्यों को जो संस्कृति-विहीन हों; एक द्वीप पर रहने के लिए छोड़ दिया जाय, तथा भोजन की, वस्त्र की और आवास की न्यूनतम व्यवस्था कर दी जाये, तो वे धीरे-धीरे उन्नति करते रहेंगे और सभ्यता की उन्नत अवस्थाएँ प्राप्त करते रहेंगे । हम ये भी जानते हैं कि कुछ अतिरिक्त साधनों द्वारा इस विकास में शीघ्रता लाई जा सकती है । वृक्षों की वृद्धि में हम सहायता करते ही हैं । यदि केवल प्रकृति पर छोड़ दिया जाता तो वे बढ़ते तो अवश्य, किन्तु समय कुछ अधिक लगता । जितना समय बढ़ने में वे अन्यथा लेते, उससे थोड़े काल में हम उनकी वृद्धि में सहायक

होते हैं। बराबर हम यही करते आ रहे हैं; कृत्रिम उपायों द्वारा वस्तुओं का शीघ्र विकास। तो मनुष्य के विकास में हम शीघ्रता क्यों नहीं कर सकते ? हम समष्टि रूप में ऐसा कर सकते हैं। जरा सोचें, हम दूसरे देशों को शिक्षक क्यों भेजते हैं ? इसीलिए कि उनके द्वारा हम विकास की प्रक्रिया को तेज कर सकें। तो क्या हम व्यक्तियों का विकास नहीं कर सकते ? कर सकते हैं। क्या इस विकास गति को हम किसी सीमा में बाँध सकते हैं ?···· हमारे पास ये कहने का कोई पर्याप्त कारण नहीं कि एक मनुष्य इतना ही कर सकता है, अधिक नहीं। परिस्थितियाँ उसकी आश्चर्यजनक प्रगति करा सकती हैं। तो क्या पूर्णता प्राप्त करने की कोई सीमा बन सकती है ?[1]

इस विचार-सरणि के परिणाम का उल्लेख करते हुए, वह आगे कहते हैं :

तो इसका क्या परिणाम होता है—इस जाति में जो प्रारूप कदाचित् करोड़ों वर्षों में पैदा होता, वह पूर्ण मनुष्य उसे आज ही ला सकता है। और योगी यही कहते हैं कि सब बड़े अवतार और धर्मगुरु ऐसे ही मनुष्य हैं कि वे इसी एक जीवन में पूर्णता पा गये। ऐसे मनुष्य हमने संसार के इतिहास में सर्वदा पाये हैं और सब युगों में पाये हैं।

और स्वयं अपने गुरु श्री रामकृष्ण की इस युग में इस उपलब्धि का उदाहरण देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा :

अभी हाल में, एक ऐसा ही मनुष्य हुआ, जिसने समस्त मानव जाति का जीवन जिया और उसके अन्त तक पहुँच गया अपने इसी जीवन में।

मानव-विज्ञान शास्त्र तथा समाज-विज्ञान शास्त्रों को अधिक गहन रूप से समझने के निमित्त मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए अनुरोध करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा :

विकास का यह त्वरण भी नियमों के अधीन होना चाहिए। मान लीजिए, हम इन नियमों की खोज करके उनका रहस्य समझ लें और अपनी आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग करें, तो परिणामस्वरूप हम विकासक्रम की दिशा में ही आगे बढ़ते हैं। हम विकास को तीव्र करते हैं, हम अपनी बुद्धि को तीव्र करते हैं, और इसी जीवन में, हम पूर्ण हो जाते हैं, मन और उसकी शक्तियों के अध्ययन के विज्ञान का अन्तिम लक्ष्य यही पूर्णता है। दूसरों की धन तथा अन्य वस्तुओं से सहायता करना, और अपने दैनिक जीवन में निर्विघ्न चलना सिखाना, केवल गौण बातें हैं।

इस अध्यात्म विज्ञान की उपादेयता की ओर ध्यानाकर्षित करते हुए, तथा मनुष्य की अनुपमता की वेदान्तिक दृष्टि प्रस्तुत करते हुए, अन्त में स्वामी विवेकानन्द ने कहा :

पूर्ण मानव का आविर्भाव करना और उसे युगों पर्यन्त, भौतिक जगत के हाथ

[1] कम्पलीट वर्क्स, भाग 2, 18–19।

में बिल्कुल एक खिलौने की तरह न खेलने देकर अपने आप में शक्तिमान करना ही तो इसका उद्देश्य है । यह विज्ञान चाहता है कि आप शक्तिशाली हों, इस काम को अपने हाथ में लें । उसे प्रकृति के हाथों में न छोड़ें, और इस क्षुद्र जीवन में ही पूर्णता प्राप्त करें । कैसा महान् विचार है !

मानव विकास की गत्यात्मकता

वेदान्त के अनुसार मानव विकास की दिशा यह है । मानव स्तर पर विकास की गत्यात्मकता की वास्तविक अभिव्यक्ति, व्यक्ति में दबे विश्व मानव को उन्मुक्त करने के संघर्ष में दिखाई देती है । इस आध्यात्मिक दिशा से विहीन, हर एक मानव क्रिया और संघर्ष, अपनी सीमितता के भ्रम जाल में उसे और गहरा फंसा देने का काम करते हैं; उसकी पाशविक वृत्तियों को उत्तेजित करते हैं; और उसके तनाव और दुःख बढ़ाते हैं । वेदान्त में ऐसा जीवन संसार का जीवन अर्थात् सांसारिकता कहलाता है । यह जीवन गतिरुद्ध जीवन है चाहे वह कितना ही हलचल-पूर्ण दीखता रहे । जिस प्रकार एक बहती नदी के लिए एक पोखर है, उसी प्रकार आध्यात्मिकता के गत्यात्मक जीवन के सम्बन्ध में यह संसार का गतिरुद्ध जीवन है । ऐसा आध्यात्मिक जीवन असांसारिक है, किन्तु वह संसार के बाहर नहीं । श्री रामकृष्ण कहते हैं संसार में रहो किन्तु संसार को अपने भीतर न आने दो; नाव पानी में तो होनी चाहिए, किन्तु पानी नाव में नहीं आना चाहिए । इस अहंकार का अतिक्रमण करने के लिए, मनुष्य द्वारा ब्रह्मज्ञान अर्थात् सार्वभौमिक बोध प्राप्त करने के लिए, संसार स्वयं ही इस संघर्ष का क्षेत्र (एक कुरुक्षेत्र) बन जाता है । केनोपनिषद् का यह महान् मन्त्र बताता है : 'इह चेद् अवेदीत् अथः सत्यं अस्ति'—मनुष्य यदि उसका साक्षात्कार यहीं कर लेता है, तो उसके लिए वही सच्चा जीवन है ।

मानव की अनुपमता

उसका यह केवल सच्चा जीवन ही नहीं है, यह सर्वोच्च मानव उत्कृष्टता और जीवन की सर्वोच्च परिपूर्णता भी है । वेदान्त यह भी बताता है कि यह प्रत्येक मानव का जन्म-सिद्ध अधिकार है तथा समस्त क्रम-विकास का पर्यवसान है । श्री मद्भागवत (XI.ix.28) में भी कहा गया है :

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ।।

भगवान ने अपनी आत्मशक्ति से विभिन्न विकास किये, जैसे वृक्ष, सर्प, पशु, पक्षी,

कीड़े, मकोड़े, मछली; किन्तु इनसे हृदय में असन्तुष्ट रहे, तब उन्होंने मानव रूप को रचा जो ब्रह्म को अनुभव करने की सामर्थ्य से सम्पन्न था; और वह अत्यन्त प्रसन्न हुए ।

इस प्रकार वेदान्त मनुष्य की अनुपमता का स्पष्टीकरण करता है । आधुनिक वैज्ञानिक की 'मानव अनुपमता' के दृष्टिकोण से यह बहुत भिन्न है । सर जूलियन हक्सले व्याख्या करते हैं :

> मनुष्य की वे अनुपम विशेषताएँ जिन्हें संकीर्ण जैविक न कहकर मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कहना अधिक अच्छा होगा, इन तीन विशेषताओं में से किसी एक या अन्य से उत्पन्न होती हैं । पहली है; अमूर्त और सामान्य विचार करने की उसकी क्षमता । दूसरी है, उसकी मानसिक प्रक्रियाओं का सापेक्षिक एकीकरण जो पशु मन और पशु व्यवहार की प्रक्रिया से विपरीत है । तीसरी है, सुव्यवस्थित परम्परा और संस्कृति पर आधारित अपनी निरन्तरता के साथ कुल, राष्ट्र, गुट और धर्म-संस्था जैसी सामाजिक इकाइयों का अस्तित्व ।[1]

वे आगे कहते हैं:

> वास्तव में कठिनाई यह है कि कोई ऐसी मानव प्रक्रियाएँ नहीं हैं जो अनुपम न हों । यहाँ तक कि खाना, सोना और प्रजनन जैसी मौलिक, जैविक विशेषताएँ भी मनुष्य ने अनेक प्रकार की विचित्र तड़क-भड़क और विशिष्टता से सजा दी हैं ।[2]

निःसन्देह ये विशेषताएँ अनुपम हैं, किन्तु वेदान्त कहता है कि यह उस अनुभव के क्षेत्र की हैं जिसे इन्द्रिय,अनुभव कहते हैं और जिसमें मनुष्यों और पशुओं की क्रियाएँ मौलिक रूप से एकरूपता लिये हुए हैं । यहाँ तक कि उसकी प्रगत वैचारिकता भी इन्द्रियबद्ध है । मनुष्य की इन्द्रियेतर सम्वेदन शक्तियों की अभिव्यक्ति से प्रकाशित उच्चतर विमाओं से हक्सले परिचित हैं, क्योंकि वे निम्नलिखित संकेत देते हैं :

> लगता है मनुष्य अपने को अभी तक जितना अनुपम मानता है, उससे भी अधिक अनुपमता अपने अन्दर लाने की क्षमता उसमें है ।[3]

दुर्भाग्यवश, हक्सले की दृष्टि केवल पाश्चात्य जगत तक ही सीमित है । भारत जैसे देश में मनुष्य इस 'सन्देह' के स्तर से बहुत आगे बढ़ गया है और व्यवस्थित रूप से उसने अपनी अनुपमता की इन उच्च विमाओं को ढूँढ़ा है और विकसित किया है ।

इस संसार रूपी नाटक में उपनिषद् मनुष्य को दो रूपों में देखता है : एक अभिनेता के और दूसरे दर्शक के । अपने को जानने की क्रिया में, वह अपनी सीमाओं

[1] जूलियन हक्सले, द यूनिकनेस ऑव मैन, 27 ।
[2] वही, 29 ।
[3] वही, 31 ।

को लाँघ जाता है। सत्य की प्राप्ति की कामना वह करता है और उसका साक्षात्कार करने की सामर्थ्य उसमें है। इसी में उसकी अनुपमता है। मनुष्य ही केवल संसार के रहस्य को सुलझाने की सोच सकता है। अहं बोध केवल उसमें ही है। उसकी बुद्धि और साहस का यह सर्वोच्च प्रमाण है कि वह स्वयं में स्थित इस रहस्यमय मूल्य को अपनी खोज का प्राथमिक विन्दु मानकर उसकी गहराई तक पैठने का प्रयत्न करता है, आत्मा को खोज कर इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि यही अनन्त, अमृतस्वरूप आत्मा ही प्राणियों की सच्ची प्रकृति को प्रकट करता है। मनुष्य की इसी अनुपमता को श्रीमद्भागवत (XI.xxix.22) में इस प्रकार कहा गया है :

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

बुद्धिमान की यह बुद्धिमत्ता है, और मनीषियों की मनीषा कि वह मुझे (ईश्वर को) जो सत्य स्वरूप और अमृत है, सत्य और मर्त्य (देह और अहं) द्वारा प्राप्त कर लेता है।

किन्तु वेदान्त मानव उत्कृष्टता की दोनों विमाओं को—एक वह जिसे उपनिषदों में बताया गया है और दूसरी वह जो आधुनिक विज्ञान द्वारा मान्य और प्रतिपादित है—विरोधी न मानकर पूरक मानता है। निम्न श्लोकों में यह स्पष्ट बताया गया है। ये श्रीमद्भागवत (XI.vii.19–21) से उद्धृत हैं :

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात्॥

संसार में मनुष्य प्रायः प्रकृति के तत्त्व का अनुसन्धान करने में कुशल होते हैं, (और उसके द्वारा) वह अपने आप को अपने द्वारा अशुभ स्रोतों से रक्षा कर लेते हैं।

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते॥

विशेषकर मनुष्य के लिए, उसका गुरु या मार्गदर्शक वास्तव में स्वयं वह ही है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष विषय ज्ञान तथा उस पर आधारित अनुमान की सहायता से अपना कल्याण प्राप्त करता है।

पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम्॥

जिन ज्ञानियों ने आध्यात्मिक जीवन की कला और विज्ञान पर अधिकार पा लिया है, वे स्वयं अपने मानव व्यक्तित्व के भीतर मेरा (विश्वात्मा का) जो (मनुष्य की सब सीमित मनोदैहिक) शक्तियों का अजस्र स्रोत है, स्पष्ट साक्षात्कार करते हैं।

वेदान्त मानता है कि मनुष्य की भोग-लिप्सा की यदि बात लें तो वह तो पशु में भी होती है। विशिष्टता तो केवल आध्यात्मिकता में है। केवल इसी आध्यात्मिकता की ललक उसे वास्तविक मनुष्य बनाती है। मनुष्य के आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए वेदान्त की हितैषणा का आभास देने के लिए श्रीमद्भागवत (XI.ix.29) का फिर उद्धरण करता हूँ :

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥

अनेक जन्मों के अन्त में प्राप्य यह दुर्लभ मानव देह, विनाशशील होते हुए भी, मनुष्य को इसी जीवन में परम आध्यात्मिक मुक्ति दिलाने में समर्थ है, (इसलिए) बुद्धिमान को चाहिए कि मरने से पहले आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, जो सर्वोच्च उत्कृष्टता है, प्राप्त करने के लिए उत्साहपूर्वक उद्यम करे । विषयगत सुख तो अन्य सब देहों में भी प्राप्त कर सकते हैं (इसलिए मानव देह को उसके लिए उत्सर्ग करना ठीक नहीं) ।

क्रम-विकास की योजना में अहं का स्थान

आधुनिक जैविक और भौतिक ज्ञान प्रकृति में शृंखलाबद्धता के क्रम को इंगित करता है । वस्तुएँ और घटनाएँ एक दूसरे से शृंखलाबद्ध हैं, पूर्णतया पृथक् और स्वपर्याप्त कुछ भी नहीं । प्रकृति की इस महान् योजना के सन्दर्भ में एक पृथक् स्वपर्याप्त 'अहं' में विश्वास एक भ्रान्ति है । वेदान्त, बौद्ध-धर्म और समस्त उन्नत आध्यात्मिक चिन्तन समेत आधुनिक जैविकी भी 'अहं' की अपर्याप्तता के इस सत्य की घोषणा करती है । आधुनिक जैविकी के लेखकों ने एक स्थान पर मनुष्य के 'अहं' की विवेचना भी की है :

> एकान्त में, निशा की निस्तब्धता में, और बीसियों बार विचार-मग्न अवसरों पर, सहसा हम सोचने लगते हैं कि क्या यह 'अहं' जो मेरे जीवन में स्पष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, सांसारिकता में इतना लिप्त है, क्या कभी ऐसा भी हो सकता है कि यह न रहे ? निःसन्देह इसके बिना जगत है ही कहाँ ! तथा फिर भी हम जब सो जाते हैं, यह सचेतन अहं तो प्रति रात्रि मर जाता है, और हम उन अवस्थाओं को ढूंढ़ नहीं सकते, जिनमें सोते समय हम होते हैं, परन्तु जागते ही हम पुनः इस अहं से परिपूर्ण हो जाते हैं ।....
>
> 'व्यक्तित्व' को ही लें । वह भी एक काम-चलाऊ भ्रम ही मालूम पड़ता है ।[1]

वे आगे कहते हैं :

> विश्व के बारे में मनुष्य का बोध जितना व्यापक होता जाता है, व्यक्तिगत जीवन तथा व्यक्तित्व का महत्त्व उसके जीवन में उतना ही निरर्थक-सा लगता जाता है ।....
>
> मानव जैसे-जैसे एक बृहत्तर तत्त्व में विलीन होता जाता है, वैसे-वैसे वह अपने अहं से बच निकलता है और इस तरह वह अवैयक्तिक अमृतत्व का पान कर सकता है । उस का व्यक्तित्व एक अधिक महान् व्यक्तित्व में घुल जाता है । धार्मिक अध्यात्मवाद का बहुत कुछ सार यही है, और यह एक मार्के की बात है कि व्यक्तित्व का जैविक विश्लेषण हमें अध्यात्मवादियों के इतना निकट ले जाता है । इस दूसरी विचार-पद्धति के अनुसार, व्यक्ति अपने को खोकर अपनी

[1] एल० जी० वेल्स, जूलियन हक्सले, जी० पी० वेल्स, द साइन्स ऑव लाइफ, 1368–69 ।

रक्षा करता है। किन्तु अध्यात्मवादी शिक्षण में वह ईश्वर में खो जाता है, तथा जीवन की वैज्ञानिक व्याख्या में वह राम, श्याम और दास रूपों में अपने को भूल जाता है, और फिर उसे अपने सच्चे मानव रूप का ज्ञान होता है। बौद्धों ने इसका विवेचन किया है। वे व्यक्तिगत जीवन को एक दु:खपूर्ण भ्रम बताते हैं, जिससे मनुष्य व्यक्तिगत तृष्णा पर विजय पाने से बच सकता है। पश्चिम का अध्यात्मवादी और पूर्व का ऋषि, आधुनिक विज्ञान और व्यावहारिक सदाचार की दैनिक रक्षा में इसी बौद्ध परम्परा का अनुमोदन देख सकते हैं। दोनों की शिक्षा यही है कि अहं तो एक साधन है। अन्ततोगत्वा उसे बृहत्तर अस्तित्व में विलीन होना होता है।

उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थों में इस बात का पहले से ही उल्लेख है। 2500 वर्ष हुए सारनाथ में, भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को अहं की असत्यता बतायी थी (विनयपिटक, महावग्ग, खण्डक 1.vi) :

रूपम् (भौतिक रूप) अनत्ता (अनात्म) है; वेदना अनत्ता है। सन्ना (प्रत्यक्ष-ज्ञान) अनन्ता है····संखारा (प्रवृत्ति) अनत्ता है, विन्नानम् (चेतना) अनत्ता है।

इसके उपरान्त भगवान बुद्ध तथा उनके शिष्यों का संवाद आरम्भ होता है। आत्मा की धारणा से, समस्त असत्य तत्त्वों को दूर करते हुए, भगवान् बुद्ध बोले :

—भिक्षुओ ! फिर तुम क्या सोचते हो ? यह भौतिक रूप नित्य (निच्चम) है या अनित्य (अनिच्चम) है ?

—भगवन् ! वह अनित्य है।

—किन्तु जो अनित्य है वह दु:ख (दुक्कम) है या सुख (सुखम्) ?

—भगवन् ! दु:ख है।

—तो जो अनित्य है, दु:ख है और स्वभाव से विकारी है (विपरिणाम धम्मम्) उसे ये समझना क्या ठीक है (कि यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरा आत्मा है) : 'एत मम एसोऽहं अस्मि ऐसो में अत्ता ?'

—भगवन् ! सचमुच नहीं।

—क्या वेदना नित्य है····क्या प्रत्यक्ष ज्ञान नित्य है ? क्या प्रवृत्ति नित्य है ? ····तो जो अनित्य है, दु:ख है, स्वभाव से विपरिणामी है, उसके बारे में क्या यह कहना ठीक है 'यह मैं हूँ, यह मेरा आत्मा है ?'

—भगवन् ! सचमुच नहीं।

—और इसलिए भिक्षुओ, भूत, भविष्य या वर्तमान का समस्त भौतिक रूप, अन्तर या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, ऊँचा या नीचा, दूर या निकट, सबको सम्यक् दृष्टि से देखना चाहिए, जैसा कि वह है (यथा भूतम्), इस प्रकार यह मेरा नहीं, मैं यह नहीं, यह मेरा आत्मा नहीं।····समस्त वेदना····स्थूल या सूक्ष्म, सब प्रत्यक्ष ज्ञान····स्थूल या सूक्ष्म, समस्त प्रवृत्ति····ऊँच या नीच, सब चेतना ····दूर या निकट, सम्यक् दृष्टि से देखना चाहिए जैसा वे सचमुच हैं। इस प्रकार, यह मेरा नहीं, मैं यह नहीं, यह मेरा आत्मा नहीं है।

हे भिक्षुओ ! उन्हें इस प्रकार समझते हुए शिक्षित आर्य शिष्य भौतिक रूप के प्रति उदासीन हो जाता है (निब्बिन्दति), वेदना के प्रति उदासीन हो जाता है, प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति उदासीन हो जाता है, चेतना के प्रति उदासीन हो जाता है। उदासीन होकर वह तृष्णा से मुक्त हो जाता है (विरज्जति), वैराग्य द्वारा वह मुक्त हो जाता है।

इस विषय पर भगवान् बुद्ध की शिक्षा यह है, और यही शिक्षा, उपनिषदों की भी है। और आज भी 'साइन्स ऑव लाइफ' के लेखक हमें बताते हैं कि मनुष्य को मिला हुआ व्यक्तित्व जो उसके अहं में केन्द्रित है, केवल निरन्तर विनश्वर तत्त्वों का एक समूह है, और वह उसका सच्चा आत्मा नहीं हो सकती जैसा-कि उन्होंने कहा—'अधिक से अधिक वह 'प्रकृति की' प्रणालियों में एक, बहुत कौशल-पूर्ण मूल्य का सुविधाजनक कामचलाऊ एक भ्रम है।' और इसका अतिक्रमण करना आवश्यक है। बस यहाँ जैविकी विज्ञान की सीमा आ जाती है और यहाँ से अध्यात्म विज्ञान की शुरुआत होती है।

'मैं कब मुक्त होऊँगा' इस प्रश्न के उत्तर में, श्री रामकृष्ण ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही—'जब मैं (अहं) मर जायेगा।'

मानव के सामने जैविकी अहं से मुक्ति के दो विकल्प प्रस्तुत करती है—या तो जाति में पूर्ण रूप से अपना विलयन, जिसके द्वारा उसे एक जैविकीय या आनुवंशिक अमृतत्व का अनुभव होता है, या मानवतावादी शिक्षा के द्वारा एक प्रकार के सर्वदेशीय बोध की प्राप्ति जिसके कारण वह अपने को 'राम, श्याम या दास मानना भूल जायेगा और अपने मनुष्य भाव को पहचानेगा।'

प्रकृति में विलयन के सिद्धान्त (जो भारतीय दर्शन में 'प्रकृतिलय' की धारणा है) दार्शनिक अपर्याप्तता को शंकराचार्य तथा अन्य भारतीय चिन्तकों ने विवेचन करके सिद्ध किया है। उन्होंने पूर्ण शून्यवाद की उस कुतर्कता के फन्दे को भी बता दिया है जो अहंभाव के असत्य को मान्यता देने वाले दर्शन के निकट है। इस भयावह कुतर्कता से बचने के लिए, और विश्वात्मा में अपनी सच्ची विमा प्राप्त करने के लिए, आधुनिक जैविकीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को मनुष्य के व्यक्तित्व भाव की खोज में और गहरा जाना चाहिए। न तो उसका प्रकृति में अनन्तकाल के लिए सो जाना और न उसका आत्महीन शून्यता में अपचयन और न एक सर्वदेशीय मानवता की प्राप्ति, मनुष्य को युक्ति-युक्त लालसाओं या आध्यात्मिक भूखों को मिटा सकने में समर्थ है। परिसीमित अहं चाहे अन्तिम सत्य न हो, किन्तु इसका भी अपना महत्त्व है क्योंकि वह किसी अनन्त और नित्य की प्राप्ति की ओर शुरुआत करने में तो पहली चीज है। यही अहं महत्त्वपूर्ण तथा काम-चलाऊ भ्रम भी है। किस अर्थ में यह महत्त्वपूर्ण है ?

जन्म होने से पहले शिशु माता के शरीर का एक अंश है। जन्म होते ही, एक पृथक् अस्तित्व सम्पन्न नवीन जीव-संस्थान बन जाता है। शिशु की शिक्षा में प्रथम चरण उसके व्यक्तित्व के बोध का, उसके अहं बोध का, विकास है। नवजात शिशु

परिवेश के जगत की वस्तुओं में अपने को एक वस्तु मानता है। जन्म के पश्चात् जो शिक्षा उसको मिलती है, उसका उद्देश्य उसको अपने व्यक्तित्व का बोध, अपने चारों ओर की वस्तुओं में अपनी अनुपमता का, उसको अपने आपको विषयी का न कि विषय वस्तु का, बोध देना है। शिशु का यह अस्पष्ट विषयी-बोध, वस्तुओं, सत्त्वों और व्यक्तियों द्वारा उसकी शक्ति और सामर्थ्य जैसे-जैसे बढ़ती है, विकसित होता जाता है। शिशु को शिक्षा देने का उद्देश्य उसके अहं भाव को दृढ़ करना है, वह अपने चारों ओर की शक्तियों और प्रभावों को, अपने में समेटता जाता है और एक अभिज्ञेय निश्चित पृथक् व्यक्ति बन जाता है।

अहं के महत्त्व का यह प्रथम चरण है; और लगभग इसके साथ ही दूसरा चरण आरम्भ होता है, जबकि पहले-पहल बाह्य प्रभाव के अधीन और बाद में स्वयं अपने सचेतन प्रयत्नों के अधीन, शिशु केवल विषय-वस्तुओं के अपने निकट सम्बन्ध का ज्ञान ही नहीं कर लेता, बल्कि अपने समान अन्य विषयियों का ज्ञान भी उसे हो जाता है, और उनसे विषयी-रूप में वैसा बर्ताव करना सीख लेता है, जैसा वह उनसे चाहता है। यह सामाजिक नीति-बोध है, एक सामाजिक वस्तु में, विषयी-वस्तु को पहचानना, जो शिशु में नैतिक व्यक्तित्व का विकास प्रस्तुत करता है, जिसमें पूर्णतया पृथक् व्यक्तित्व का भाव एक उस व्यक्तित्व को स्थान देता है, जिसके सीमान्त अपने परिवेश के समाज के मानसिक जगत के वातावरण में सदैव बढ़ते रहते हैं। पुराना सीमित व्यक्तित्व एक विस्तारशील व्यक्तित्व तथा एक विस्तारशील बोध और प्रेम को स्थान देकर, अतिक्रमित हो जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा प्रकृति का कौशल, जो अब मनुष्य के व्यक्तित्व द्वारा प्रकाशित होता है, बढ़ने लगता है, और जिसे वेदान्त ब्रह्म कहता है, और जो सबका नित्य, शुद्ध, बुद्ध आत्मा है, उस विश्वात्मा के आध्यात्मिक साक्षात्कार में पर्यावसान पाता है। यह प्रक्रिया और उसका अन्तिम परिणाम, केनोपनिषद् के दूसरे अध्याय के पाँचवे मन्त्र का विषय है, जिसकी हम अभी तक विवेचना कर रहे थे :

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती वनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

मनुष्य के लिए सच्चा जीवन

मन्त्र कहता है यहाँ और अभी, इह, उसकी अनुभूति पाना मनुष्य की शिक्षा का पर्यावसान है, मनुष्य के लिए यही सच्चा जीवन है। अहं के स्तर पर जीवन छायामात्र है। यदि मनुष्य इस स्तर पर अटक गया, यदि वह इसे केवल एक महत्त्वपूर्ण सुविधाजनक कामचलाऊ भ्रम मात्र नहीं मानता, और अपने सच्चे व्यक्तित्व के प्रकाशपूर्ण शिखरों पर चढ़ने से इनकार करता है तो 'महती विनष्टिः'—उसकी बड़ी भारी हानि होगी। मनुष्य के लिए इससे बड़ी और हानि क्या हो सकती है कि उसे

मायामय छाया जगत में रहने का दण्ड मिल जाये, जबकि उसके ठीक पीछे प्रकाश और जीवन का वह सच्चा लोक छिपा है, जिसका वह अधिकारी है ? उसके लिए इससे बड़ी और क्या हानि हो सकती है कि बेड़ियों में डालकर, उसे अन्धकारमय गुफा में रखा जाय, और पीछे से आती हुई रोशनी को, दीवार पर पड़ी छायाओं को पकड़ने का वह प्रयत्न करता रहे, जैसा प्लेटो के प्रसिद्ध अन्योक्ति दृष्टान्त में चित्रित है ? मन्त्र कहता है, नहीं, ऐसा कभी नहीं होने का। इस मन्त्र के भाव और भाषा में, मनुष्य के लिए गहरी चिन्ता और दया का स्पर्श मिलता है। मनुष्य को अपना सच्चा जीवन ढूँढ़ने में सहायता करने में उपनिषद् को गहरी चिन्ता है, अर्थात् सत्य के आलोक में जीवन जीने के लिए गहरी चिन्ता। और वह सत्य क्या है ?

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।

विश्वात्मा को अपना सच्चा स्वरूप अनुभव करके, जिसमें उसका अपना अहं केवल एक उभरी हुई नोक थी, वह प्रत्येक प्राणी के साथ अपना एकत्व अनुभव करता है; इसके द्वारा वह धीर हो जाता है अर्थात् वह प्राज्ञ जिसने आत्मा की उच्चतम उन्नति उपार्जन कर ली है; और—विकार तथा मरण के अधीन, अहं भाव और इन्द्रियों के प्राप्त जगत् से ऊपर उठकर तथा इस प्रकार उसे अन्तिम गन्तव्य न मानकर एक साधन-कौशल का अड्डा मात्र बनाकर वह अमृतत्व लाभ करता है—'अमृता भवन्ति'; वह सच्चे जीवन को पा लेता है। आत्मालोकित हो जाता है। अहं से भरी बनावटी जिन्दगी तो मनुष्य को आध्यात्मिकता से दूर करके मृत्यु के पास ले जाती है। बर्ट्रेण्ड रसेल की माँग का यही उत्तर है जिसमें वह ज्ञान को प्रज्ञा में विकसित चाहते हैं। रसेल ने ठीक ही कहा था : 'जब तक मनुष्य प्रज्ञा में उतनी वृद्धि नहीं करते, जितनी कि ज्ञान में, तब तक केवल ज्ञान की वृद्धि से दुःख की वृद्धि होगी।'

अमृतत्व

मन्त्र कहता है कि इन इन्द्रियों के अनुभव और अहं के इस क्षणिक जगत से ऊपर उठकर, मनुष्य अमृत हो जाता है। अमृतत्व का स्वरूप क्या है ? जैविकी एक आनुवंशिक अमृतत्व के बारे में कहती है; व्यक्तिगत जीव संस्थान मर जाते हैं, किन्तु जातीय जीव-संस्थान निरन्तर चलते रहते हैं। मनोविज्ञान आज जीवात्मा के अमृतत्व की सम्भावना की ओर मृत्यु उपरान्त जीवन्तता के अर्थ में इंगित करता है। अनेक सम्प्रदाय, अमृतत्व की धारणा को जीव की मृत्यु के उपरान्त, किसी उच्च लोक में निरन्तरता होने के रूप में मानते हैं। केवल वेदान्त है, जो इसी जीवन में अनुभव किये हुए एक अमृतत्व के बारे में कहता है; यह इसलिए सम्भव है कि मुक्ति, मनुष्य का स्वरूप है। जो कुछ सोपाधिक है वह मरणशील है। सोपाधिक होने का अर्थ देश, काल तथा निमित्त से अनुबन्धित होना है। निरुपाधिक होना, इन सब बन्धनों से मुक्त होना है। इसलिए निरुपाधिक होने के अर्थ में जो कुछ मुक्त है, वही अमृत है। यह

शरीर और अहं तथा परिवेश की सब प्राकृतिक वस्तुएँ भी सोपाधिक और मर्त्य हैं। अकेला आत्मा निरुपाधिक और मुक्त है, इसलिए अमृत है। यह आत्मा मनुष्य का सच्चा स्वरूप है। वेदान्त कहता है कि मनुष्य वस्तुतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव परमात्मन् है, और यह भी कहता है कि यह साक्षात्कार मानव-जीवन का लक्ष्य है। उपनिषद् के ऋषियों ने यह अनुभूति प्राप्त की और मानव के समक्ष रखी। कठोपनिषद् (VI.14) कहता है :

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

जब हृदय की सकल कामनाएँ जीत ली जाती हैं, यही मर्त्य मानव अमृत होता है और इसी जीवन में, ब्रह्म की अनुभूति कर लेता है, जो सबका आत्मा है।

बोधि प्राप्ति के उपरान्त भगवान् बुद्ध ने उस बोधि की विषय-वस्तु को, इस उक्ति में प्रकाशित किया कि उन्हें अमृतत्व प्राप्त हो गया। समस्त आध्यात्मिक धर्मों का सन्देश इसी अमृतत्व का सन्देश है। वेदान्त इतना और जोड़ देता है कि उसकी अनुभूति यहाँ और अब होनी चाहिए, जैसा कि केनोपनिषद् का यह मन्त्र कहता है : 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति' और जिसकी अनुभूति करके मनुष्य विषयों के क्षणिक संसार को पार करता है और अमृतत्व प्राप्त करता है : 'प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।' इस पंक्ति पर टिप्पणी करते हुए शंकराचार्य कहते हैं :

प्रेत्य, व्यावृत्य, ममाहंभावलक्षणात् अविद्यारूपात् अस्मात् लोकात् उपरम्य, सर्वात्मैक्यभावम् अद्वैतं आपन्नाः सन्तो, अमृता भवन्ति, ब्रह्मैव भवन्ति, इत्यर्थः।

प्रेत्य, मर कर अर्थात् ऊपर उठकर इस दुनिया को, जो आध्यात्मिक अंधता रूप है, त्यागकर, तथा जो मैं और मेरे भावों से परिलक्षित है, इस प्रकार सर्वात्म भाव अर्थात् अद्वैत भाव प्राप्त करके वे अमृत हो जाते हैं, अर्थात् उसके द्वारा ब्रह्म ही हो जाते हैं।

ब्रह्म विश्व का प्राण और आत्मा है। वेदान्त के इस मौलिक सत्य की इस उपनिषद् में एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा व्याख्या हम अगले अध्याय में करेंगे।

ग्यारह

केनोपनिषद् (क्रमशः)

पिछले अध्याय में केनोपनिषद् ने हमें भारतीय दार्शनिक विचार का यह गहन सिद्धान्त दिया कि सत्य केवल विश्वास या बौद्धिक सूत्रीकरण का विषय नहीं है। वह एक ऐसा तत्त्व है जिसकी अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को करनी चाहिए। यह वह बात है, जो सत्य को केवल एक दार्शनिक तत्त्व से आध्यात्मिक अनुभूति का विषय बना देती है। किसी मनुष्य का जीवन तब तक सफल न होगा जब तक वह स्वयं जीवन के भीतर के रहस्य की अनुभूति न कर ले। सत्य की अनुभूति का यह भाव समस्त भारतीय धार्मिक साहित्य में ओत-प्रोत है। धर्म एक अनुभूति का विषय है। जीवन का विकास मानसिक और शारीरिक दोनों स्तरों पर होता है। मानसिक वृद्धि के और विकास के उच्च स्तरों पर स्वयं जीवन सत्य की दीप्ति अपने ऊपर बिखरते हुए अनुभव करता है, और उस विकास के सर्वोच्च शिखर पर जीवन सत्य से ओत-प्रोत हो जाता है। यही तथ्य केनोपनिषद् ने हमें उस मन्त्र में बताया, जिसका अध्ययन हमने पिछले अध्याय में किया था। यह उसके दूसरे अध्याय का अन्तिम मन्त्र है :

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

जो उसको यहीं (इसी संसार में) प्राप्त कर लेता है, उसका जीवन सत्य है, जो उसका अनुभव नहीं कर लेता, उसकी महान् हानि है। प्रत्येक प्राणी में आत्मा को खोजकर बुद्धिमान लोग इस विषयगत संसार के लिए मर कर अमृत हो जाते हैं।

केनोपनिषद् ने अपने प्रारम्भिक मन्त्रों में, इस उक्ति के साथ आरम्भ किया था कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और अहं स्वपर्याप्त सत्ताएँ नहीं हैं, किन्तु वे अपने परे और अपने ऊपर एक परम सत्य की ओर संकेत करती हैं, ब्रह्म की ओर जो विश्वात्मा है, जिसकी शक्ति से वे सब जीवित हैं, और काम करती हैं। श्री रामकृष्ण के शब्दों में, अपने आप में वे केवल एक शून्य हैं, तथा इस शून्य का महत्त्व तभी है जब उसके पीछे की संख्या रख दी जाये। अनेक के पीछे, इस एक तत्त्व की व्याख्या इस उपनिषद्

के कई परवर्ती मन्त्रों में थी। उपनिषद् ने हमें इस सत्य के बारे में बोल दिया था कि सबका अन्तरतम होने के नाते यह एक आध्यात्मिक तत्त्व है और उसकी अनुभूति मंगल दृष्टि और सबके प्रति सहानुभूति के भाव की प्राप्ति की द्योतक है। मनुष्य का सच्चा आत्मा यह है। किन्तु अपनी अविद्या की दशा में, वह अपनी इन्द्रियों को, मन को, बुद्धि को या अहं को भूलवश अपना आत्मा मान लेता है। यह भूल सच्चे ज्ञान के उदय के साथ मिट जाती है।

एक मनोहारी कहानी

वेदान्त के इस मौलिक विचार को उपनिषद् के दो अन्तिम अध्यायों—तीन और चार—में एक मोहक आख्यान द्वारा विस्तार से बताया गया है। तीसरा अध्याय शुभ और अशुभ को शक्तियों के बीच, अन्धकार और प्रकाश की शक्तियों के बीच, असुरों और देवों के बीच एक पौराणिक संग्राम के उल्लेख से आरम्भ होता है :

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये
तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त,
त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयो
अस्माकमेवायं महिमेति।

कहा जाता है कि ब्रह्म ने देवों को विजय दिलाई। यद्यपि विजय ब्रह्म के कारण थी, देव उससे उल्लसित हुए और सोचने लगे, यह विजय हमारी ही है, यह महिमा हमारी ही है।

भारतीय पुराणों में, 'देव' प्रकाश की शक्तियों के द्योतक हैं, 'असुर' अन्धकार की शक्तियों के द्योतक हैं, वे एक दूसरे के नित्य शत्रु हैं। जब प्रकाश की शक्तियाँ चारों ओर से अपने शत्रुओं द्वारा दबाई जाती हैं, तो ज्योतियों की ज्योति ब्रह्म अन्धकार पर प्रकाश की विजय निश्चित करने के लिए हस्तक्षेप करते हैं।

इसके पहले हमने ईशोपनिषद् के तीसरे मन्त्र में यह पढ़ा था कि जो आत्म विद्या की अवहेलना करता है, और बाह्य विषयों का पीछा करता है वह असुरों के अन्धकारमय लोक में, अज्ञान और मोह के लोक में, गिरता है। यद्यपि देव प्रकाश की शक्तियों के द्योतक हैं फिर भी अज्ञान के पाश से मुक्त नहीं हैं। वे अपने पृथक् अहं को अपना सच्चा आत्मा मानते हैं, किन्तु यह मोह उन पर इतना भारी नहीं होता जितना कि असुरों पर और इसलिए थोड़ी सी बाहर से आध्यात्मिक सहायता मिलने पर उसका निवारण हो सकता है। देवताओं में अग्रणी अग्नि, वायु और इन्द्र ने जो उनके नेता थे विजय के मिथ्या अभिमान को सबसे अधिक अनुभव किया था। इस मन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं :

तत् आत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मनः ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफल-संयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेः जगतः स्थितिं चिकीर्षोः अयं जयो महिमा च

इत्यजानन्त: ते देवा ऐक्षन्त इक्षितवन्तो अग्न्यादिस्वरूपपरिच्छिन्नात्मकृतो, अस्माकमेवायं विजयो अस्माकमेवायं महिमा, अग्निवायविन्द्रत्वादि लक्षणो जयफलबूतो अस्माभिरनुभूयते, न अस्मत् प्रत्यगात्मभूत ईश्वरकृत इति ।
न जानते हुए कि यह विजय और महिमा, अपने ही सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान, प्रत्यगात्मा, ईश्वर की है, जो समस्त प्राणियों के कर्मों तथा उनके फलों के साथ संयोग कराते हैं, और संसार की मंगल कामना निश्चित करने की इच्छा से प्रेरित होते हैं; इन देवताओं ने सोचा कि यह विजय और महिमा हमारी ही है। हम अग्नि आदि स्वरूपों की उपाधि से बँधे हैं । यह विजय हमारी ही है, यह महिमा हमारी ही है; विजय का फल हम ही अनुभव करते हैं, हम जो अग्नि रूप की, वायु रूप की, इन्द्र रूप की उपाधियों से विशिष्ट हैं, आदि । उन्होंने सोचा वह ईश्वर जो हमारा प्रत्यगात्मा है, इस महिमा का स्रोत नहीं है ।

मनुष्य अपनी सुस्पष्ट परिसीमाओं के रहते भी अपनी शक्ति और महिमा को बहुत अधिक समझता है, किन्तु इन सबका अवसान होता है, मृत्यु में । यदि वह उस एक को जानता जो मनुष्य और प्रकृति की समस्त शक्ति, महिमा तथा उत्कृष्टता का स्रोत है, तो उसका जीवन कितना धन्य होता और वह मृत्यु से कितना भयरहित बन जाता । यदि सर्वभूतों का आत्मा, अमृत आत्मा के ज्ञान में मृत्यु पर विजय नहीं पाता, तो जीवन बहुत क्षुद्र है ।

गहन चिन्तनों के कणों में, मनुष्य अपने अन्तर में मिले आत्मा से एक अधिक बली शक्ति के अस्तित्व का अनुभव करता है । वह तब नम्र होना सीखता है और उस नम्रता में आत्मा का उन्नयन अनुभव करता है । श्री रामकृष्ण के शब्दों में, उसका 'कच्चा अहं' 'पक्का अहं' बन जाता है । तब मनुष्य ईश्वरदत्त महिमा को स्वप्राप्त महिमा कहने की आदत छोड़ देता है । वह उस पवित्र उक्ति के सत्य को अनुभव करता है : सब महिमा ईश्वर की है ।

आगामी ग्यारह मन्त्रों में यह बताया गया है कि मनुष्य आध्यात्मिक अन्धकार से प्रकाश में कैसे आये :

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ।
ब्रह्म यह (उनके घमण्ड को) जान गये, वह उनके प्रत्यक्ष आ गये । किन्तु वह लोग यह न जान सके—यह यक्ष कौन था ।

तीनों देवता चकरा गये और अन्तर में भयाकुल थे । यह जानने की उनकी तीव्र इच्छा हुई कि सामने वाला यह यक्ष है कौन ? इसलिए अपने में से एक को उनसे भेंट करने के लिए निर्णय किया । उन्होंने दौत्य के लिए अग्नि को चुना ।

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद् विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति ।
उन लोगों ने अग्नि से कहा—'हे जातवेद' यह मालूम करो कि यह यक्ष कौन है ? 'अच्छा'—अग्नि ने कहा । यह कहकर वह अपने दौत्य साधन पर चल पड़ा :

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा

वा अहमस्मीति ।
वह (अग्नि) जल्दी-जल्दी (यक्ष के) निकट गया । यक्ष ने पूछा—तुम कौन हो ? (अग्नि ने) उत्तर दिया—मैं अग्नि ही हूँ, मुझे (जातवेद) सर्वज्ञ भी कहते हैं ।

अग्नि के उत्तर की भाषा और भाव में, कच्चे अहं पर असाधारण जोर प्रत्यक्ष है । उसने न केवल अपना नाम ही बताया बल्कि आगन्तुक को अपने असाधारण व्यक्तित्व से प्रभावित करने के लिए अपनी उपाधि—जातवेद—भी बता दी, जिस नाम से वह जगत में विख्यात था ।

यक्ष के दूसरे प्रश्न से यह लगता है कि वह इससे प्रभावित नहीं हैं :

तस्मिँ स्त्वयि किं वीर्यमिति ? अपीदँ सर्वं देहयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ।
इतनी प्रसिद्धि वाले तुम हो—तुम्हारी शक्ति क्या है ?—(यक्ष ने) पूछा । 'मैं इस धरा पर जो कुछ है उसे भस्म कर सकता हूँ'—(अग्नि ने उत्तर दिया) ।

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ।
यक्ष ने उसके सामने एक तिनका रख दिया (और कहा) : 'इसे जला दो ।' अग्नि उसके पास तेजी से पहुँचा किन्तु वह उसे जला न सका । इसलिए वह वहाँ से चला आया (और देवताओं के पास लौट आया) और कहा : 'मैं पता नहीं लगा सका कि यक्ष कौन है ।'

अग्नि का सब मान चूर हो गया । किन्तु देवताओं ने इस आश्चर्यमय घटना के बारे में अनुसन्धान जारी रखने का निर्णय किया ।

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति ।
उन्होंने फिर वायु से कहा—'हे वायु ! कृपया मालूम करो कि यह यक्ष कौन है ।' वायु ने कहा—'बहुत अच्छा ।'

तदभ्यद्रवत् । तमभ्यवदत् कोऽसीति । वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ।
वायु तेजी से यक्ष के पास गया । यक्ष ने पूछा—'तुम कौन हो ।' वायु ने कहा—'मैं वायु हूँ, मुझे मातरिश्वा भी कहते हैं (वायुमण्डल में विचरने वाला) ।'

वायु भी स्वाभिमान और स्वमहत्त्व में अग्नि से पीछे नहीं रहा । किन्तु यक्ष उसकी शेखी से उतना ही अप्रभावित रहा ।

तस्मिँ स्त्वयि किं वीर्यमिति ? अपिदँ सर्वमाददीयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ।
यक्ष ने पूछा—'इतने प्रख्यात, आप में क्या शक्ति है ?' वायु ने उत्तर दिया—'पृथ्वी पर जो भी है, उसे मैं उड़ा कर फेंक सकता हूँ ।'

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ।
यक्ष ने उसके सामने एक तिनका रख दिया और कहा—'इसे उड़ा दो ।' वायु उसकी ओर तेजी से झपटा, किन्तु उसे वह उड़ा न सका । इसलिए वह भी वहाँ से लौट आया

और (वापस आकर देवताओं से) कहा, 'मैं नहीं जान सका कि यक्ष कौन है।'

अब देवताओं ने इस रहस्य को सुलझाने के लिए अपने नेता इन्द्र से कहने का निर्णय किया।

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति। तथेति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात् तिरोदधे।

तब देवताओं ने इन्द्र से कहा—'हे मघवन्! कृपया मालूम कीजिए, यह यक्ष कौन है।' 'हाँ' कहकर इन्द्र तेजी से यक्ष के पास गये। यक्ष, किन्तु उसकी दृष्टि से ओझल हो गये।

इन्द्र चकरा गया। किन्तु थोड़ी देर में उसकी उलझन आश्चर्य से परिणत हो गयी, जैसा कि इस अध्याय का अगला और अन्तिम मन्त्र (बारह) हमें बतायेगा :

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाँ हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद् यक्षमिति।

और उसी स्थान पर उसने (इन्द्र ने) एक स्त्री को सामने शोभायमान देखा। वह हिमवत् की कन्या उमा थी। उसने उनसे पूछा—'यह यक्ष कौन हो सकता है?'

ज्ञान की कृपा

तीनों देवता अपने सामान्य दौत्य साधन से पराजित हो गये, इनमें से इन्द्र को तो, अग्नि और वायु के समान, यक्ष के साथ संलाप करने का सौभाग्य भी नहीं मिला। किन्तु इस अनुभव द्वारा तीनों का आध्यात्मिक विरेचन हो गया, उनके स्वाभिमान और अहं की स्वपर्याप्ति को ठेस लगी। इसमें, वे एक जीवन्त ईश्वर की कृपा का पात्र बन गये, जो ईश्वर सब प्राणियों के हृदयों में आत्मा रूप से वास करता है। शंकराचार्य का दूसरे मन्त्र पर भाष्य, इस प्रकार ब्रह्म का आश्चर्यजनक यक्ष रूप में प्रकट होने का उद्देश्य स्पष्ट करता हैं :

सर्वेक्षितृ हि तत् सर्वभूतकरणप्रयोक्तृत्वात् देवानां च मिथ्याज्ञानम् उपलभ्य मैव असुरवत देवा मिथ्याभिमानात पराभवेयुः इति, तदनुकंपया, देवान् मिथ्याभिमानापनोदनेन अनुग्रहणीयाम् इति, तभ्यो देवेभ्यो ह किल अर्थाय प्रादुर्बभूव, स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेन अत्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण, देवानाम् इन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव।

सब विचारों का विचार करने वाला निश्चय ही ब्रह्म है। समस्त प्राणियों की इन्द्रियों और मन के पीछे वही शक्ति है। इसलिए वे देवताओं के मनों की भ्रमात्मक धारणा जान गये। उन्हें ये बात पसन्द नहीं आयी कि देवता भी, असुरों के समान, अपने सच्चे आतमा के अज्ञान से उत्पन्न मिथ्या अभिमान से दुःख उठावें, और इसलिए अज्ञान-जनित मिथ्या-अभिमान का अपसारण करके देवताओं को आशीर्वाद देने की इच्छा से, और उनका कल्याण साधन करने की अनुकम्पा और इच्छा से प्ररित होकर, ब्रह्म

अपनी योगमाया से निर्मित अद्भुत श्रद्धा उत्पन्न करने वाले रूप में, उनके सामने प्रकट हुए।

इन्द्र के पहुँचने पर यक्ष अन्तर्ध्यान हो गये, इन्द्र चकरा गये थे। यह जानने के लिए कि यह यक्ष कौन है, उनका मन चिन्तामग्न था। अध्यात्मवादी जिसे 'जीवात्मा की अन्ध रात्रि' कहते हैं उसे उसका अनुभव हो रहा था। किन्तु दूसरे देवताओं के समान इन्द्र ने हार नहीं मानी, और वापस नहीं आया। वह ज्ञान और बोधि की खोज करने में डटा रहा। इन्द्र के हृदय में सत्य के प्रति यह श्रद्धा देखकर, आशीर्वाद देने के लिए स्वयं अध्यात्म-विद्या, उमादेवी के रूप में, इन्द्र के सामने प्रकट हुईं। उमा 'बहु शोभामना' कहकर वर्णित हैं, अर्थात् विलक्षण रूप से देदीप्यमान। इस शब्द पर शंकराचार्य इस प्रकार व्याख्या करते हैं (3.12) :

सर्वेषाम् हि शोभमानानाम् शोभनतमा विद्या, तदा बहुशोभमाना इति विशेषणम् उपपन्नम् भवति।

विद्या, आध्यात्मिक विद्या, समस्त शोभामना वस्तुओं में सर्वाधिक शोभायमान है, इसलिए बहुशोभामना विशेषण यहाँ पर उपयुक्त है।

यह अध्यात्म विद्या उमा हेमवती रूप में अब इन्द्र को समस्त नश्वर वस्तुओं के पीछे नित्य सत्य वस्तु की शिक्षा देती है; और इस उपनिषद् के चौथे और अन्तिम अध्याय के अनुवर्ती प्रथम 6 मन्त्रों का विषय यही है :

सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति, ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति।

उमा ने कहा—'यह यक्ष ब्रह्म था। तुम्हें जो ये महिमा प्राप्त हुई, वास्तव में वह ब्रह्म की विजय के द्वारा हुई।'

इससे (उमा के शब्दों से) वह (इन्द्र) समझा कि यक्ष ब्रह्म था। इन्द्र ने ब्रह्म को देखा, और उमा के रूप में विद्या की कृपा से ब्रह्म के सत्य का साक्षात्कार किया। दूसरे दो देवताओं—अग्नि और वायु—ने भी यक्ष के रूप में ब्रह्म को देखा था, और वार्तालाप भी किया था किन्तु वे पहचान नहीं सके कि वह कौन था। बाद में उन्होंने अपने नेता इन्द्र के द्वारा उनको पहचाना।

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान्, यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।

इसलिए ये देवता—अग्नि, वायु और इन्द्र—दूसरे सब देवताओं से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे यक्ष के बहुत निकट पहुँच गये; पहले पहल उन्होंने ही उसे ब्रह्म जाना।

तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श, स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।

और इन्द्र इसलिए दूसरे देवताओं से श्रेष्ठ है कि वह यक्ष के निकटतम पहुँचा था। पहले-पहल उसने ही ब्रह्म को जाना।

महत् ब्रह्माण्ड और अणु ब्रह्माण्ड का एकत्व

भारतीय विचार, प्रकृति के महत् ब्रह्माण्ड तथा मानव शरीर के लघु ब्रह्माण्ड के बीच, प्रकृति के आधिभौतिक और आध्यात्मिक पहलुओं के बीच, एक घनिष्ठ एकत्व मानता है। इस प्रकार देवता न केवल वाह्य प्रकृति की पौराणिक कथा में कल्पित शक्तियों के परिचायक हैं, वल्कि मनुष्य देह के भीतर अन्तरंग संवेदन और चिन्तन शक्ति के भी। अपने आध्यात्मिक महत्त्व में यह कथा एक अन्योक्ति द्वारा मनुष्य को अपना अन्तरात्मा ईश्वर की ओर यात्रा का आलंकारिक चित्रण है। इन्द्र, अग्नि तथा वायु, प्रकृति की शक्तियों का मानवीकरण है। ये शक्तियाँ यद्यपि पृथक् और स्वपर्याप्त दिखाई देती हैं फिर भी एक अकेले ब्रह्माण्डीय शक्ति के विभिन्न रूप मात्र हैं। मानव शरीर में अग्नि वाणी की शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है, वायु मन का और इन्द्र जीव का।

प्रत्येक मनुष्य का जीवन शुभ और अशुभ शक्तियों के बीच आलोक और अन्धकार की शक्तियों के बीच युद्ध का क्षेत्र है। पहला जीव को मुक्ति की ओर ले जाता है, दूसरा बन्धन की ओर। महाराजा खेतड़ी के प्रश्न 'जीवन क्या है?' का स्वामी विवेकानन्द ने एक महत्त्वपूर्ण उत्तर दिया :

> उन परिस्थितियों में जबकि मानव को निरन्तर जीवन स्तर को नीचा ले जाने की प्रेरणा होती है वह किस प्रकार अपने आपको ऊपर रखकर दिखाता है इसी का नाम तो जोवन का विकास और उसका सही प्रकटन है।[1]

मानव के स्तर पर यह प्रकटन एक आध्यात्मिक प्रकटन है, जो मनुष्य की पशु-प्रकृति से, अवोध के अन्धकार से बाधित होता रहता है। मनुष्य उस समय तक मनुष्य है, जव तक वह इस पशु-स्वभाव को जीतने के लिए संघर्ष करता है और अन्धकार से आलोक में पहुँचना चाहता है। उसकी निम्न और उच्च प्रकृति के बीच यह संघर्ष उपनिषद् ने देव और असुरों के बीच, युद्ध रूप में, एक पौराणिक कथा में प्रस्तुत किया है, तथा उसका ब्रह्माण्डीय विस्तार कर दिया है। देवताओं को ब्रह्म का ज्ञान तभी हुआ जव उन्होंने असुरों पर विजय पा ली। यह उस सत्य की पुष्टि करता है कि आध्यात्मिक उद्यम और ज्ञान का भवन केवल नैतिक नीवों पर ही बनाया जा सकता है। स्वयं नैतिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन की प्रथम अभिव्यक्ति है।

असुरों पर देवों की विजय का कारण पृथक् सीमित ब्रह्माण्डीय शक्ति रूप में स्वयं देवता नहीं थे, किन्तु एक ब्रह्माण्ड व्यापक दिव्य शक्ति, ब्रह्म ही था, जो अन्तर्यामी रूप में उन सबको अनुप्राणित और पोषित करता है। ब्रह्म की शक्ति के बिना वे खोखले घोंघे हैं। आख्यान में देवताओं ने पृथक् व्यक्तिगत सत्ता रूप में, अपना थोथापन और ओछापन, तथा ब्रह्म रूप में अपनी पूर्णता और अनन्तता अनुभव की।

[1] द लाइफ ऑव स्वामी विवेकानन्द, वाइ हिज इस्टर्न एण्ड वैस्टर्न डिसाइपिल्स, 220।

संकेत और सुझाव

उपनिषद् ने अपने प्रथम और द्वितीय अध्याय में उपनिषदों के एक मौलिक सत्य के बारे में बताया था कि वाक् और विचार ब्रह्म को नहीं समझ सकते। आलंकारिक भाषा में इस आख्यान द्वारा यह सत्य समझाया गया है। समस्त ज्ञानेन्द्रियों का प्रतीक, वाणी का देवता—अग्नि; और मन या विचार का देवता—वायु, दोनों यक्ष को पहचानने में असफल रहे। इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चार से आठ मन्त्रों ने, ब्रह्म को इस रूप में प्रस्तुत किया था कि मन या वाणी जिसका प्रकाश नहीं कर सकते किन्तु जिसकी शक्ति और प्रेरणा से सब इन्द्रियाँ और मन प्रकाशित होते हैं, वह उनका अन्तरतम तत्त्व है और उनकी शक्ति का एकमात्र स्रोत है। जब वाक् और मन पराभूत होकर लौट आये, तो कथानक के इन्द्ररूप जीव ने बीड़ा उठाया किन्तु यक्ष उसके सामने से तिरोधान हो गया। वह घटना बड़ी अर्थपूर्ण है, क्योंकि जीव और ब्रह्म दो पृथक् तत्त्व नहीं हैं। ब्रह्म जीव का सत्य स्वरूप है, किन्तु जीव इस नित्य प्रस्तुत सत्य से अनभिज्ञ है। यह उद्बोधन, जीव को उसका हृदय शुद्ध होने पर, ज्ञान की कृपा से मिलता है; अहं का अतिक्रमण, हृदय-शुद्धि का द्योतक है। उसके केवल उपागम मात्र से यक्ष तिरोधान के क्षोभ द्वारा इन्द्र ने इसको प्राप्त किया। इससे उत्पन्न विनम्रता और विनय ने उसकी सत्य के ज्ञान की तीव्र कामना को अधिक तीव्र बना दिया और उसके शुद्ध मन में शीघ्र ही सत्य उदित हो गया। ईसा के शब्द, कि जिनका हृदय शुद्ध है वे धन्य हैं क्योंकि वे ईश्वर को देखेंगे, आध्यात्मिक सत्य से परिपूर्ण हैं। इस बात की अन्तर्कथा यह है कि इन्द्र के शुद्ध हृदय में ज्ञान का आविर्भाव हुआ। इसी बात को उमा हेमवती का इन्द्र को उपदेश के रूपक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। भारतीय विचार के अनुसार समस्त ज्ञान की मूर्ति, यह देवी है और विशेषतया ब्रह्म ज्ञान की : 'विद्याः समस्ताः तव देवि भेदाः'—ज्ञान के सब प्रकार, हे देवी ! आपके ही रूप हैं (देवी महात्म्य, 11.6)। भक्ति मार्ग में यह सत्य ईश्वर की कृपा का प्रतिनिधि है। केवल जिसके आधार से, न कि व्यक्ति के किसी उद्यम से, परम आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त होती है।

इस आख्यान को अलग छोड़कर उपनिषद् अब ब्रह्म के स्वरूप का संकेतों और सुझावों द्वारा निर्देश शुरू करता है, जो संक्षिप्त होने के कारण अत्यन्त दुर्बोध है :

तस्यैष आदेशो यदेतद विद्युतो व्यद्युतदा इतीन्नयमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ।

उसके (ब्रह्म के) विषय में यह शिक्षा है : वह विद्युत की एक चमक के समान है, वह चक्षु की एक झपक के समान है, इसका सम्बन्ध 'अधिदैवतम्' से है (ब्रह्माण्डीय अभिव्यक्ति रूप में उसका पहलू)।

ब्रह्म का प्रकृति में प्रकटन क्षणिक होता है, बाह्य प्रकृति का चिन्तन करने से, मनुष्य ब्रह्म की एक झलक मात्र पाता है, क्योंकि बाह्य प्रकृति अधिकांश मानव मन

को नाम और रूप ही तो प्रस्तुत करती है। कलात्मक या आध्यात्मिक अनुभव के गहरे क्षणों में, यह नाम और रूप की बात समाप्त हो जाती है तथा परस्थित नित्य आध्यात्मिक सत्य का सौन्दर्य प्रकट हो जाता है। किन्तु बहुधा यह झलक क्षणिक होती है। यह मन्त्र इनकी तुलना बिजली की चमक से या आँख की झपक से करता है। देवताओं के सामने ब्रह्म का प्रकटन भी बिजली की चमक के समान हुआ था। अब उपनिषद् अपने चतुर्थ अध्याय के पंचम मन्त्र में, अन्तर्जगत में उसकी अभिव्यक्ति का वर्णन करता है :

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णँ संकल्पः।

अब उसका अध्यात्म से सम्बन्धित रूप में वर्णन करते हैं (मनुष्य में अभिव्यक्त पहलू का), मन, मानो तीव्र गति से ब्रह्म की ओर चलता है, उसके मन द्वारा भी यह ब्रह्म याद किया जाता है और सदा निकट ही कल्पित होता है।

जैसा कि इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय के पांचवें मन्त्र ने हमें बताया, ब्रह्म का प्रकाश मन से नहीं होता बल्कि वस्तुओं का प्रकाश स्वयं मन ब्रह्म द्वारा करता है। यद्यपि मन, ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकता, मन को, ब्रह्म को जानने की निरन्तर इच्छा रहती है। प्रयास से बारम्बार बाधित होते रहने पर भी विचार, स्मृति और कल्पना द्वारा, मन सदैव ब्रह्म की ओर जाने का प्रयत्न करता है। मन की इन क्रियाओं के द्वारा ब्रह्म अपनी उपस्थिति, मनुष्य के अन्तरात्मा रूप में क्षणिक दीप्तियों में प्रकट करता है। कुछ पहले इस उपनिषद् के दूसरे अध्याय के चौथे मन्त्र ने हमें बताया था :

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।

वास्तव में अमृतत्व लाभ वह करता है जो मन और बोध के प्रत्येक स्पन्दन में और प्रत्येक स्पन्दन के द्वारा उसको अनुभव करता है।

इस पर शंकराचार्य अपनी व्याख्या देते हैं—ब्रह्म को जानने का दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है। 'ब्रह्म, मनःप्रत्यय समकालाभिव्यक्तिधर्मी है'—मन के, प्रत्येक प्रत्यय (विचार तरंग) के साथ अपने को प्रकट करना ब्रह्म का स्वभाव है। ऐसा प्रस्तुत मन्त्र पर शंकराचार्य अपनी व्याख्या में कहते हैं (IV.5)।

उपनिषद् (IV.6) अब ब्रह्म का उसके उपासनीय रूप में वर्णन करता है :

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनँ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति।

तद्वनं नाम से ब्रह्म विख्यात् है, इसलिए उनकी उपासना तदवनं रूप से करनी चाहिए जो ब्रह्म को इस प्रकार जानते हैं उनसे सब प्राणी प्रेम करते हैं।

शंकराचार्य 'तद्वनं' शब्द का अर्थ इस प्रकार समझाते हैं :

तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वात् वननीयम्, संभजनीयम्, अतः तद्वनं नाम प्रख्यातं ब्रह्म।

सब प्राणियों का अन्तरात्मा होने के कारण सर्वाधिक पूज्य और सर्वाधिक भजन योग्य है, इसलिए तद्वनं नाम से ब्रह्म प्रख्यात है।

समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा रूप में ब्रह्म की अनुभूति, मानव को व्यक्ति से विश्व-मानव में बदल देती है, वह ब्रह्म बन जाता है। तो फिर यह स्वाभाविक है कि उससे सब लोग वैसा ही प्रेम करते हैं जैसा कि ब्रह्म से।

आध्यात्मिकता का नैतिक आधार

गुरु और शिष्य के बीच अब एक संवाद आरम्भ होता है (IV.7) :

उपनिषदं भो ब्रहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।

भगवन् ! मुझे उपनिषद् पढ़ाइए। तुम्हें उपनिषद् पढ़ा दिया, निश्चय ही हमने ब्रह्म से सम्बन्धित उपनिषद् तुम्हें पढ़ा दिया है।

शिष्य यह जानना चाहता है कि उसे समस्त ब्रह्म ज्ञान दे दिया गया है या नहीं। तथा गुरु इस बात की पुष्टि करते हैं कि सब ज्ञान दे दिया गया है।

गुरु अब शिष्य को नैतिक मूल्यों का ज्ञान देते हैं, जो ब्रह्म दर्शन का अनिवार्य साधन है (IV.8) :

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वांगानि सत्यमायतनम्।

तप (मन और इन्द्रियों की एकाग्रता), दमः (आत्म संयम) और कर्म (समर्पित कर्म) उपनिषदों की प्रतिष्ठा है; सब वेद (विद्याएँ) उसके अंग हैं और सत्य उसका निकेतन।

आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में, उपनिषद् नैतिक चरित्र के महत्त्व पर बहुत बल देता है, क्योंकि आध्यात्मिकता पाण्डित्य मात्र नहीं है; स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में वह सत् (होना) और सम्भवन (हो जाना) है। वह बुद्धि है, विकास है और अनुभूति है। पाण्डित्य के असदृश, जब तक मनुष्य का मन नैतिक रूप से अशुद्ध है, आध्यात्मिक ज्ञान का उसमें उदय नहीं होता जैसा कि प्रश्नोपनिषद् इसके बारे में कहता है (I.16) :

'न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति'—जिनमें कुटिलता नहीं, झूठ नहीं, धोखा नहीं।

पशुवृत्तियों को जीतने के लिए संघर्ष, मन को इन्द्रियों की दासता से मुक्त करने का प्रयत्न, अन्तस्थ दिव्य आत्मा की ओर मोड़ने की सामर्थ्य, ये सब हैं, जो आध्यात्मिक जीवन को एक वीरोचित उद्यम बनाते हैं। अध्यात्म वीर इतिहास के सबसे महत्तम वीर हैं। क्रम-विकास की लम्बी प्रसव पीड़ा उनमें अपना पर्यवसान पाती है। मानव पशु मानव देव बन जाता है।

एक अनन्त व्यक्तित्व

अब उपनिषद् इस पर्यवसान की प्रशस्ति के साथ समापन करता है (IV.9) :

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ।

इस प्रकार जो उसका (ब्रह्म के ज्ञान का) साक्षात्कार करता है, वह पाप का नाश करता है और अनन्त, आनन्दमय, परम ब्रह्म में सुप्रतिष्ठित हो जाता है ।

जब निरन्तर उद्यम द्वारा उसकी पापवृत्तियाँ ध्वंस हो जाती हैं, तब मानव हृदय में आध्यात्मिक अनुभूति उदय होती है । महाभारत कहता है (12.197.8) :

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः,
अथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ।

जब मनुष्य के पास कर्म क्षीण हो जाते हैं तब आध्यात्मिक ज्ञान उदय होता है जैसे मनुष्य अपने को स्वच्छ दर्पण में देखता है, वैसे ही अपने अन्तर में आत्मा का अनुभव करता है ।

महाभारत के इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि उपनिषद् जिस पाप का उल्लेख करता है उसमें कट्टरपंथी ईसाइयत से सम्बन्धित जैसा कोई डरावना पक्ष नहीं है ।

एक प्रबुद्ध बुद्धि सनत्कुमार के अधीनत्व में नारद की आध्यात्मिक शिक्षा के वर्णन में छान्दोग्योपनिषद् (VII.xxvi.2)भी इस तथ्य को बड़े प्रभावशाली रूप से घोषित करता है :

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलम्भे, सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः ।।
तस्मैमृदितकशायाय तमसः पारम् दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः ।

जब इन्द्रियों द्वारा आहारित वासनाएँ शुद्ध होती हैं, तो मन शुद्ध हो जाता है; जब मन शुद्ध हो जाता है तो अपने दिव्य स्वरूप की स्मृति दृढ़ हो जाती है (निरन्तर बनी रहती है) जब यह स्मृति प्राप्त हो जाती है, तो मनुष्य सब बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं । इस प्रकार भगवान् सनत्कुमार ने नारद मुनि के सारे मानसिक मल का मर्दन करके, उन्हें आत्मज्योति प्रदान की ।

आज का मानव जीवन की तुच्छताओं के पाश में बँधा है । केनोपनिषद् का सन्देश उसे उस बन्धन से मुक्त कराकर उसमें एक नई आशा का संचार कर सकता है । केनोपनिषद् के अन्तिम मन्त्र में यही बात बतायी भी गई है । मनुष्य के लिए अनन्त व्यक्तित्व, सर्वोच्च उत्कर्ष और आनन्द की पूर्णता की प्राप्ति को ही ब्रह्म प्राप्ति की संज्ञा दी गई है । आज के युग में इससे अधिक आशाजनक सन्देश क्या होगा ?